CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant 2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2
2.2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष १ : अंक १-२

दिसंबर-मार्च १९७९-८०

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे

राजेन्द्र प्रसाद । ◻ आनन्दप्रकाश दीक्षित

पूना विश्वविद्यालय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

* पूना विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
* नूतनमालिका

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे * राजेन्द्र प्रसाद * आनंदप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

* धर्मेंद्र गोयल * रमाकान्त सिनारी * विजय भारद्वाज * शारदा जैन
* रमाकान्त त्रिपाठी * संगमलाल पांडे * आर्. बालसुब्रमणियन्
* अशोक केळकर * के. जे. शहा * नारायणशास्त्री द्रविड
* के. सच्चिदानंद मूर्ति * जी. सी. नायक * जी. एन् जोशी * मोहनलाल मेह[illegible]

कार्यकारी संपादक : * मो. प्र. मराठे * चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी); दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, गणेश खिंड, पूना–४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७ के पते पर भेजा जाए।

* अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
(४)	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–०० } एकराशि या दो
व्यक्तियों के लिए रु. २००–०० } समान प्रभागों में

राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

कुछ वर्ष पूर्व तक अमलनेर के तत्त्वज्ञान-मंदिर नामक प्रख्यात प्रतिष्ठान की ओर से 'द फिलासफिकल क्वार्टर्ली' और 'तत्त्वज्ञान मंदिर' नाम से क्रमशः अँग्रेज़ी तथा हिन्दी-मराठी के दो त्रैमासिक पत्र प्रकाशित किए जाते थे। 'द फिलासाफिकल क्वार्टर्ली' जुलाई १९६६ के बाद बंद हो गया। 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' की भी यही स्थिति रही। उक्त प्रतिष्ठान को पूना विश्वविद्यालय ने संवद्ध संस्था के रूप में स्वीकार कर लिया और १९७३ से पूना विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान विभाग ने अँग्रेज़ी त्रैमासिक को 'इंडियन फिलासाफिकल क्वार्टर्ली' नाम से पुनरुज्जीवित किया उसी प्रकार जुलाई १९७९ में 'परामर्श' नाम से मराठी त्रैमासिक का प्रकाशन प्रारंभ किया। हिन्दी में 'परामर्श' का यह पहला अंक अपने आपमें एक साहसिक कदम है।

हिंदी 'परामर्श' प्रकाशित करते समय जितनी प्रसन्नता है उसके साथ ही अपने साहस के प्रति संदेह का भी अनुभव हो रहा है। भारतीय भाषाओं में पूर्णतः चिन्तनपरक पत्रिकाएँ दीर्घायु नहीं होतीं। हिन्दी का अनुभव उससे अलग नहीं है लेकिन इस प्रकार की पत्रिका जिसमें दर्शन, कला एवं सामाजिक विज्ञान सम्बन्धी विशुद्ध चिन्तनपरक लेखन प्रकाशित किया जाए, की प्रबल आवश्यकता है और भारतीय भाषाओं के विकास की दृष्टि से यह और भी आवश्यक है। विविध देशी और विदेशी भाषाओं के गहन अध्ययन की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता परंतु अन्ततोगत्वा चिन्तन का मुक्त प्रवाह भारतीय भाषाओं में ही प्रवाहित होने की संभावना अधिक जान पड़ती है। भारतीय भाषा में विचार करने और लिखने से एक ओर भारतीय मानस जितनी मुक्तता का अनुभव करेगा उतने ही भाषा के विकास के रास्ते भी खुलते जाएँगे। हम आरंभिक अवरोधों, कठिनाइयों और बाधाओं के प्रति असावधान नहीं हैं। प्रस्तुत साहस का स्वागत और उसका भविष्य भारतीय भाषाओं के प्रेमियों के सक्रिय प्रोत्साहन पर निर्भर है। हम सभी जागरूक शिक्षित व्यक्तियों का आवाहन करते हैं कि वे 'परामर्श' को अपनी पत्रिका मानकर प्रकाशनार्थ सामग्री भी भेजें और सदस्य बनकर हमारे प्रयास को स्थिरता प्रदान करें।

'परामर्श' का यह अंक संयुक्तांक है।

मो. प्र. मराठे

चंद्रकांत बांदिवडेकर

कार्यकारी संपादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'परामर्श' (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण

फॉर्म 4 (नियम 8 देखिए)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७, भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता		डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७, भारतीय
५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७, भारतीय
६. उन व्यक्तियों। संस्थाओं के नाम व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों।	:	दर्शन और हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय पूना–४११ ००७, प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर, जि. जलगाँव (महाराष्ट्र)

मैं, सुरेन्द्र शिवदास बार्लिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

सुरेंद्र बार्लिंगे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव, जीवन और दर्शन

फिलहाल हम तीन बातों को मानकर चलते हैं :—

१. कोई दुनिया है, जिसकी सत्ता स्वाधिकृत है, मतलब, आप चाहें इसे जानते हों या नहीं, वह है ;

२. एक द्रष्टा है, जो 'तुम', 'वह', 'वे' और 'मैं' के रूप में जानकार या ज्ञाता है; और,

३. यह ज्ञाता यथार्थ या वास्तविकता को जान सकता है।

यह 'जानना' शब्द बड़ा गोलमाल है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इसका अर्थ समझना, अनुमान या तर्क करना, गिनना आदि है। किंतु यह और भी कुछ अर्थ दे सकता है, जैसे, चलना, बोलना, करना और खाना आदि। मामूली तौर से ऐसी व्यावहारिक क्रियाओं के लिए 'जानने' की कोई जरूरत नहीं पड़ती किंतु जानना एक ऐसा अनु-चिन्तन या प्रतिफलन है, जो सारी बातों या कामों के बाद होता ही है; कारण, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि चेतनता या अभिज्ञता के बिना कोई भी काम नहीं किया जा सकता। जानना, जानकार (ज्ञाता) की वह खूबी (योग्यता, गुण, क्षमता) है, जो हमें वस्तुओं की समझ करा पाती है, या जो उन सारी बातों या कामों को जता पाती है जो या तो ज्ञाता से परे हैं, अथवा जो उसकी अपनी पहचान (सत्ता या स्वता) के अंश ही हुआ करते हैं।

मानव लगातार और बराबर इस दुनिया में जीता है। याने, जब तक वह जीता रहता है, उसे कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है। वह चलता-फिरता है, खाता-पीता है, साँस लेता-छोड़ता है, चाहता है और इस दुनिया के बारे में सोचता है। इनमें से पहली कुछ बातें (चलना-फिरना आदि) क्रिया में शामिल हैं; चाहना इच्छा-शक्ति और अनुभव में आते हैं; और सोचना तो इन सबका प्रतिफलन है ही।

इन सारे कामों या घटनाओं में आदमी हमेशा ही कुछ महसूस करता है। यदि वह सौ साल जीता है तो उसका अनुभव भी 'सौसाला' होता है। लेकिन यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक तरह से बात को कम बतलाना हुआ। मानव की स्मृति और अभिज्ञता (चेतनता) विशिष्ट मानवीय गुण माने जाते हैं जिन्हें अलग से पहचाना तो जा सकता है किंतु उन्हें उससे अलगाया नहीं जा सकता। वे उसे अपने से परे और पिछली पीढ़ी के अनुभवों तक ले जाते हैं। किंतु इसी आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कोई सौ साल जीता है तो उसके अनुभवों की अवधि भी सौसाला ही है ('आदमी जीता है'– कहना भी गोल-मोल है यहाँ, कौन-सा जानकार भला सदा ही सौ वर्ष जीता है! हम आगे चलकर इसे स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।) अपनी जानकारी और यादों के ज़रिए मिली अभिज्ञता से, जो कि ज्यादातर और कमसे कम शुरू में तो उसके कुछ-न-कुछ करने से ही होती है, आदमी अपने अनुभवों को सहेजता रहता है। लेकिन ऐसा करने में वह कुछ चुनता है तो कुछ छोड़ता है। वह बहुत-सी बातें या काम याद रखता है तो बहुतेरी चीज़ें भूलता भी है। ये भूली हुई बातें (चीज़े या काम) यद्यपि उसके अनुभवांश ही रहते हैं, वह अपने संस्मृत अनुभवों की एक व्यवस्थित वर्णना (कलात्मक उपस्थापना) कर सकता है। ये अनुभव उसके (जाने या अनजाने ही) वरणक्षम होते हैं। यदि हम सौ या उससे भी ज्यादा सालों के अनुभवों की वर्णना करें तो हमें सौ साल नहीं लगते। चुनने की प्रक्रिया में यह अवधि कम हो जाती है या कर दी जाती है। सारा मानवीय ज्ञान-संचय अपनी प्रक्रिया में अनुभव की अवधि कम करता रहता है। 'अनुभव की अवधि कम करने' की तार्किक सीमा यह है कि इसे हम शून्य तक ले जा सकते हैं। इसी कारण सौ वर्ष का इतिहास भी बहुत कम समय में समझाया-बताया जा सकता है। इस प्रक्रिया के भी दो तत्त्व हैं:–

१. वरणक्षमता; और (२) अवधि का न्यूनीकरण। इसका मतलब यह हुआ कि ज्ञाता स्वानुचिन्तन में कुछ चीजें नकारता है, तो कुछ स्वीकारता है। जहाँ किसी का निषेध हो और किसी का वरण तो अनिवार्यतः वहाँ निर्णय की क्रिया भी होती है। वरण निर्णय है यद्यपि प्रत्येक निर्णय वरण नहीं होता है।

मानव यह सब क्यों करता है? मैं इस प्रश्न का कोई दार्शनिक उत्तर नहीं दे सकूंगा, किंतु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हर कार्यवाही में, चाहे वह मानवी हो या एकदम पाशवी, होता यही है। हमारी अपनी भाषा में ऐसे मुहावरे भी हैं: जैसे, 'विहंगम दृष्टिकोण' या 'सिंहावलोकन', जो ऐसे निर्णय का ही निर्देश किया करते हैं। कोई भी व्यक्ति पैदा होता है, तो कहिए, जिन्दगी भर ही चलता-फिरता रहता है। यों तो वह किसी-न-किसी अनजाने स्थान या लक्ष्य की ओर ही चलता रहता है लेकिन उसे अपने चले हुए स्थानों की आदत भी पड़ जाती है और उन्हींसे वह अपने आप ही अनजानी-अनदेखी जगहों का अन्दाज लगाता रहता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह यह पता भी लगाना चाहता है कि वह जो पथ चल चुका है वह सही था या नहीं। और अब वह जिस पथ पर है वह क्या उसे अपने 'गाँव' (गंतव्य-स्थल) तक पहुँचा देगा ?

अपने अनुभवों का हमारा अनुचिन्तन निर्णयात्मक ही नहीं निर्धारणात्मक भी होता है– अर्थात्, हम अनुभवों पर सोचते वक्त निर्णय ही नहीं, मूल्यांकन भी करते हैं। यह सब निषेध और वरण की प्रक्रिया में ही अन्तर्निहित होता है। इस तरह हम कुछ प्रतिमानों या आदर्शों का भी विकास करते जाते हैं। इतिहास, ठीक या गलत तरीके से, हमें आगे की कार्यवाहियों के लिए राह दिखाता है। हमारा मूल्यांकन निर्णय बन जाता है, वह हमारी सारी क्रियाओं का आलोचक बन जाता है और कभी-कभी इसी तरह हमारे कार्यों की ही नहीं प्रत्युत निर्णयों की भी आलोचना होती रहती है।

इस सारे प्रयत्न में मानव यह माने हुए है कि कोई दुनिया है। इस दुनिया का स्वभाव क्या है और वह स्वयं इससे कैसे संबंधित है, यह जानकारी भी धीरे-धीरे अहमियत लेती रहती है। वह जिस दुनिया को समझ पाता है, क्या वही असली है; अथवा, उसने इसमें या इसपर कुछ आरोपित किया है? यदि कुछ आरोपित है तो कितना है और कितना पहले से ही मौजूद है, यह और एक प्रश्न उठता है। इसी तरह हम मानते हैं कि कोई ज्ञाता है। यह ज्ञाता भी तो इस दुनिया का ही अंश ही है न? क्या हम विशुद्ध ज्ञाता को इस दुनिया अथवा (ज्ञात और ज्ञेय) से अलगा सकते हैं? यदि हाँ तो उस विशुद्ध ज्ञाता का स्वभाव क्या है? यह भी और एक प्रश्न है। और इसी प्रश्न पर कि ज्ञाता और जगत् का आपसी संबंध क्या है, यह निर्भर है।

II

हमने अभी यह जाना है कि आदमी लगातार महसूस करता रहता है और अपने अनुभवों का कुछ अंश संचित भी करता जाता है साधारणतया यह सोचा जाता है कि ये अनुभव उससे (या ज्ञाता से) समूचे बाहर हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है मानव अपने सारे प्रभाव सीधे बाहर से ही नहीं सहेजता, वह उन्हें लगातार (अनवरत) सँवारता-सुधारता भी है। या कहिए उसके द्वारा उनका रूप-परिवर्तन भी होता रहता है। क्यों कि वह सारतः कर्म या क्रिया से, या जिसे मार्क्सवादी चर्या (प्रेक्सिस) कहेंगे, सम्पर्कित रहता है। कर्म (क्रिया) तभी घटता है जब कुछ वस्तु (वह चीज़ जिसमें या जिस पर कुछ किया जाता है) में कुछ रूपभेद सैद्धान्तिक या व्यावहारिक तरीके से हुआ हो।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यथार्थवादियों ने इसका खयाल रखे बिना ही ज्ञाता और ज्ञेय (जगती) का संबन्ध किसी तरह का बाहरी माना था, जैसा कि जड़ परमाणुओं और वस्तुओं में होता है। दूसरी ओर आदर्शवादियों ने भी इस संबंध की गलत धारणा बनायी, और, सच पूछिए तो, इसे माना ही नहीं; क्यों कि वे जानने और जानी जानेवाली वस्तु में ही घोटाला करते रहे! मुझे लगता है कि जब हम जानने की बाबत सवाल उठाते हैं तो ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का संबंध बिलकुल मशीनी हो जाता है। यह वस्तुस्थिति का अति-साधारणीकरण है क्यों कि तथा-कथित ज्ञाता केवल ज्ञाता ही नहीं है, वह उसका आनंद लेनेवाला भी है। वह उस समग्र वस्तु-स्थिति का रूप-परिवर्तन करनेवाला, निर्माता, रचयिता, आलोचक और प्रशंसक सभी कुछ एक साथ है। ज्ञाता की ये विभिन्न भूमिकाएँ विशेषतया समझी जा सकती हैं किन्तु अलगाई नहीं जा सकतीं। मेरा खयाल है यह गौडपाद की देन है कि उन्होंने यह बताया कि ज्ञाता और ज्ञात का प्रतिरूप (मॉडेल) लेने के बजाय हमें 'भोक्ता और भोज्य' का प्रतिरूप लेना चाहिए। जीवन में कर्म या क्रिया (कार्यवाही, कारगुज़ारी) का तत्त्व नज़र-अंदाज़ करने का ही यह नतीजा होता है कि हम केवल जानने (ज्ञान) के सिद्धांत (थिअरी) की समस्याओं का ही सामना करते रहते हैं। यह एकदम भुला दिया जाता है कि ज्ञान का सिद्धांत तो समग्र वस्तु-स्थिति का ही एक तत्त्व है। इस दृष्टि से, वैज्ञानिक लोगों ने ठीक पथ पकड़ा था क्यों कि उनकी श्रेणी-योजना अनुभव की विश्लेषणा थी; वह सिर्फ जानने से ही संपर्कित न थी, जैसी कि लॉक की या देकार्त की थी।

यदि मानव या ज्ञाता की विभिन्न भूमिकाओं पर विचार किया जाय और यदि हम यह भी स्वीकारें कि मानव ज्ञाता होने के साथ ही कर्म या क्रिया का संस्थित या समीकृत संरूप (gestalt) भी है तो उसकी आलोचक और प्रशंसक वाली भूमिका भी स्पष्ट हो जाएगी। इस भूमिका की माँग ही यही है कि वह भली-भाँति यह पहचाने कि यहाँ जो कुछ उपलब्ध है वह उसे अनवरत सँवारता-सुधारता जाता है, उसमें परिवर्तन करता रहता है। वह लगातार अपनी पुरानी दुनिया पर एक नयी दुनिया की संरचना, सर्जना या आरोपण करता रहता है।

एक वैज्ञानिक का पार्ट एक साधारण आदमी की तरह अलग होता है। वह इस द्वि-पथीय दुनिया को एक-पथीय-वस्तुनिष्ठ सृष्टि समझ कर इसके अधिकांश नियमों को उघाड़ता या खोज लेता है। ये नियम एक अर्थ में, वस्तुनिष्ठ हैं किन्तु वह फ्रेम या चौखटा जिसमें ये बैठाये जाते हैं ज़रूरी तौर पर वस्तुनिष्ठ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं हैं। यह वही 'फ्रेम' है जिसे मानव स्वयं पूर्त्त करता, देता या बनाता है। यह कोई व्यक्तिनिष्ठ सन्दर्भ नहीं होता है, यह निर्व्यक्तिक और अन्तर्विषयिनिष्ठ होता है। किन्तु, निश्चित रूप से, जो वस्तुनिष्ठ है उसमें और, जो निर्व्यक्तिक एवं अन्तर्विषयिनिष्ठ है, उसमें अन्तर होता है। फिर, वैज्ञानिकों के बताये सारे नियम आवश्यक तौर पर वस्तुनिष्ठ ही नहीं होते। वे बहुत दूर तक, उनके अपने अनुभवों के नियम भी होते हैं। हम इस नुक्ते को भी आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। अभी तो इतना ही समझ लें कि जब कोई मानव या व्यक्ति इन नियमों को खोज लेता है तब वह वहीं नहीं रुक जाता। वह उन्हें व्यक्त करता है संहितावद्ध करता है, उन्हें संप्रेषित करने के लिए साधन-सामग्री बनाता है। ये सारी बातें या काम उस प्राकृतिक व्यापार या घटना (फिनामिनन) से संबंधित नहीं होते जिसे वह संभालता या प्रतिपादित करता है। वह यह सब अमूर्तन की प्रक्रिया के द्वारा अनुभव में से वह समय और स्थान (देश-काल) को सोख कर करता है।

III

यह भूमिका निबाहने में जरूरी है कि मानव सृष्टि प्रक्रिया का निष्क्रिय निरीक्षक ही न बना रहे, वास्तव में तो वह इस सृष्टि-प्रक्रिया का ही एक अंश होता है। उसकी विशेषता यही है कि वह धैर्य-पूरक इस प्रक्रिया की निरीक्षा-परीक्षा करता है और उसका आलोचक भी बन जाता है यद्यपि वह उसीका एक अंश है। क्योंकि वह इस सृष्टि-प्रक्रिया का एक उत्पाद (उपज) है और क्योंकि वह ब्रह्माण्डीय या विश्वकेन्द्रिक नियमों से ही नियंत्रित होता है। वह एक तटस्थ निरीक्षक बन सकता है क्योंकि उसमें वह अभिज्ञता आ जाती है, जो इसी प्रक्रिया में अपने को उपस्थित करती है। यह अभिज्ञता ही उसमें ऐसा तत्त्व है जो उसे स्वतः एक विश्व बना देती है और शेष सृष्टि को, जिसमें वह वस्तुतः शामिल है (उससे अधिकृत है), अपने से अलग और ही एक विश्व दिखाने लगती है। उसकी यह स्वतः (निजता) या आत्म-परिचित (अपनेपन की पहचान) और बाकी दुनिया (शेष सृष्टि) से अलगाव एक साथ जनमते हैं, उसमें जगह लेते हैं— ढेंकुल-तख्ते की तरह कभी जिसका एक सिरा (छोर) नीचे जाता है तो दूसरा ऊपर आ जाता है। किन्तु असल बात यह है कि यह बाकी दुनिया से अलगाव और अपनी परिचिति या स्वतः की सर्जना ज्ञाता (मानव) को ज्ञात या उपलब्ध (सृष्टि) से भिन्न बना देते हैं। इस प्रकार ज्ञान-मीमांसा या सब तरह ज्ञान के अध्ययन के लिए भी एक जगह बन जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक बार ऐसा होने पर मानव (ज्ञाता) प्रदत्त को भावनायुक्त या भावना-शून्य होकर ग्रहण करता है। यदि उसे अपना प्रेमपात्र चुनना है तो वह भावनायुक्त होता है, और ज्ञान की वस्तु चुननी है तो केवल बुद्धि से काम लेता है। अगर इस प्रक्रिया में वह यह भूल जाता है कि उसके समेत यह समूची सृष्टि क्रिया और गति की समाहारमयी संस्थिति (जेस्टाल्ट) है तो उससे सृष्टि की अविभाज्य गत्यात्मकता (गतिवादिता = यह कि मन या पदार्थ गति-शक्ति-क्रिया के उत्पाद हैं) छूट जाती है। हाँ, गत्यात्मकता के नष्ट होने पर वह मुख्य धारा से इस सृष्टि का एक खण्ड लेकर उसे ही आदि सृष्टि (मूल-जगत्) की तरह देखता-परखता है। वह इसे नियमों की निश्चित व्यवस्था मान लेता है या वह इसे व्यावहारिक कारणों से एक समग्र प्रक्रिया का अलग किया हुआ अंश समझ लेता है। यह जो पृथक्-करण का प्रयत्न है, वही ज्ञान का प्रारंभ है, यहाँ तक कि इसे विविध विज्ञानों का समारंभ भी कह सकते हैं। इस प्रक्रिया के संप्रेषण के लिए और भी आगे ले जाना पड़ता है। पुनः पृथक्करण करना पड़ता है। इस प्रक्रिया के विभिन्न अंशों को स्थिति-शील बिन्दु या रेखाएँ मानकर देखने की आवश्यकता होती है। इसका परिणाम होता है अमूर्तन में सम्बोधिकताकरण (कंसेप्चुअलाइज़ेशन) और सार्वभौमिकताकरण (युनिवर्सलाइज़ेशन) में ये तीनों भिन्न प्रक्रियाएँ हैं, अथवा इसकी चर्चा की गयी है। यहाँ केवल इतना समझ लें कि हम अनुभव करने और समझने की प्रक्रिया में समग्र प्रक्रिया के अंशों को अलग किया करते हैं। यही बात अभिव्यक्ति में भी होती है। यह सम्प्रेषण के लिए ज़रूरी है। पृथक्करण (संयोजन) की यह समग्र अंश विभाजन प्रक्रिया ही अलगाव करने और स्वता की सर्जना की प्रक्रिया है। तर्कशास्त्र में जिसे परिच्छिति का नियम कहते हैं वह पृथक्करण की उपज को दिया हुआ नाम है।

IV

दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के सारे प्रयत्न यथार्थ या वास्तविकता की खोज के लिए सदा ही चलते रहते हैं। किंतु वह यथार्थ या वास्तविकता, जिसे वे खोजना चाहते हैं या खोजते रहते हैं, या तो एक अमूर्त प्रत्यय (आइडिया) है, अथवा, अफलातूनी अर्थ में या किसी मनोवैज्ञानिक अर्थ में, प्रत्ययों का एक क्रम (व्यवस्था) है, या सृष्टि को एक ऐसी स्थितिशील वस्तु माना जाता है, जिसमें देश और काल कतई जुड़े नहीं हैं या कम-से-कम काल तो बिलकुल नहीं जुड़ा है। इस दूसरे विकल्प में हम यह सोचना शुरू कर देते हैं यह दुनिया सूक्ष्म अरूप अणुओं अथवा इनसे भी सूक्ष्मतर तत्त्वों से बनी है। हम यह भूल जाते हैं कि यदि कोई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वस्तु अंशों में विभाजित हो सकती है तो इसका यह मतलब नहीं होता कि ये अंश ही इसका वह अंतिम तत्त्व है जिससे यह समग्र वस्तु विनिर्मित या सुसंयोजित है। यहाँ शंकराचार्यकृत अणुवाद की आलोचना स्मरणीय है। यदि अणु-परमाणु ही सूक्ष्मतम परिकल्प्य कण हैं तो उनमें लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई नहीं हो सकतीं। ये केवल गोल ही हो सकते हैं (परिमंडल्य होने से); और इनके समाहार से विभिन्न आकारों की ठोस वस्तुएँ तो कभी नहीं बन सकतीं। किंतु शंकराचार्य को भी अणुवादियों की तरह यहाँ यह खयाल नहीं रहा कि इस विभाजन में वस्तुओं को नाप सकने वाले परिमापी का उपयोग नहीं हुआ बल्कि गणिती वस्तुओं को नापने वाले परिमापी का उपयोग हुआ है। गणित में जब कि असंख्य विभाज्यता संभव है, मूल तत्वों का अनन्त विभाजन संभव नहीं है।

और भी एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि दार्शनिक और वैज्ञानिक जिस सृष्टि की खोज में लगे हैं उससे देश और काल संसक्त हैं देशकाल उसके भाग हैं। अतः यह कहना एकदम ठीक है कि जगत् देश-काल में नहीं है। वे तो इसके अविभाज्य अवयव हैं। इससे कोई यह भी निष्कर्ष निकल सकता है कि जब हम जगत् को अंशों में बाँटते हैं तो इन अंशों के भी स्थानिक और कालिक गुण नहीं होते। किन्तु हम इस जिस यथार्थ या वास्तविकता को खोजते हैं वह तो जगत् को स्थान और समय सोखने पर ही मिलती है। सच पूछिए तो यथार्थवादी और विचार (आदर्श) वादी दोनों ही इस जगत् को ऐसे लेते हैं गोया कि यह (देश) और समय (काल) से व्यतिरिक्त है। यद्यपि एक यथार्यवादी देश और काल की यथार्थता स्वीकारता है किन्तु वास्तविकता के बारे में वह यही सोचता है कि जैसे वह जागतिक मूल तत्त्वों से बाहर की सत्ता है। इस प्रकार वह जिसका विश्लेषण करता है वह तो जगत् का मात्र दिखावटी चित्र होता है और चिन्तन की ऐसी पध्दति ही उसें अणुवाद या आदर्शवाद की ओर ले जाती है। ऐसी ही विचार-धारा ज्ञान-मीमांसा के वर्तमान रूप की ओर उन्मुख करती है, जिसमें विषय और विषयी (वस्तु और ज्ञाता) पृथक् माने जाते हैं, जिसमें वस्तु की सत्ता को या तो ज्ञाता (विषयी) से स्वतंत्र या मुक्त रूप में अवस्थित मानते हैं, अथवा, विषयी (ज्ञाता) को वस्तु या विषय से स्वतंत्र या अनधीन रूप में अवस्थित और वस्तु को केवल उसी का गुण (ज्ञान) मानते हैं। लेकिन तथ्य फिर भी यही है कि विषय और विषयी दोनों ही जगत् के उपादान या घटक हैं किन्तु व्यावहारिक सुविधा के लिए वे स्वतंत्र उपादान या घटक माने जाते हैं।

यह स्पष्टतः समझ लें कि हम यह नहीं कह रहे हैं कि वास्तविक जगत् की सत्ता मन से स्वतंत्र नहीं हैं। हमारा आशय सिर्फ इतना ही है कि वास्तविक जगत्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कुछ नुक्तों पर अभिज्ञता (चेतनता) समाविष्ट रहती है। यही अभिज्ञता ही है जिसके द्वारा हम, कहिए, अपनी मानसिकता से ज्ञाता और ज्ञात को अलग करते हैं। ज्ञात चाहे ज्ञान से कितना ही स्वतंत्र हो किन्तु वह अभिज्ञता के अधीन होता है क्योंकि वही तो एक समग्र रूप बनाती है। इस अभिज्ञता का स्पष्टतः एक-कालिक आयाम भी होता है। यदि इस कालिक आयाम को माना जाय तो यह कहना भी ठीक होगा कि, यद्यपि हम ज्ञाता से स्थान (देश) समय (काल) और पदार्थ को विशिष्टतया अलगा रहे हैं, स्थान, समय, पदार्थ और ज्ञाता—गण एक समग्र सत्ता बनाते हैं और इस तरह के समग्रों के कारण ही हम जगत् को गति-शक्ति शील मानते हैं। जगत् की दृष्टि से सोचें तो इस में हलचल मौजूद है और ज्ञाता के दृष्टिकोण से सोचें तो इस में कभी कर्म (क्रिया) भी रहता हैं। इस गति-शक्त्यात्मकता, मतलब, जगती के ऊपर ही मानव कभी जाने, तो कभी अनजाने, अपनी दुनिया रचता है और आप यह सोच सकते हैं या तो यह जगत् मानव-हीन है अथवा मानव जगद्विहीन है; और कभी हम इसी पर खड़े किए मानव-निर्मित विधानों के साथ भी सोच सकते हैं। किन्तु हम जगत् को इस प्रकार विभाजित भले ही कर लें, इस में मानव की संसक्ति का निषेध नहीं किया जा सकता। हाँ, इसका अनुपात अवश्य ही विविध हो सकता है। उदाहरणार्थ, आप पदार्थ-विज्ञान या भौतिकी के नियम खोज निकालने का प्रयत्न करें तो वास्तविक जगत् के वर्णन में कुछ संज्ञाओं, गणितिक फार्मूलों का उपयोग कर सकते हैं। अथवा, आप मानव की अभिज्ञता के नियमों को बतायें तो या एक मानव का दूसरे से और मानव का जगत् से संबंध निर्देश करें तो भी, मानव और सृष्टि का रिश्ता नकारा नहीं जा सकता। यह भी ध्यान रहे कि मानव का जगत् के विषय से सृष्टि या जगती नहीं है यद्यपि ऐसे अनुभव के बिना मानव (ज्ञाता) जगत् के बारे में सोच भी नहीं सकता। अनुभव मानव की अभिव्यक्ति या सम्प्रेषण योग्यता का अंश होता है। और अभिव्यक्ति या संप्रेषण भी मानव के अनुभव को सतत सँवारते-सुधारते हैं, उसमें रूप-भेद ला देते हैं। इस प्रकार अभिज्ञता के रूप में मानवीय संपृक्त कमोबेश विविध हो सकती है। यह अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति के साधनों को सामने ला देती हैं, और इन दोनों की कमोबेश रूप में व्यवस्था भी की जा सकती है। जहाँ मानवीय संसक्ति न्यूनतम होती है वहाँ आप भौतिक विज्ञानों को पाते हैं, जहाँ यह बहुत अधिक होती है वहाँ सामाजिक विज्ञानों को पाते हैं क्यों कि इनकी विषय-वस्तु सामाजिक यथार्थ होती है। यह मानव का प्रकृति के ऊपर विधान होता है जहाँ यह अभिव्यक्ति के साधनों से संबंधित होता है वहाँ आप भाषाएं, कलाएं और गणित प्राप्त करते हैं। कभी कभी इसमें भी 'अध्याय' हो जाता है जो अभिव्यक्ति का साधन है इसे साध्य मान लिया जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। ऐसा गणित में हो चुका है और तर्कशास्त्र में भी यही हुआ है। किन्तु इन सबसे मानव गति-शील यथार्थ या वास्तविकता का एक स्थिति-शील चित्र पाता है।

मानव का प्रत्येक अन्वेषण या तो उसके अनुभव का दिवास्वप्न (मनोविलास) है, अथवा, अपने अनुभव के बारे में उसका निर्णय। यदि यह दार्शनिक अन्वेषण हुआ तो अनुभव के बारे में निर्णय होता है। यह अनुभव मानव के वाहर की प्राकृतिक घटना हो तो वही प्राकृतिक विज्ञान के बारे में जिज्ञासा बन जाता है। किन्तु इन सभी बातों में अनुभव संहितावद्ध होता है और इस प्रकार स्थितिशील हो जाता है। यदि अनुभव उसका चित्र है जो हो चुका है तो यह एक गतिहीन चित्र है और इस चित्रण, या निर्णय में भी, काल तत्त्व संपूर्णतः तिरोहित हो जाता है। यदि हम अनुक्रम के विषय में सोच रहें हों तो भी काल को तो दूसरे रूप में ही इस्तेमाल करते हैं। प्रयत्न यही होता है कि समय निराकृत ही रहे। .....

समय-तत्त्व की वात फिर उठी क्यों कि मानव के लिए यह संभव नहीं होता की वह घटनाओं का युगवत् अवलोकन करे। वास्तव में इस अवलोकन प्रक्रिया में तो स्थान तत्त्व भी मिटा ही दिया जाता है। किन्तु घटनाओं का जब मानस प्रत्यक्ष किया जाता है तव वे अमूर्त नहीं होती, स्थान में विस्तारित ही देखी जाती हैं और तव हम घटनाओं की नहीं उनकी धारणाओं की उपलब्धि किसी काल्पनिक स्थान में करते हैं। किन्तु ये सार अन्वेषण वौद्धिक होते हैं और जैसा कि हम पहले वता चुके हैं ये इसलिए संभव हैं कि मानव में संचेतना की संचेतना रखने की अद्भुत योग्यता होती है। इस अन्वेषण में होता यह है कि संचेतना, जो वस्तुतः जगत् द्वारा ही अधिकृत है, अपनी एक पृथक निजता या व्यक्तित्व पा जाती है। संचेतना अथवा संचेतना की संचेतना एक निश्चित शरीर का कार्य होता है, किन्त यह उस शरीर का नियंत्रण भी शुरू कर देती है और एक आदिविश्व के रूप में कार्य करती है। तब एक जीवित शरीर केवल जीवित शरीर ही नहीं रहता और इससे हमें ज्ञाता की दो धारणाएँ प्राप्त होती हैं, एक तो उस समग्र सत्ता की जिसमें शरीर, संचेतना और संचेतना की संचेतना शामिल रहती है। जव कोई आदमी कार्य करता है, कहिए, चलता है तब यह समूची इकाई कार्य-शील होती है। और जब यह टूटती है तव इसकी कार्यपरकता भी नष्ट हो जाती है क्यों कि तव इस समग्र सत्ता के तत्त्व विसंयोजित हो जाते हैं। हमें ज्ञाता की दूसरी धारणा भी होती है और वह इसलिए उठती है कि वह संचेतना जो शरीर का नियंत्रण करती है ऐसा प्रभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डालती है कि मानो वह स्वयं शरीर से विशिष्ट, पृथक् और बहिर्गत है। इस प्रकार वह कार्यान्वित या कार्यरूप में परिणत हो जाती है। वह एक वस्तु का रूप धर लेती है, यद्यपि वह स्वयं कोई वस्तु नहीं है।

यह संचेतना तथा आत्म-संचेतना प्रत्येक विचारणा में पूर्वानुमित रहती है। यदि विचारणा को किसी प्रकार का सैद्धान्तिक कर्म मानें तो इसका शरीर से सीधा संपर्क नहीं होता, इसका सीधा संपर्क तो आत्म-संचेतना से होता है, और शरीर के साथ इसका संपर्क भुला दिया जाता है। इसी से ज्ञाता की दूसरी धारणा सामने आती है जिसे 'मैं' (अहम्) कहते हैं। इस 'मैं' का कोई दैहिक आधार नहीं होता, यह ज्ञान का पूर्वाभास-मात्र है और इसका आधार अभिज्ञता है। अब दो संभावनाएँ उभरती हैं। एक तो यह कि इस 'मैं' को सत्ता-रहित माना जाय क्यों कि यह भौतिक समग्रता से संबंधित नहीं होता। दूसरी यह कि 'मैं' सदा ही सत्ता-शील है क्योंकि ऐसा कोई अनुभव नहीं होता कि यह तिरोहित होता या मर सकता है. प्रत्येक 'मैं' आदि विश्व में ही स्थित होता है। और फिर यह 'मैं' मनोवैज्ञानिक 'मैं' नहीं होता क्यों कि प्रत्येक जीवित व्यक्ति में ऐसा एक 'मैं' होता है और इस 'मैं' तथा दूसरे 'मैं' ओं में सम्वाद या सम्प्रेषण की संभावना रहती है, यह दूसरे 'मैं' ही 'तुम' होते हैं। इसी को शंकराचार्य ने 'युष्मद्-अस्मद-प्रत्यय' कहा है। यह 'मैं ही सारे ज्ञान-मीमांसावाले अन्वेषणों का एक आवश्यक पूर्वपरिकल्पित होता है। यह स्वतः सर्जित होता है, और यही 'स्वयंभू' माना जाता है। इसे किसी अस्त्र-शस्त्र से मारा नहीं जा सकता, न किसी आग से जलाया जा सकता है ('नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'...) कारण यह है कि हम किसी भी धारणा को तो उसे बांट या विभाजित नहीं कर सकते हैं, न उसे जला सकते हैं! किन्तु इस 'मैं' की सर्जना-प्रक्रिया के दौरान जगत् अपने आप ही दो में 'बंट' जाता है; 'मैं' और 'जगत्', अथवा, विषय और विषयी और इस 'मैं' को जगत् का अंश भी नहीं माना जाता कभी।

किन्तु यह 'मैं' और आदि-विश्व (Proto-universe) जिसे एक शरीर की जरूरत पड़ती है प्रायः साधारण भाषा में घुलमिला दिये जाते हैं और 'मैं' शब्द को भौतिक समग्र सत्ता के लिए भी इस्तेमाल करते हैं। व्यवहार में भी 'मैं' भौतिक इकाई मानी जाती है और जब इसके बारे में सोचते हैं तो यह वह दूसरा 'मैं' है जिसे ज्ञान-मीमांसावाला पूर्वगृहीत कहा जा सकता है। इस व्यवस्थित अस्पष्टता में से ही ज्ञान-मीमांसावाली और धर्म से संबंधित समस्याएँ और विश्वास आदि उपजते हैं। फिर भी, जब हम अनुभव की बात करते हैं तो हम प्रायः एक अनेक-पद-ग्राही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रम्हांड या विश्व ही पूर्व परिकल्पित मानकर चलते हैं। मतलब, हमने जगत् को अंशों और आदि-विश्व में बाँट रखा है जिन्हें हम साथ ही साथ समझ सकते हैं। यहाँ 'विश्व में' और 'विश्व से वाहर' की समस्या नहीं उठती। हम इन विभिन्न अनुभवों की जाँच-पड़ताल करते हैं, उन्हें व्यवस्थित करते हैं और इस कार्य में हम यह भूल जाते हैं कि हमने भी उनके नाम रखने और विभिन्न रूपों को समझने के बहाने उनमें कुछ जोड दिया है। इन जिज्ञासाओं को हम वस्तुनिष्ठ समझते हैं, यद्यपि वे केवल अर्ध-वस्तुनिष्ठ ही होती हैं। क्योंकि वास्तव में तो ये सृष्टि के बारे में ही दृढ कथन या निर्णय होते हैं। पहले कह चुका हूँ कि ऐसी जिज्ञासाओं में अनेक-पद-ग्राहिता ही पूर्वपरिकल्पित होती है। यह इसलिए कि ज्ञाता और ज्ञात के विभाजन कार्य में ही विश्व-केन्द्रिक जगत् को विश्व-केन्द्रिक और मानवकेन्द्रिक जगतों में बाँट दिया जाता है और विश्व-केन्द्रिक जगत् मानव -केन्द्रिक जगतों से रंग दिया जाता है।

हमारा यह अनुभव दृढ़ कथनों के रूप में व्यक्त होता है। दृढ़ कथन भी हम पर पड़े प्रभाव होते हैं। किन्तु इन प्रभावों की घनता या गहराई विशुद्ध नाम रखने से लेकर नयी सर्जनाओं तक कुछ भी हो सकती है। यदि हम केवल नाम ही रखते हैं तो हम यह कहते हैं हमने तो एक खोज की है। यदि हमने कुछ नया सिरजा है तो यह एक आविष्कार, कविता या साहित्य कुछ भी हो सकता हैं। जैसा कि मैंने पहले कहा, केवल एक ही आदि-विश्व नहीं सिरजा जाता, कई आदि विश्व होते हैं जिनमें सम्वाद या सम्प्रेषण भी संभव होता है— उसी साधन से, जिसे हम भाषा कहते हैं। किन्तु इस संवाद या संप्रेषण के कार्यरूप में कई नियम और व्यवहार-रूप भी सामने आ जाते हैं, जो या तो उनके अपने बारे में होते हैं, अथवा विश्व-केन्द्रित जगत् से उनके संबंध के बारे में होते हैं। ऐसे अध्ययन प्रायः सामाजिक विज्ञानों का रूप धर लेते हैं। और ऐसे सामाजिक अध्ययनों में हमारा अभिप्राय केवल नाम रखना या वर्णन करना ही नहीं प्रत्युत कुछ नयी रचना, योजना बनाना और यहाँ तक पुराने या जर्जर को नष्ट करना भी होता है।

अब मैं दर्शन और उसके प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों से संबंध के बारे में और भी कुछ अधिक स्पष्ट करना चाहता हूँ। किन्तु ऐसा मैं अंशतः जो कुछ अभी तक कहा गया है उसके संक्षिप्तीकरण से करूँगा। दर्शन और विज्ञान दोनों ही मानव के अनुभव को व्यक्त करते हैं। अतः दोनों का उद्भव भी एक ही स्रोत से हुआ है, जिसे हम मानव और यथार्थ या वास्तविकता कहते हैं। इस प्रकार दोनों की, एक प्रकार से, निर्माणात्मक परिचिति (Formation Identity)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समान ही है। किन्तु दर्शन ·विज्ञान-रूप मानवीय अभिव्यक्ति पर निर्णय लेना अथवा मूल्यांकन करना है। इसीसे अपने आलोचनात्मक रूप में भी दर्शन विज्ञान से भिन्न है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि यह भेद केवल मात्रा का ही है क्यों कि वह आलोचनात्मक वृति विशेष जिसमें मूल्यांकन भी निहित होता है पूर्णतः अनुपस्थित नहीं होता, वैज्ञानिक सर्जनात्मकता में रहता है। अतः यद्यपि दर्शन और विज्ञान अपने आलोचकीय चरित्रों में भिन्न होते हैं फिर भी रुझान और दिशा का साम्य भी रखते हैं।

आइये, अब हम यह देखें कि ऐसा कैसे होता है। पहले, जैसा कि मैं ने पहले कहा है, ज्ञाता या कर्ता को दुनिया से अलग किया जाता है। निर्वासन या अलगाव जो भले ही मानसिक हो, संचेतना के पक्ष में स्वाभाविक-सा लगता है। सचेतना भेद से काम करती है और अन्ततः यह अपने में पृथग्भाव पैदा कर लेती है। यह अपने आपने अलगाव ही संचेतना को एक विचित्र प्रकार से विभक्त करता है। संचेतना को अब उसके दो पहलुओं में देखा जाता है : संचेतना और आत्म-संचेतना। इससे ज्ञाता और कर्ता को एक विशिष्ट स्वभाव मिल जाता है। फिर उसे दो तरीकों से देखते भी हैं: (१) एक तो वह जो सिर्फ देखता है (साक्षी चेता अंतरात्मा), करता कुछ नहीं है, बस, यह अपने को शरीर से अलगा लेता है (यद्यपि शरीर से पृथक् नहीं हो जाता।) और (२) दूसरा, वह जो सब कार्य करता है, जो शरीर से भी सहयोग चाहता है, कर्म या क्रिया के साधन के रूप में पहली तरह के ज्ञाता को शरीर भी अपने से अलग या बाहर लगता है, और क्यों कि शरीर का एक-दैशिक आयाम भी होता है, इसलिए देश को वह अपने से बाहर ही मानता है। किसी भी ज्ञान कर्म या क्रिया में स्वचेतन दृष्टा-ज्ञाता परमावश्यक है और चूंकि वह निर्दिष्ट रहता है इसलिए उसकी सत्ता भी मान ली जाती है। किन्तु यह लंगड़ा, निष्क्रिय ज्ञाता कुछ कर नहीं सकता। इसलिए हमें एक कर्ता या सक्रिय ज्ञाता के बारे में सोचना पड़ता है— ऐसा ज्ञाता जो स्थान और समय में हो और जिसका एक शरीर भी हो, और इसलिए जो सिर्फ ज्ञाता ही नहीं कार्यकर्ता भी हो। इस प्रकार का ज्ञाता जो ज्ञान-मीमांसावाला नहीं है, प्रत्येक मानवीय कर्म या क्रिया और सर्जना में आवश्यक होता है। यही ज्ञाता सारे वैज्ञानिक सृजनों के पीछे मौजूद होता है। दो तरह के ज्ञाताओं की यह द्वंद्व-रचना ही दार्शनिक चिंतन में गड़बड़ी पैदा करती है, विशेषतः यदि गलती से एक को दूसरा समझ लिया जाय। बहुत बार तो यह भूला ही दिया जाता है कि स्व-चेतन निष्क्रिय ज्ञाता की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, उसकी पहचान तो केवल सैद्धान्तिक ही होती है। वह सक्रिय ज्ञाता का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक अभेद्य अंश मात्र होता है और यह निष्क्रिय ज्ञाता केवल एक विविक्त विचारणा (एवस्ट्रैक्शन) है, अमूर्त इकाई है। सक्रिय ज्ञाता स्थान और समय में एक जीता-जागता विग्रह है निष्क्रिय ज्ञाता तो सक्रिय ज्ञाता और जानते रहने के द्वारा ही कुछ करता है, कर्ता बनता है। उसकी जो विविक्त विचारणा या अमूर्तीकरण होता है वह भी इसलिए कि ज्ञाता स्वयं ही एक विविक्त विचारणा है, मतलब उसका सारा संगठन अमूर्तता की योग्यता रखता है।

वास्तविक जगत् को विविक्त या अमूर्त करने की योग्यता से ही हमें गणित और तर्कशास्त्र मिले हैं यद्यपि मुझे ऐसा लगता है कि यह विविक्तीकरण भी एक से अधिक प्रकार का है। इसमें या तो स्थान और समय कतई मिटा दिये जाते हैं अथवा उनका स्वतंत्र अध्ययन किया जाता है या कभी उन्हें सिर्फ अंशतः ही मिटाया जाता है। गणित में स्थान (देश) और समय (काल) का स्वतंत्र अध्ययन किया जाता है। तर्कशास्त्र में जब हम सामान्य प्रस्थापनाएँ खोजते हैं तो स्थान और समय से वस्तुसत्ताएँ विविक्त या अमूर्त की जाती हैं। जब हम तथ्योपस्थापन करते हैं तब न तो स्थान-समय (देश-काल) और न वैयक्तिक सत्ताएँ कुछ भी विविक्त या अमूर्त नहीं की जातीं, केवल उनके विशिष्ट लक्षणों को ही विविक्त या अमूर्त करते हैं।

ज्ञाता एक जीवंत प्राणी या सत्त्व की तरह यह जानता है कि और भी जीते-जागते प्राणी या सत्त्व हैं और वह प्राणियों और वस्तुओं में अंतर भी कर पाता है। वह दूसरे प्राणियों से संवाद या संप्रेषण की स्थिति में होता है, उनसे सहयोग कर पाता है, उनसे झगड़ा करता है। आत्म-परिरक्षण को सहकारिता से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आत्म-परिरक्षण और सहकारिता की द्वंद्वात्मक पद्धति से दूसरे अध्ययन भी उदित होते हैं। उनमें चाहे प्राणियों या जीवंत सत्त्वों का अध्ययन हो या उन्हींके सम्बन्ध में वस्तुओं का अध्ययन हो। इसीसे विभिन्न विज्ञानों का उदय होता है जब उन्हें ठीक से व्यवस्थित कर लिया जाता है। किंतु एक प्रकार से सभी विज्ञान अनुभव के परिरक्षण हैं या ऐसे परिरक्षित अनुभवों के निर्णय हैं। यद्यपि अनुभव का परिरक्षण उसे दूसरों को संप्रेषित किए बिना भी संभव है, किंतु ऐसा परिरक्षण केवल निजी ही हो सकेगा और ज्ञाता के विनाश के साथ ही नष्ट हो जाएगा। दूसरी ओर निर्णय को संप्रेषित होनेके लिए किसी साधन की जरूरत पड़ती है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि यह कोई भाषिक रूप ही धारण करे किंतु इसे विवेक और अनुचिंतन के लिए और भी अधिक क्षमता चाहिए और वह प्रतीकों और प्रत्ययों (धारणाओं) के बिना संभव नहीं होती।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'इसका यह मतलब हुआ कि अलगाव की प्रक्रिया में ही संवाद या संप्रेषण के साधन सामने आते हैं। मानव प्रायः भाषा की और कभी-कभी कलात्मक कार्यवाही की मदद से ही संवाद या संप्रेषण कर पाता है। किंतु जो संप्रेषित होता है वह संप्रेषण शैली से भिन्न होता है। संप्रेषण-शैली दृढ़ कथन या सर्जन का रूप लेती है। और यहाँ फिर या तो यह हमारे अनुभव का वर्णन होता है, या व्यवस्थितीकरण, अथवा, हमारे अनुभव का यह रूपभेदीकरण और नयी संरचनाओं का सृजन बन जाता है। विभिन्न विज्ञान जो कमो-बेश व्यवस्थित होते हैं इसीसे उदित होते हैं और वे एक ऐसा सामाजिक यथार्थ सर्जित करते हैं जो या तो एक और दूसरे सक्रिय ज्ञाताओं का संबंध होता है अथवा ज्ञाता और उन प्राकृतिक घटनाओं (व्यापारों) का संबंध होता है, जो विश्वकेंद्रिक जगत् से अधिकृत हैं। यह ब्रह्मांडीय विश्वकेन्द्रिक जगत् वह है जिसे मानव समझे रहता है। यही वह जगत् है जिसे 'विज्ञान की दुनिया' कहते हैं इसीलिए सारे विज्ञान भी प्राकृतिक और सामाजिक इन दो श्रेणियों में विभाजित हैं। विज्ञान के इस स्वभाव को समझनेवाले विज्ञानों के अंतर्संबंध और मानव से उनके संबंध 'दर्शन का विषय' हैं। दर्शन एक निर्णय देता है, इन विज्ञानों का मूल्यांकन करता है और उसीके साथ अपना भी मूल्य आँकता है। दर्शन संप्रेषण की आलोचना है। यदि विज्ञान व्यवस्थित निर्णय हैं तो दर्शन ऐसे व्यवस्थित निर्णयों की भी प्रत्यालोचना प्रस्तुत करता है। दर्शन हमें यह बता देता है कि सामाजिक विज्ञानों में हम अपने कर्म या कार्य अथवा क्रिया के नियमों को मालूम करते हैं तो प्राकृतिक विज्ञानों में हम जागतिक स्पंदनों और गतियों के नियम अन्वेषित या उद्घाटित करते हैं।

सुरेंद्र बारलिंगे
(अनु. पृथ्वीनाथ शास्त्री)

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य का बृहत्तर संदर्भ

इधर कुछ वर्षों से विशेषीकरण के हानि लाभ उभर कर सामने आ रहे हैं। एक समय समाज के अग्रणियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे समाज के समस्त अंगों, प्रत्यंगों एवं उसके विविध ज्ञान संकायों का समग्र ज्ञान रखें। यह तब एक सीमा तक संभव भी था जब न समाज की इकाई विशेष बडी थी और न वह बाहरी परिदृश्यों के प्रति विशेष खुली थी। लेकिन १६ वीं सदी के बाद ज्ञान-विज्ञान के विस्फोट के निरंतर बढते जानेवाले दायरों से और विशेषकर बीसवीं सदी की तेज तकनीकी गति के फलस्वरूप ज्ञान को समग्र रूप में आत्मसात करना नितान्त असंभव हो गया है। प्लेटो और अरस्तू के पुनः पैदा होने का युग सदा के लिए समाप्त हो गया। अब तो ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं-प्रशाखाओं का जाल ही इतना घना हो गया है कि अपनी विशेषीकृत शाखा में आंशिक ऊँचाई प्राप्त करना भी बडी उपलब्धि मानी जा सकती है। किसी आदिम अवस्था में समाज में सबसे अधिक विद्वान उस व्यक्ति को माना जाता था जो बाईस तक गिनती कर सकता था जब कि अन्य लोग दस बारह से आगे नहीं बढ सकते थे। ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओं उपशाखाओं के परिप्रेक्ष्य में विशिष्ट शाखा के सबसे बड़े व्यक्ति की उपलब्धि का मूल्यांकन करते समय भी लगभग वही स्थिति हो जाती है जो आदिम समाज के उस विद्वान की हमें प्रतीत होती है। यह विकट अवस्था है कि एक ओर ज्ञान को समग्रता में आत्मसात करना असंभव हो जाए और विशेषीकृत शाखा को पूर्णतः जीतने का गर्व भी हमें न मिले। फिर विशेषीकृत शाखा की तहों में जाने पर भी यह महसूस होने लगता है कि रास्ता उतना सरल नहीं है बल्कि अन्य ज्ञान शाखाओं से टकराये बिना दूसरा रास्ता नहीं है। फिर समाज जीवन भी कुछ इस प्रकार जटिल होता जा रहा है कि यह विशेषज्ञता एक अनिवार्यता-सी प्रतीत होने लगी है। विशेषीकृत ज्ञान की विवशता या मोह में पडकर हमारी स्थिति उस निर्वासित या रोजन्दारी पर काम करनेवाले कारखाने के मजदूर की-सी हो गयी है जो निर्वाह के लिए जो भी क्षुद्र और खंडित काम करता है उससे उसके दिलोदिमाग का सच्चा लगाव नहीं रह पाता है, न वह जानता है कि वह क्या कर रहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फिलहाल साहित्य के विशेष सन्दर्भ में बात को समझने का प्रयास करेंगे। साहित्य का मूल द्रव्य जीवनानुभव, इस जीवनानुभव को रूपाकार में अभिव्यक्त करनेवाला व्यमिश्र माध्यम शब्द, अनुभव को शब्दों के माध्यम से रूपाकार देनेवाली रूपदक्ष कला और कलानुभव को सृजन प्रक्रिया के दौरान कलाकार से लेकर पाठक पर तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में समस्त समाज पर प्रभाव डालने की क्षमता का समग्र विचार साहित्य और साहित्येतर ज्ञानशाखाओं के सघन अंत:संबंधों की जटिल अवस्था का बोध कराता है। व्यक्ति और समाज के उलझे संबंधों पर चिन्तन करने को बाध्य करता हुआ यह समग्र विचार मानवीय इतिहास, सामाजिक राजनैतिक जीवन्त संदर्भ वैज्ञानिक गतिशीलता के कारण उत्पन्न तनाव, सभ्यता से उत्पन्न समस्याएँ सांस्कृतिक चेतना से होनेवाली टकराहट और जीवन के हर क्षण बदलनेवाले आकारों के साथ उलझे मनुष्य का आत्मतोष लिए चल रहा सफल-असफल प्रयास इत्यादि बातों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष (परंतु प्रभावपूर्ण) रूप में अपने दायरे में खींच लेता है और शब्द ब्रह्म की सर्वव्यापकता के आयाम की तीव्र प्रतीति कराता है।

साहित्य का इसके बृहत्तर संदर्भ में चिन्तन आज अनेक दृष्टियों से अत्यधिक प्रासंगिक हो गया है। वर्तमान सभ्यता और संस्कृति के वैश्विक संदर्भ में साहित्यानुभव या कलानुभव के स्थान एवं महत्व पर पुनर्विचार नये उत्साह से हो रहा है क्योंकि बढती तकनीकी एवं यांत्रिक गति के पैरों तले की मानवीय जीवन की जमीन खिसकती जा रही है और मनुष्य को जडीभूत होने से बचाने की क्षमता केवल उसके सौंदर्य बोध को सुरक्षित रखनेवाली, संवेदनशीलता को जीवित रखनेवाली और मनुष्य के अनन्यतम वैशिष्टच सृजनशीलता को अक्षुण्ण बनाये रखनेवाली कलानुभव की उत्तेजक ऊर्जा में ही संभव दीखता है। वैज्ञानिक प्रगति और सभ्यता को अपने ही गतिचक्र के भँवर में नि:शेष नहीं करना है और उन्हें मानवीय जीवन की सार्थकता में महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में उपयोजित करना है तो उन्हें जीवन की सार्थकता के महत्तम जीवन्त क्षण प्रदान करनेवाले कलानुभव का या सौंदर्यानुभव के महत्तम लक्ष्य का अनुवर्ती बनाना होगा। कुछ दृष्टान्त के रूप में इस बात को इस प्रकार भी रखा जा सकता है। विज्ञान मनुष्य को सुविधाएं देता है परंतु उन सुविधाओं के मूल आशय को सार्थक करने का कार्य सौंदर्यानुभव करता है। विज्ञान दूर ध्वनि एवं दूरदर्शन के माध्यम से मनुष्य की ऐंद्रिय क्षमता की आश्चर्यजनक परिवृद्धि कर सकता है परंतु क्या सुना जाए और क्या देखा जाए इसका विवेक भी और उसका साक्षात्कार भी साहित्यानुभव या कलानुभव ही कराता है। अगर कलानुभव को जीवन की सार्थकता का महत्वपूर्ण (कदाचित् एकमेव भी) आयाम माना जाये तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसकी सुरक्षा, समृद्धि और विकास की चिन्तना एक मानवीय दायित्व है जो हर विचारक को सजग करता है। अगर मध्ययुग में, भारतीय समाज में मोक्ष अन्तिम मूल्य था तो आज के युग में सौंदर्यानुभव मानवीय सार्थकता का चरम महत्वपूर्ण मूल्य है और अन्य सभी ज्ञान-शाखाएँ साधनमूल्य हैं।

सौंदर्यानुभव के प्रति इस आग्रह को एकान्तिक न माना जाये जब तक कि किसी अन्य जीवन मूल्य को हम स्थानापन्न नहीं कर सकते। आखिर सार्त्र के प्रथम उपन्यास 'ला नोशिए' का अस्तित्ववादी नायक रोकेन्तिन समस्त जीवन से ऊबकर अनुभव की चरम सीमा तक पहुँचकर फिर जीवन की सार्थकता के लिए सृजनकार्य में ही लग जाता है।

सौंदर्यमूल्य का यह आग्रह व्यक्तिपरक मानने का भी कोई कारण नहीं दिखता क्यों कि सौंदर्यमूल्य का एक जीवन मूल्य के रूप में चित्रण अन्ततोगत्वा समस्त मानवीय स्थिति के सन्दर्भ में ही विचार करने को बाध्य करता है। आज भी कला को गंभीर रूप में चित्रण का विषय बनानेवाला कोई भी विचारक शायद कला के आस्वाद को वैयक्तिक नहीं मानता बल्कि कला के पक्ष में ही उसके धरातल को व्यापक बनाना चाहता है और यह कला के क्षेत्र को व्यापकता देनेवाली बात मनुष्य की सामाजिक सांस्कृतिक विषमता और आर्थिक शोषण के सन्दर्भों पर विचार करने को चुनौती देती है। इस संदर्भ में एक बात विशेष महत्वपूर्ण लगती है और वह यह है कि कला और साहित्य का नितान्त व्यक्तिपरक रूप में चिन्तन करनेवाली कलावादी एवं तत्सम विचारधाराएँ अब साहित्य के क्षेत्र में चुक गयी हैं। तो उधर कला और साहित्य को राजनैतिक उठापटक का साधन समझनेवाले चिन्तक भी कुछ कला की सापेक्ष्य स्वायत्तता को स्वीकार करने लग गये हैं। वस्तुतः कला के समस्त अंगों का व्यापक विचार करने पर कला की सामाजिकता और कला की स्वायत्तता के बीच कोई मूलभूत द्वंद्व या व्यवधान मानने का कोई कारण नहीं दिखता। वस्तुतः सर्जन की मानवीय अस्तित्व में सार्थकता और उसकी स्वायत्तता की सजग आकांक्षा ही जागरुक व्यक्ति को कतिपय सामाजिक, सांस्कृतिक संदर्भ से संपृक्त करती है और उसमें एक ओर कला का क्रय वस्तु के रूप में उपयोग करनेवाली हर प्रकार की व्यवस्था के प्रति घृणा उत्पन्न करती है तो दूसरी ओर नित्य नूतन बदलाव की सतत उत्साही उत्तेजकता भी उत्पन्न करती है। एक अर्थ में कला की नवता के प्रति सजग और सृजनशील कलाकार क्रान्तिधर्मी ही होता है।

कहा जा चुका है कि साहित्य का मूल द्रव्य जीवनानुभव है और यह जीवना-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नुभव मनुष्य की विविध ज्ञानशाखाओं से ही नहीं, जीवन की प्रवहमान राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन्त अव्याहत धारा से साहित्य को संपृक्त करता है। ज्ञान विज्ञान की विविध शाखाओं को अपना-अपना क्षेत्र निश्चित करना एक सीमा तक संभव जान पडे परंतु साहित्यकार इस प्रकार की कोई सीमा स्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान मनुष्य की अनुभव संपदा से तटस्थ हो सकता है, विशुद्ध तार्किक स्वरूप धारण कर प्रगति कर सकता है, शायद मानवीय जीवन के गतिशील प्रवाह से किनारा काट कर गणित जैसे विज्ञान का विकास भी संभव हो सकता है परंतु साहित्यकार को यह सुविधा नहीं है। वैज्ञानिक या ज्ञान-शास्त्र का विशुद्ध बौद्धिक क्षेत्र साहित्यकार का अपना क्षेत्र नहीं है। साहित्यकार न विशुद्ध बौद्धिकता और कोरे तर्क को स्वीकार कर चल सकता है न उनका परित्याग कर भी उसका काम चल सकता है क्योंकि अनुभव के संगठन एवं उसकी अभिव्यक्ति में आंशिक रूप में बौद्धिकता और तर्क का अपना हिस्सा अवश्यमेव है। यद्यपि भावना और कल्पना का समन्वित क्षेत्र कलाकार की अपनी खास जमीन है फिर भी आज के जटिल होते जानेवाले जीवनानुभव में बुद्धि और तर्क का समावेश भी इस प्रकार हो गया है कि इनमें से किसी तत्त्व की ओर अनवधान जीवनानुभव के स्वरूप को दूषित करता है। यही कारण है कि साहित्यकार और साहित्य के आस्वादक के लिए कोई क्षेत्र एसा नहीं जो अपवर्जित रखा जा सकता है।

साहित्य और दर्शन

दर्शन की परिभाषा देने के पंडिताऊ प्रयास में न पड़ कर हम यहाँ एक विशेष अर्थ में ही दर्शन शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। मानव, मानवीय जीवन, मानव और मानवेतर सजीव निर्जीव प्रकृति इत्यादि के परस्पर संबंधों के मूलभूत पैटर्न खोजने का एवं समस्त सृष्टि और मानव के संबंधों में अधिकाधिक मूलभूत समस्याओं से टकराने का बौद्धिक प्रयास ही दर्शन है। यहाँ दर्शन की चिन्तन प्रणाली और साहित्य की मनन प्रणाली के अन्तर एवं साम्य का विवेचन अभीष्ट नहीं है परंतु यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि मानवीय जीवन के प्रत्यक्ष और जीवन्त व्यापार के माध्यम से कलाकार दार्शनिक की भाँति ही मूल उद्‌गम तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में सबसे बडा खतरा साहित्य के जीवन के ठोस व्यापार से खिसककर अमूर्त वैचारिकता में फंस जाने का होता है। यह प्रश्न आज भी विवाद्य है कि साहित्य में दर्शन का संबंध किस रूप में होता है। विचारकों का एक दल यह भी है जो मानता है कि साहित्य में दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि साहित्यकार दर्शन के जो भी विचार प्रस्तुत करता है वे दर्शन की दृष्टि से बासी और सतही होते हैं। इसके विपरीत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसे विचारकों का दल भी है जो कहता है कि साहित्यकार दार्शनिक हो तो साहित्य की मूल्यवत्ता बढ जाती है– गहराई और व्यापकता के आयाम जुड जाते हैं। यह मानना पडेगा कि साहित्य में दर्शन उस प्रकार समाविष्ट नहीं होता जिस प्रकार दर्शनशास्त्र में होता है। परंतु किसी भी गंभीर साहित्य सृजन में लेखक की जीवन दृष्टि एवं उसका जीवन विषयक चिन्तन निश्चय ही तथ्य को गरिमा और महत्ता देता है। यह जितना सही है कि साहित्य में विचारों, दृष्टिबिंदुओं या चिन्तन का विश्लेषण कभी साहित्यतेतर मूल्यों के भटकाव में ले जाता है उतना यह भी सही है कि साहित्येतर मूल्यों के भय से विचार को अनुभव के अन्तर्गत उसकी अपनी खास जगह न मिलने का खतरा भी रहता है जो अन्ततोगत्वा साहित्य को निर्बल कर देता है।

प्रश्न यह है कि दर्शन का साहित्य के आस्वादन में क्या स्थान है ? भारतीय साहित्य के संदर्भ में एक बात विशेष महत्त्वपूर्ण है, भारतीय साहित्य के संदर्भ में दर्शन घुलमिलकर प्रायः एकाकार हो गया है। वेदों और उपनिषदों से लेकर रामायण, महाभारत तथा अन्य रूपकों एवं महाकाव्यों में दर्शन का सुदृढ आधार साहित्य को मिला है। भक्ति काव्य की कल्पना भी दार्शनिक चिन्तन के अभाव में असंभव है। ऐसा भी नहीं है कि दर्शन ने काव्य को सदैव क्षीण ही बनाया है। मराठी के ग्रंथ ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव इसके प्रमाण हैं। तुलसी के "रामचरित मानस" में दर्शन रीढ़ की हड्डी की भाँति काव्य को आधार देता है। यह परंपरा छायावादी कवियों तक मिलती है– अज्ञेय तक उसके प्रमाण हैं। यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि दर्शन ने साहित्यकारों को जीवन की ओर गंभीर दृष्टि से देखने की क्षमता दी है। काव्य की परख निश्चय ही काव्यमूल्यों के आधार पर ही होगी परंतु काव्यान्तर्गत अनुभव की मूल्यवत्ता की नापतौल में दार्शनिक चिन्तन का विचार करना ही पडेगा। काव्य में दर्शन के समावेश की शर्त अवश्य यह होगी कि वह यहाँ तक काव्यात्म प्रभाव में साधनरूप बन गया है।

यहीं पर उस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि साहित्य और दर्शन के संबंधों का स्वरूप क्या होगा। साहित्यानुभव के आकलन में दर्शन के अध्ययन का योगदान महत्त्वपूर्ण है। और उस दर्शन की शक्तिमत्ता पर आंशिक रूप में ही क्यों न हो, काव्य का मूल्य निर्धारित किया जाएगा। हां, इसमें वैयक्तिक रुचि-अरुचि एवं विचारस्वातंत्र्य को काफी स्थान है। टी. एस्. इलियट ने अगर शेक्सपिअर की तुलना में दांते को अधिक महत्व दिया ताकि दांते का दर्शन अधिक स्वस्थ है तो उसकी दिशा गलत नहीं थी। क्योंकि दार्शनिकता का संबंध कहीं न कहीं नैतिकता से भी जुड जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य के आस्वादक को दर्शन जीवन विषयक एक बौद्धिक संतुलित दृष्टि प्रदान करता है, सृजनशील कलाकार की अन्तर्दृष्टि को सूक्ष्म एवं गहन बनाता है–जीवन की जटिलता एवं रहस्यमयता के रूप को प्रस्तुत कर देता है। कम से कम जीवन के प्रति एक खुलापन, प्रश्नांकित जिज्ञासावृत्ति अवश्य बढ़ा देता है। साहित्य में दर्शन का स्वागत इसी सीमा तक है जहाँ तक अमूर्त अवधारणा के रूप में न आ कर ठोस जीवन बिम्ब या जीवन प्रतीक के माध्यम से साहित्यक रूप ग्रहण करे और जीवनानुभव का वैशिष्ट्यपूर्ण रूप प्रकट करे। हिन्दी साहित्यिक के विशिष्ट संदर्भ में यह निश्चय ही कहा जा सकता है । उसकी प्राचीन परंपरा भारतीय दर्शनों की विविध शाखाओं पर पुष्ट हुई है जिसका समुचित रूप में आकलन करने के लिए उन दर्शनों का अध्ययन आवश्यक है। यह दार्शनिक वृत्ति हिंदी के आधुनिक रहस्यवादी काव्य का भी अंग बन गयी है । हिंदी साहित्य आधुनिक युग में गांधीवाद, समाजवाद, अरविन्दवाद इत्यादि दृष्टिकोणों से प्रभावित हुआ है। आधुनिकता की अवधारणा का भी साहित्य पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है और उसकी उत्साहपूर्ण चर्चा दर्शन के अध्ययन के अभाव में कभी हास्योत्पादक भी बन गयी है। इधर अस्तित्ववादी दृष्टिकोणों ने साहित्य को प्रभावित किया है और ऐसे साहित्य के मूल्यांकन के लिए अस्तित्ववादी दर्शन का परिप्रेक्ष्य अपेक्षित है। नियतिवाद, मानवीय नियति के अंतिम सत् एवं असत् रूप के प्रति लेखक की धारणा, मानवीय स्वातंत्र्य का स्वरूप, मनुष्य की भौतिकता को अतिक्रमित कर परा सत्ता के प्रति सहज उन्मुखता, ईश्वरीय उपस्थिति के प्रति उसकी आस्था, पाप, पुण्य, मुक्ति जैसी संकल्पनाओं के प्रति उसकी जिज्ञासा, मृत्युबोध, मानवीय जीवन की सार्थकता और निरर्थकता के प्रति उसका चिन्ताभाव, प्रकृति के प्रति उसका कौतूहल, तकनीकी युग की चुनौतियाँ और मानवीयता की सुरक्षा के हेतु उससे टकराने के विविध मार्ग, साहित्य को प्रभावित करनेवाली विभिन्न वैचारिक धाराएँ जैसे यथार्थवाद, आदर्शवाद, प्राकृतवाद, अतियथार्थवाद इत्यादि अनगिनत बातों के अध्ययन में दर्शन, साहित्य और साहित्य शास्त्र का उपकार कर सकता है।

साहित्य और दर्शन के परस्पर संबंध में दोनों के बीच की विभाजक रेखा को निरंतर मद्दे नज़र रखना और अपने अपने स्वायत्त क्षेत्र की सीमारक्षा का जागरूक प्रयास करना अत्यावश्यक है। अन्यथा एक विचित्र अवस्था में फँस जाने की संभावना है। और दुर्भाग्य से हिन्दी की समीक्षा और साहित्य भी इसका बुरी तरह से शिकार हो गया है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक स्व. रामचंद्र शुक्ल का निर्गुणिए कबीर के काव्य के मूल्यांकन में सांप्रदायिकता को तरजीह देना और प्रतिक्रिया स्वरूप कबीर के काव्यास्वाद के स्थान पर उसके दार्शनिक प्रभावों की प्रदीर्घ चर्चा या काव्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की उत्कृष्टता के स्थान पर सामाजिक सुधारवाद अनावश्यक सराहना साहित्य के स्वायत्त क्षेत्र को न पहचानने, पाने का ही परिणाम है। एक सीमा तक कामायनी के अध्ययन में निश्चय ही दार्शनिक चिन्तन महत्वपूर्ण सिद्ध होता है परंतु दर्शन और काव्यानुभव के परस्पर सहकार्य के स्थानपर प्रसाद की दार्शनिकता की नीरस और तारतम्य रहित चर्चा दर्शन और काव्य के संबंध को समुचित रूप में न देखने का ही परिणाम हैं। दर्शन और काव्य की पहचान के सही परिप्रेक्ष्यों को अनदेखा करने के परिणाम स्वरूप स्व. सुमित्रानंदन के अरविन्दीय काव्य में दर्शन काव्य का स्थानापन्न हो गया है। इसी कारण इधर मार्क्सवादी दर्शन की वैसाखी पर चलनेवाला साहित्य अवांछित विशेषताओं के लिए प्रशंसित होता है और गैर मार्क्सवादी साहित्य लांछित। उसी तरह अस्तित्ववादी छद्म मुद्राएं काव्य के नाम पर प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं।

दर्शन का अधकचरा ज्ञान दर्शन और साहित्य के परस्पर संबंधों की एवं उनके स्वायत्त क्षेत्रों की समुचित पहचान के अभाव ऐसी स्थितियाँ पैदा करता है। दर्शन का तारतम्यपूर्ण विवेक अगर इस स्थिति से साहित्य को उबारता है तो वह एक बहुत बड़ा योगदान माना जा सकता है।

साहित्य का संबंध मूल्यों से होता है और दर्शन का सही प्रयोजन मूल्य विषयक विवेक उत्पन्न करने में है।

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य और मनोविज्ञान के परस्पर संबंधों को लेकर विचारकों में काफी मतभेद है। विचारकों का यहाँ तक कहना है कि साहित्य के स्वरूप को समझने में एवं उसका मूल्यांकन करने में मनोविज्ञान का कोई ठोस उपयोग नहीं है और बहुत बार मनोविज्ञान साहित्य के मूल्यांकन में बाधक सिद्ध होता है। यह सही है कि पेशेवर मनोवैज्ञानिक साहित्य को अपने आप में महत्व न देकर मनोवैज्ञानिक चमत्कारों, गुत्थियों, ग्रंथियों एवं विक्षिप्त घटनाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने के साहित्येतर उद्देश से तथा कलाकार की मानसिकता के अध्ययन के प्रयोजन से साहित्य को साधन बनाकर प्रस्तुत करता है और साहित्यकता का असली मुद्दा खिसक जाता है। दूसरी ओर ऐसे उत्साही समीक्षकों की कमी नहीं जो मनोवैज्ञानिक जटिल स्थितियों को मनोविज्ञान के प्रकाश में सुलझाकर उसी भाष्य को साहित्यिक मर्म के रूप में देखते हैं। ये दोनों दृष्टियाँ अतिवादी हैं परंतु आंशिक रूप में मनोविज्ञान और साहित्य के संबंध को इन्कार नहीं किया जा सकता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य के अध्ययन में सृजन प्रेरणाओं एवं प्रक्रियाओं के अध्ययन का पर्याप्त महत्व है और इस दिशा में पाश्चात्य चिन्तकों ने मनोविज्ञान के प्रकाश में साहित्य निर्माण की शक्ति या स्वरूप को परखने की कोशिश की है। फिर भी निर्मिति प्रक्रिया की कुछ अवस्थाएँ या सोपान बताने के अतिरिक्त इसमें मनोवैज्ञानिकों को सफलता नहीं मिली है। मनन चिन्तन के परिश्रम को सार्थक करनेवाली प्रज्ञा या प्रतिभा की गूढता पर अभी वैज्ञानिक किरणों का प्रकाश नहीं पड़ सका है। विज्ञान की तेज गतिविधि देखते हुए यह असंभव तो नहीं माना जा सकता और तब शायद समस्त कला–दर्शन पर नये सिरे से विचार करना पड़ेगा। परंतु इसमें संदेह नहीं कि साहित्य प्रेमियों का एवं अध्येताओं का साक्षात संबंध प्रत्यक्ष रचना से है जो शब्दों के माध्यम से मौखिक अथवा लिखित रूप में एक सार्वजनीन वस्तु के रूप में सामने आती हैं। अर्थात यहाँ हम ज़ोर देकर यह भी कहना चाहते हैं कि आस्वादक का मतलब आस्वाद्य वस्तु से है न कि उस जटिल निर्मिति प्रक्रिया से और न उन जटिलतम परिस्थितियों से भी जिनके बीच से वस्तु के रूप में प्रस्तुत होते समय कलानुभव को गुजरना पड़ता है। हाँ, इन सबका अध्ययन कला के स्तर एवं एक मूल्यवता के परिमाण का कुछ स्पष्टीकरण दे सकता है परंतु कलात्मक अनुभव की गुणवत्ता के मूल्यांकन में सहायक नहीं होगा।

कलाकार की सृजन प्रेरणा के संबंध में फ्राइड, एडलर और युंग की विभिन्न मान्यताओं का परिचय प्रस्तुत करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है परंतु इसमें सन्देह नहीं कि ये मान्यताएँ सृजन प्रेरणाओं का आंशिक स्पष्टीकरण भले देती हों, पूरा समाधान नहीं प्रदान कर सकतीं। कभी इन प्रेरणाओं का रचना के साथ संबंध जोड़कर दिखाने को ही समीक्षकों ने साहित्य मीमांसा की इतिकर्तव्यता समझ रखी है।

साहित्य रचना के साथ रचयिता के चरित्र का संबंध जोड़ने की जो प्रणाली दृढ होती जा रही थी उसपर मनोविज्ञान ने अवश्य सशक्त रूप में प्रश्नचिन्ह लगाया है– यह सिद्ध करके कि रचयिता के व्यावहारिक चरित्र और रचनारत व्यक्तित्व में बहुत बड़ा अन्तर होता है। खासकर सृजनशील व्यक्तित्व में अवचेतन मन का जो अबूझ हाथ रहता है उसकी आकस्मिकता, अप्रत्याशितता और विचित्रता का निर्देश करके। लेकिन इस दिशा की सीमाएँ रचना के मूल्यांकन में ध्यान में रखना आवश्यक है। एक भ्रम यह भी पैदा होता है कि जो भी कुछ अवचेतन से विस्फोटित अपने आप में रचित घटित होता है वह सब मूल्यवान और महत्वपूर्ण है उससे जो कि 'रचा' जाता है और चेतन मन से अनुशासित होकर प्रस्तुत होता है। लेखक की पजेस्ड (Possesied) अवस्था में लिखने की विवशतको।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गौरवान्वित करने की रोमांटिक प्रवृत्ति को बढ़ाने में अगर मनोवैज्ञानिक प्रणालियों ने उत्साह दिलाया था तो फिर चेतन अचेचन के संघर्ष को अधिक उजागर कर उस मोह से बाहर आने में भी सहायता मनोविज्ञान ने ही की है।

रचना में विभिन्न मनोवैज्ञानिक जटिल घटनाओं, मानसिक स्थितियों और व्यक्ति चरित्रों के व्यवहार की अबूझ पहेलियों को एक सीमा तक स्पष्ट करने का कार्य मनोविज्ञान ने अवश्य किया है। सामान्यतः जिन लेखकों पर नैतिक दृष्टि से अवैधता या अश्लीलता का आरोप किया गया उनके कृतित्व को मर्नोवैज्ञानिक प्रकाश में देखने से इन आरोपों की व्यर्थता सिद्ध हुई है। जैनेन्द्र और अज्ञेय के साहित्य की कतिपय जटिलताओं का समाधान मनोविज्ञान ने किया है और इस से समीक्षा व्यापार में कुछ समझदारी और उदारता अवश्य उत्पन्न हुई है। शायद नीति के व्यावहारिक सतही रूपों और रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोही संवेदनशील साहित्यकार का जो अब स्वागत ही किया जाता है और कुल सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण में सहिष्णुता उत्पन्न हुई है, उसके मूल में मनोविज्ञान का जबर्दस्त हिस्सा है। आज साहित्य के क्षेत्र में लेखकीय स्वतंत्रता का बहुत अधिक विकास हुआ है। सेंसार या इनहिबिशन के विरोध में बौद्धिक वातावरण बन गया है उसका आंशिक श्रेय मनोवैज्ञानिक विचारों के प्रसार को देना होगा।

आय० ए० रिचर्डस ने आस्वादक की दृष्टि से साहित्य के प्रभाव एवं मूल्य का मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया। उसको अपर्याप्त ही नही एक दूसरा ही अवैज्ञानिक यूटोपिया मानने की इधर प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह सही है कि रिचर्डस प्रणीत संवेगों का सन्तुलन शायद मनोवैज्ञानिक तथ्य नहीं है लेकिन उसे एक साहित्यानुभव के विश्लेषण के संकेत के रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। रिचर्डस ने साहित्यानुभव को अलौकिकता की वायवी की भूमि पर से नीचे मनोभूमि पर उतार कर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है जिसके अधिक विवेचन में यहाँ जाना आवश्यक नहीं है। लेकिन इतना तो माना ही जा सकता है कि साहित्य के प्रभाव एवं उसके मूल्य के विश्लेषण में मनोविज्ञान एक सीमा तक सहायक होता है। मनोविज्ञान ने साहित्यकारों और साहित्य के प्रेमियों को जीवनानुभव की जटिलता एवं व्यामिश्रता को समझाने में अवश्य सहायता दी है। साहित्यकार का व्यक्तित्व, रचना की जटिलता और आस्वादक के अनुभव के स्वरूप का विश्लेषण कर बहुत कुछ अलौकिकता के आवरणों को हटाने का कार्य, किया है।

इधर भारतीय रससिद्धांत के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के प्रयास भी हुए हैं और उसकी सार्थकता पर बड़ा भारी प्रश्नचिन्ह भी लगाया जा चुका है। एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महत्वपूर्ण कार्य मनोविज्ञान कर सकता है। साहित्यकार सामान्यतः विशेषज्ञ नहीं होता। वह व्यावहारिक जीवन का संवेदनशील उपभोक्ता और सामान्य ज्ञान पर निर्भर रहकर रचना करनेवाला प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है। हमारे व्यवहार में प्रचलित कतिपय शब्द विज्ञान की कसौटी पर नहीं टिकते। इधर तो भावना जैसी कोई वात होती है या नहीं इसको लेकर भी मनोविज्ञान में विवाद है। लेकिन साहित्य व्यापार संभव ही नहीं हैं अगर हम भावना शब्द को त्याग लें। प्रश्न यह है कि क्या यह घपला ऐसे ही चलने दिया जाए? इसमें मनोविज्ञान वहुत मदद कर सकता है। यह आवश्यक है कि हमारे बौद्धिक व्यापार में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों का वैज्ञानिक रूप निश्चित किया जाय और ऐसे शब्दों को जिनका कोई महत्व नहीं है, अन्य योग्य शब्दों के प्रयोग से हटा दिया जाय। लेकिन खतरे की घंटी वहाँ वजती है जहाँ दो मनोवैज्ञानिकों में एक ही वात को लेकर गहरे मतभेद हों और दोनों वैज्ञानिकता का या वस्तुनिष्ठता का दावा करते हों। सही तरीका यही होगा कि जव तक कुछ सिद्धांतों पर निश्चितता की मुहर नहीं लगती तव तक कॉमनसेन्स की वात को ही स्वीकार कर लिया जाय क्योंकि साहित्य व्यापार का संवध अधिकतर उसी से होता है।

साहित्य और समाज विज्ञान

साहित्य का संसार स्वायत्त है, यह अवश्य माना जा सकता है परंतु यह स्वायत्तता सापेक्ष है। साहित्यानुभव की निरपेक्ष स्वायत्तता की रोमानी या कलावादी धारणा को अव कोई नहीं स्वीकार करता। गद्य के विकास के फल-स्वरूप उत्पन्न उपन्यास, कहानी, नाटक जैसी विधाएँ आज के जटिल और व्यमिश्र जीवन के अनुभव को झेलने का सफल असफल प्रयास कर रही हैं। उनका उद्देश्य न केवल अनुभव के रूपाकारों को गढ़ना है, न वैयक्तिक अनुभव का निकास एवं प्रकटीकरण मात्र उनका लक्ष्य है। जीवन की यातना से गुजरते हुए जीवनविषयक अपनी समझ को कलात्मक माध्यम से प्रस्तुत करने की विवशता साहित्यकार को सृजन प्रक्रिया का पीड़ादायी कार्य करने को प्रेरित करती है। चूँकि यह जीवनानुभव समाज के वीच जीनेवाले मनुष्य का होता है (इसमें मनुष्य का अकेलापन, उसका रागविराग, उसका सौंदर्यवोध सव आता है) समाज विज्ञान से उसका घनिष्ठ संवंध है। मनुष्य जिस परिवार में रहता है, जिस आर्थिक परिवेश में जीता है, जिस सामाजिक सांस्कृतिक माहौल में से गुजरता है उसका उसके जीवनानुभव से साक्षात् संवंध होता है। जिम्मेदार लेखक की जीवन विषयक समझ को अधिक प्रगल्भ करने के लिए तथा जीवन के व्यमिश्र रूप को समझने के लिए उन सभी स्थितियों का गहन निरीक्षण करना पड़ता है जिनमें उसके चरित्र गुजरते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह लेखन के सही और प्रामाणिक होने के लिए आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि संवेदनशील कलाकार और समाज विज्ञानवेत्ता की निरीक्षण प्रणालियों में अंतर होना है परंतु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्यकार को अपने से बाहर के विराट संदर्भ के वैविध्य को आत्मसात करना ही पड़ता है। महान लेखक की यह एक अनिवार्य आवश्यकता है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, जैसी सरलीकरण की प्रवृत्ति शायद सामाजिकता के आग्रही परंतु समझदार विचारकों की भी अब नहीं रही। साहित्य को सामाजिक जीवन का दस्तावेज मान-कर वहीं पर उनकी उपयोगिता को निःशेष करने की अतिवादिता भी शायद आज गंभीर रूप में कोई नहीं पालता। लेकिन साहित्यकार को अपने सार्थक अनुभवों की विश्वसनीय अभिव्यक्ति के लिए समस्त सामाजिक परिप्रेक्ष्य की जानकारी होना नितान्त आवश्यक है, इतना तो माना ही जाना चाहिए। सशक्त साहित्य के निर्माण के लिए लेखक को सामाजिक यथार्थ की गहन पहचान की नितान्त आव-श्यकता है उतनी ही साहित्य के समीक्षक को भी उसके परिचय की आवश्यकता है। साहित्य जिन शब्दों से रचा जाता है वे शब्द भी सामाजिक हैं और उन शब्दों से जो चरित्र घटनाएँ एवं प्रभाव उत्पन्न किया जाता है वह भी सामाजिक है। साहित्य में समाविष्ट अनुभवों, संरचना के प्रकारों, रूपाकारों का संबंध भी सामाजिकता से गहन रूप में जुड़ा हुआ है। अतः लेखक, समीक्षक और सामान्य पाठक तीनों अगर इस सामाजिक संदर्भ के प्रति विशेष जागरूक हों तो साहित्य की क्षमता और मूल्यवत्ता निश्चय ही बढ जाती है। इस सामाजिकता में समाज की विभिन्न संस्थाएँ, विभिन्न वर्ग एवं उनकी विशिष्टताएँ, मनुष्य के प्रेम और यौन संबंध, समस्त परंपराएँ (साहित्यिक भी, सांस्कृतिक और सामाजिक भी) समाविष्ट हैं। साहित्य के सही आकलन के लिए भी यह जानकारी सहायक होती है

लेकिन सामाजिक, आर्थिक परिवेश, एवं परंपराओं के ज्ञान को साहित्य में साहित्यिक शर्तोंपर ही समाविष्ट किया जा सकता है। समाज के उत्पादक साधनों और सामाजिक संरचना विधान का साहित्य से सीधा संबंध जोड़ना या साहित्य के स्वायत्त क्षेत्र पर अनधिकार आक्रमण करना है। साहित्यिक शर्त से अभिप्राय यह है कि रचना के अन्तर्गत जो भी कुछ समाविष्ट है वह रचना के समग्र जीवनानुभव से अवयव-अवयवीभाव से संबंध है कि नहीं। समाज विज्ञान का समुचित मात्रा में उपयोग करते हुए रचना के गर्भ में समाविष्ट अनुभव तक पहुँचना और समस्त संदर्भ में उस अनुभव का मूल्यांकन करना साहित्य के समीक्षक का दायित्व है। साहित्य के माध्यम से सामाजिक जीवन में मनुष्य किस तरह अनुभव कर रहा है इसकी जानकारी हमें होती है। सामाजिकता के अच्छे बुरे पहलुओं, विभीषिका, शोषण और क्रूरता के रूपों से हमारा साक्षात्कार होता है और समाज के सड़े-गले

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंगों की मरम्मत करने एवं उसको काट फेंकने को संभावनाओं का भी कुछ एहसास होता है। साहित्य में चित्रित मनुष्य की आशा-निराशाओं, राग-द्वेषों, आकांक्षाओं के माध्यम से ही सामाजिक प्रक्रिया की गतिविधि का एवं उसमें होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तनों का पता लगता है।

साहित्य और समाज विज्ञान के संबंध के अध्ययन का एक और पहलू भी है। मुद्रणकला और पुस्तक के माध्यम से लेखक लाखों तक पहुँच सकता है और चाहे तो लेखन को अर्थाजन का एक साधन भी बना सकता है। परिणामतः सामान्य लोक रुचि को संतुष्ट करनेवाला लोकप्रिय साहित्य भी वह रचने लगता है। बड़े-बड़े साहित्यकार भी इस मोह के शिकार होकर सस्ते पड गये हैं। यह कटु वास्तविकता है। साहित्य को एक क्रय वस्तु के रूप में उत्पादित कर मार्केट में लानेवाले साहित्यकारों ने जन-रुचि पर जो विकृत प्रभाव डाल दिया है. उससे सामाजिक जीवन के संस्कार कितने विकृत हो सकते हैं इसका समाजशास्त्रीय अध्ययन एक महत्वपूर्ण कार्य है जिससे संस्कृति और साहित्य के कतिपय पहलुओं पर प्रकाश पड सकता है। पाठक और साहित्यकार, साहित्यकार और प्रकाशक, प्रकाशक और उसका व्यवसायिक दृष्टिकोण इत्यादि का अध्ययन साहित्य के स्वरूप के संबंध में रोचक तथ्य उपस्थित कर सकता है। बहुत बार कला की स्वायत्तता की माँग करनेवाले साहित्यकारों का धन की गुलामी मंजूर करनेवाला छद्म रूप प्रकट हो सकता है। साहित्य को किसी विशिष्ट उद्देश्य के अनुशासन में बाँध देने के पक्ष में उदात्तता की मुद्रा धारण करनेवालों का अंतिम तानाशाही स्वरूप उजागर हो सकता है।

इधर विज्ञापन कला की बढ़ती क्षमता का परिणाम भी साहित्य की निर्मिति, साहित्य के मूल्यांकन के मानदण्ड, साहित्य की बिक्री इत्यादि बातों पर होने लगा है। केवल विज्ञापन कला के जरिए कतिपय लेखक कुछ समय तक न केवल बहुचर्चित होते हैं, वे कुछ वर्षों तक अपनी महत्ता को मनवाने में सफल भी हो जाते हैं। विज्ञापन कला के सहारे मिडिआकर लेखक पहली पंक्ति के अधिकारी भी हो गये हैं। साहित्य और समाजविज्ञान के सही अध्येता को इस प्रकार के छल छद्म का पर्दाफाश करना सहज संभव हो सकता है।

साहित्य और राजनीति विज्ञान

सामान्यतः सभी प्रगत भाषाओं के साहित्य राजनीति से गहरे स्तर पर और कभी रहस्यमय ढंग से प्रभावित हो रहे हैं। राजनीति जनजीवन के निकट इतनी कभी नहीं थी जितनी आज है। इसका कारण यह है कि हर समाज दिन-ब-दिन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैज्ञानिक एवं टेक्नीकी प्रगति के फलस्वरूप भौतिक स्तर पर अत्यधिक संगठित होने को बाध्य हो गया है और समाज के अंतर्गत समस्त अन्तर्विरोध (जाति, काम, वर्ग, संस्कृति, सभ्यता सब प्रकार के) स्वाभाविक रूप में अभूतपूर्व रूप से टकरा रहे हैं। फिर अनेक अन्तर्विरोधों से युक्त यह समाज राजनीति पर प्रभावपूर्ण ढंग से हावी हो सकता है, इसका अहसास उसको हो गया है। जन समाज को भली भाँति प्रतीत हो गया है कि राजनीति न केवल चुनिंदा लोगों का शतरंज का खेल है बल्कि उनकी समस्त जीवन चेतना को अच्छे अथवा बुरे ढंग से प्रभावित करने की क्षमता राजनीति में है। उनका अन्न, जल, आवास, हवा, सुरक्षा, स्थिरता, मनोविनोद, संस्कृति सब को राजनीति दूर तक और शक्तिशाली ढंग से नियंत्रित एवं आकारित कर रही है। समाज और समाज में रहनेवाला व्यक्ति राजनीति के शिकंजे से बाहर नहीं पड़ सकता। उसके सामने एक ही रास्ता है– उससे सीधे सामना करना और उसे अपने अनुकूल रूपाकार प्रदान करना। राजनीति का संबंध जीवन से अतः आज के साहित्य से अभिन्न रूप में है। अगर राजनीति व्यक्ति और समाज के जीवन से जुड़ी है तो यह बेहतर है कि हम उसके सर्वव्यापी, सर्वगामी और सर्वभक्षी रूप को आँख खोलकर देखें। अब 'सन्तनन सों कहा सीकरी काम' वाली निर्भीक बात भी आज के संदर्भ में पलायनवादी बन गयी है। अतः राजनीति के असली रूपों का या बहुरूपी नटिनी को सही रूप में देखने की नितांत आवश्यकता है। यह आवश्यकता संवेदनशील और अनुभव प्रेमी साहित्यकार के लिए नितांत अनिवार्यता है। यही अनिवार्यता राजनीति विज्ञान में दिलचस्पी के लिए बाध्य करती है।

यहाँ आकर कलाकार की स्वतंत्रता, प्रतिबद्धता, सामाजिक सपृक्ति, वैयक्तिकता, इत्यादि कतिपय प्रश्न उभरते हैं। इस लेख में उनकी ब्यौरेवार चर्चा नहीं की जा सकती। कुछ महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत मात्र किया जा सकता है।

साहित्य एक जबर्दस्त शक्ति है और समाज को नियंत्रित और दमित करनेवाली तानाशाही राजनीति इस शक्ति को भलीभांति पहचानती है। अन्यथा तानाशाही व्यवस्था में सब से अधिक साँसत साहित्यकारों को झेलनी नहीं पड़ती। कांसेंट्रेशन कैम्प, गैस चेंबर, कत्ले आम, देशनिष्कासन, सेंसारशिप, जेलयात्रा ये सब साहित्यकारों का भोगा हुआ यथार्थ है। यह शायद निरपवाद रूप में कहा जा सकता है कि किसी भी राजनीति का असली चेहरा उसके और कलाकारों के परस्पर संबंधों से पहचाना जा सकता है।

राजनीति प्रारंभिक अवस्था में साहित्यकारों, कलाकारों और बौद्धिकों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामाजिक प्रतिवद्धता के महान उद्देश्य के बहाने विमोहित करती है तो कभी पुरस्कारों, आर्थिक लाभों और प्रतिष्ठा के पदों या उपाधियों द्वारा सम्मोहित करती है। अगर साहित्यकार इस मायाजाल को काटने में समर्थ होता है तो उसकी नियति साँसत भोगने की है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। न केवल साहित्यकारों को बल्कि समस्त साहित्य प्रेमियों को इस राजनीति के शील से अवगत होना आवश्यक है। साहित्य के शील और राजनीति के शील का सद्यःस्थिति में अंतर देखते हुए यह कहना पड़ता है कि साहित्यकार राजनीति के प्रति तटस्थ नहीं परंतु सजग आलोचनात्मक रूप लेकर ही अपना कार्य सम्पन्न कर सकता है।

राजनीति का प्रत्यक्ष जीवन्त सामयिक प्रभाव साहित्य पर पड़ता ही है, उसका वैचारिक या सैद्धांतिक प्रभावी साहित्य पर पड़ता है। यह तब अधिक स्थायी होता है जब सैद्धांतिक राजनीति का विचार जीवन के व्यापक एवं गहन रूप को अपने में समेटता हुआ राजनीति के प्रति उन्मुख रहता है। भारतीय साहित्य पर गांधीवाद और मार्क्सवाद का प्रभाव इसी लिए विशेष रूप में परिलक्षित होता है। इधर पंद्रह बीस वर्षों में मार्क्सवाद ने हिंदी साहित्य को बहुत घेरने का प्रयास किया है। एक सीमातक साहित्य को सामाजिकता की ओर उन्मुख कर उसको अनेक दिशाओं में प्रशस्त करने का श्रेय मार्क्सवाद को दिया जा सकता है और उसी समय जो वैचारिक कट्टरता, कठमुल्लापन, एकांगिता और संकीर्णता उत्पन्न हुई है उसके लिए भी मार्क्सवाद के प्रचारकों को जिम्मेदार माना जा सकता है। हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में यह बात निश्चय ही कही जा सकती है कि बहुत बड़ी सीमा तक राजनीतिक आग्रह ने साहित्य की सापेक्ष स्वायत्ता और सौंदर्यमूल्यों पर कुठाराघात किया है। असल में वैचारिक पक्षधारता को अनुभव में अन्तर्ग्रंथित करते हुए साहित्य की शर्तों का पालन कैसे किया जाय, यह समस्या राजनीति और साहित्य के परस्पर संबंधों का विचार करते समय महत्वपूर्ण बन जाती है। इसका कोई फार्मूला नहीं दिया जा सकता, परंतु साहित्यिक मूल्यों की कीमत पर राजनीतिक प्रचार न साहित्य का हितसाधन करता है न राजनीति का। ऐसे प्रचारवादी लेखक अपनी क्षमता का यथोचित दिशा में उपयोग न कर जीवन-विषयक सार्थकता का भ्रम पाले साहित्यिक बनकर बैठते हैं।

साहित्य और नीति विज्ञान

साहित्य एवं कला को लेकर एक प्रश्न बार-बार चर्चित होता है और वह है साहित्य या कलाओं के नीति के साथ संबंध का। व्यक्तिवादी, रूपवादी या विशुद्ध सौंदर्यवादी कलाकार और कलाचिन्तक नीति-विचार को कला पर बाह्यत:

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आरोपित, कला की अपनी प्रकृति से असंबद्ध, कला की स्वायत्तता पर अनधिकार आक्रमण करनेवाला, कलाकार की स्वतंत्रता एवं उसकी उन्मुक्त प्रतिभा पर बंधन डालनेवाला तथा कला को अपनी स्वाभाविक ऊँचाई से नीचे उतार कर उसे किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनाने वाला विचार मानते हैं। फिलहाल अन्य कलाओं की चर्चा को हम छोड़ देते क्योंकि यह विवाद का मुद्दा है कि समस्त कलाओं का कोई ऐसा व्यवच्छेदक लक्षण मिलता भी है कि नहीं कि इन सबको एक सूत्र में बांधा जाय और यह भी विवाद्य है कि साहित्य और कलाओं को एक ही तुला पर तौला जा सकता है अथवा नहीं। हम इस चर्चा को केवल साहित्य की सीमा तक ही सीमित रखेंगे।

साहित्य और नीति का विचार करते समय पहली बात जो सामने आती है वह यह कि साहित्य की आत्मा अगर जीवनानुभव है तो जीवन के संबंध में उठनेवाला सत् और असत् का शुभ और अशुभ का विचार कैसे टाला जा सकता है। जीवनानुभव के अंकन मे जैसे-जैसे साहित्यकार गहराई मे चिन्तन करता है वैसे वैसे ये प्रश्न बहुत ही अधिक प्रासंगिक हो उठते हैं। कलाकार की स्वतंत्रता जिस प्रकार एक सीमा के बाद स्वायत्त है, उसी प्रकार उसकी तटस्थता भी एक सीमा के बाद सीमित है। जीवन के व्यापारों के चित्रण में बहुत हद तक तटस्थापूर्वक प्रस्तुतिकरण करने के बाद एक स्थिति वह भी आती है जब कलाकार को सत् या असत् का पक्षधर होना ही पड़ता है। असत् या अशुभ का तटस्थ अंकन करते समय और अशुभ की सर्वव्यापकता और सामर्थ्य की ट्रेजिक प्रतीति कराते समय साहित्यकार को मानवीय मूल्यों की अंतिम पराजय भी दिखानी हो तो उसकी जड़ में अंतर्निहित मानवीय मूल्यों के प्रति गहन चिन्ता के अभाव में कलाकार का वह समस्त प्रयोजन सार्थक और महत्त्वपूर्ण नहीं होगा। यही अनुभव किस प्रकार व्यक्त किया जा रहा है, यह साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है और महत्त्वपूर्ण यह भी है कि उस अनुभव की गुणवत्ता क्या है। और अनुभव की गुणवत्ता का विचार, गहनता, तीव्रता, गंभीरता, व्यापकता इत्यादि से जुड़ा हुआ है जो जीवन सापेक्ष आयाम हैं। जीवन के प्रति लगाव और मूल्य दृष्टि के प्रति प्रतिबद्धता महान साहित्यकार के अनिवार्य तत्व हैं और इन के साथ नैतिकता के सारे प्रश्न आंतरिकता से जुड़े हुए हैं। यहाँ यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि नीति से आशय रूढ़ियों एवं निर्जीव परंपराओं से नहीं है बल्कि मानवीय जीवन को सप्राण और समृद्ध बनानेवाली विवेकपूर्ण परंपराओं एवं प्रयोगशील तथा नूतन मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया से भी है।

साहित्य का प्रभाव निश्चित ही पाठकों की वृत्तियों, प्रवृत्तियों तथा आचरण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर पड़ता है क्यों कि लेखक के द्‌वारा चित्रित व्यक्ति-चारित्रों में और हमारे जीवन में वहुत संवाद रहता है। नीति का संबंध भी हमारे आचरण से है। अतः साहित्यकार नीति से किनारा नहीं काट सकता न वह पाठकों के प्रति अपनी जिम्मेदारी के बोध से छुटकारा पा सकता है। यह बात दूसरी है कि उसकी नीति के प्रति धारणा क्या है। यहाँ एक और बात का संबंध ध्यान में रहना पड़ेगा। समर्थ साहित्यकार के साहित्य में नीति-तत्त्वों का दिक्‌दर्शन प्रत्यक्ष एवं प्रचारात्मक ढंग से नहीं होता। वह अप्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होना है और जितना वह व्यंजित होकर भावित करेगा उतना ही कलात्मक माना जाएगा। इसका अर्थ यह होगा कि जितना नैतिक विचार लेखक के लेखकीय व्यक्तित्व में समाविष्ट होगा उतना ही वह कलात्मक रूप में प्रकट होगा।

नैतिकता संबंधी जागरूकता आज के संदर्भ में विशेष महत्वपूर्ण है। भारतीय साहित्य का धार्मिक आधार जिसमें आपाततः उच्च नैतिक विचार समाविष्ट था, तेजी से क्षीण हो गया और यथार्थ की कठोर भूमि पर मूल्य दृष्टि के अंकुर उपजाना कठिन होता जा रहा है। एक ओर टेक्नालाजी और यांत्रिक जीवन की मार से मनुष्य संवेदनहीन बनता जा रहा है और ऐंद्रिय सुखों की प्राप्ति में ही जीवन की चरितार्थता मानने लगा है तो दूसरी ओर सामूहिक अपील करनेवाला सस्ता एवं भोंडी कलाओं की गिरफ्त में आकर अभिरुचिहीन बनता जा रहा है। परिणामतः अब ज़ीवनमूल्यों से सांस्करित होने की संभावनाएँ तिरोहित होती जा रही हैं। इस मूल्यभ्रष्टता की अवस्था में साहित्यकारों की जिम्मेदारी अधिक वढ़ गयी है। क्योंकि डी ह्यूमनाइजेशन की इस व्यापक प्रक्रिया में आज कला संस्कार ही एक रास्ता बन गया है जो मनुष्य को अपने जीवन की सार्थकता के प्रति उन्मुख कर सकता है। संस्कृति और साहित्य के परस्पर संबंधों की कल्पना इसी संदर्भ में की जा सकती है। साहित्यकार की प्रतिवद्धता की बात भी इसी में सन्निहित है।

साहित्य और विज्ञान

विज्ञान और साहित्य के विरोध को लेकर पाश्चात्य कवियों, समीक्षकों और चिंतकों ने पर्याप्त वहस की है। विज्ञान से काव्य के तिरोहित होने के खतरे की संभावना दे कर कविता का बचाव करने का प्रयास फिलिप सिडने से लेकर शैले तक ने किया है। यह विवाद आज भी जारी है। विज्ञान के तकनीकी पहलू के दृश्य और प्रत्यक्ष फल सुविधाओं के रूप में जीवन में मिलते हैं और सामान्य मनुष्य इसीलिए उसे देवता मानकर अपनी समस्त श्रद्धा अर्पित करता है। पिकॉक जैसे विद्‌वान भी विज्ञान के समकक्ष काव्यानुभव के पिछड़ेपन, अनुपयोगिता और हास्यास्पदता को बताते हुए उसके अस्तित्व के खतरे की ओर संकेत कर चुके हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रिचर्डस ने वैज्ञानिक प्रणालियों का हीं उपयोग करके काव्यानुभव के महत्व का प्रतिपादन करने का प्रयास किया। इधर विशेषीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप विज्ञान और काव्य का पूर्णतः विघटन इस सीमा तक पहुँच गया है कि सी. पी. स्नो ने बौद्धिकों की दो सांस्कृतियों का उल्लेख कर के एक बडा प्रभावकारी लेख लिखा जिसमें यह प्रतिपादिक किया है कि बड़े साहित्यकार विज्ञान के सामान्य और मूलभूत महत्वपूर्ण सिद्धांतों से अपरिचित हैं। इसका प्रत्याख्यान फिर एफ़. आर. लेविस ने किया। फिलहाल इस विरोध में न पड़कर यहाँ इतना ही कहना है कि इस विघटन के खतरनाक फल भोगने का समय आ गया है। विज्ञान और काव्य की सत्य को पकड़ने की प्रणालियाँ ही भिन्न नहीं हैं वल्कि सत्य के संवंध में भी मूलभूत मतभिन्नता है। इस विवेचन की गहराई में भी हम यहाँ नहीं जाना चाहते। हम यहां दो शाखाओं की परस्पर पूरकता के विन्दुओं का ही संकेत करने का प्रयत्न करेंगे।

स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान जीवन की सुविधाओं को बढ़ाकर जीवन को अधिक सहच, अधिक भौतिक चिंताओं से मुक्त करने का प्रयास करता है लेकिन 'जीवन क्या है' और 'उसकी सार्थकता किस में है,' जैसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों का जवाव विज्ञान के हाथ में नहीं है। जीवन के ढाँचे को वहुत प्रभावकारी ढग से विज्ञान प्रभावित करता है परंतु उसको सोद्देश्य बनाने का और उसमें सौंदर्य के प्राणतत्व भरने का कार्य विज्ञान के बस का नहीं है। उधर अनुभूति-संसार में निहित बौद्धिक प्रक्रिया को अधिक सजग कर विश्व के भौतिक परिवेश का सही रूप में आकलन करने के कार्य में विज्ञान अवश्य सहायता करता है। मूल्य दृष्टि का निर्माण अथवा मूल्य विवेक विज्ञान का क्षेत्र नहीं है। वह दर्शन और सर्जक कलाकार का क्षेत्र है। कुछ दृष्टान्त के सहारे यह कहा जा सकता है कि विज्ञान हमारी इंद्रियों की क्षमता को अभूतपूर्व रूप से बढ़ा देता है परंतु दूरध्वनि पर क्या सुनना अच्छा है और दूरदर्शन पर क्या देखना हमारी जीवन की सृजनशीलता को तथा हमारे सौंदर्यबोध को या दूसरे शब्दों में जीवन के सार्थक क्षणों की उपलब्धि को वढावा देता है, यह काव्य का या कला का खास अपना क्षेत्र है।

यह आवश्यक है कि विज्ञान और कला के बीच के अंतर को दो ध्रुव न मानकर हम उनके बीच के पूरक संवंध को मद्दे नजर रखें। मैं यहाँ तक कहूँगा कि कलाकार विज्ञान के प्रति उदासीन है, इससे बढकर यह स्थिति अधिक अमानवीय है कि वैज्ञानिक और टेक्नीशियन कला के प्रति अवहेलना का भाव रखते हैं। साहित्यकारों को विज्ञान के दर्शन से परिचित होना इसलिए आवश्यक है कि उनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य का स्तर अधिक सुदृढ हो और वैज्ञानिकों को साहित्य एवं कलाओं के दर्शन के और उनके प्रत्यक्ष भोग के अभ्यास की नितान्त आवश्यकता है ताकि उनकी पूरी जिंदगी वैज्ञानिक विकास के मशीन में एक पुर्जा बनकर समाप्त न हो जाय। इस संदर्भ में एक और बात का जिक्र भी आवश्यक है। अभी तक विज्ञान जीवन के सारे रहस्यों को सुलझाने में सफल नहीं हुआ है। जीवन में सुपर नैचुरल तत्व के बहुत बड़े हिस्से का संतोषजनक समाधान नहीं हो सका है। इसीलिए इलियट कवियों के धार्मिक संवेदना से संपृक्त होने की आवश्यकता मानता है या आइन्स्टाईन जैसे वैज्ञानिक मानवीय जीवन और समस्त बौद्धिक संरचना को बौद्धिक कार्यकारण की श्रृंखला में आबद्ध करने की आकांक्षा के प्रति प्रश्नांकित नजरिये से देखते हैं। आइन्स्टाईन का कथन है कि धर्म के बिना विज्ञान अंधा और विज्ञान के बिना धर्म लंगडा होता है। धर्म और विज्ञान के अन्योन्याश्रय संबंध को स्पष्ट करते हुए उसने आगे लिखा कि यदि धर्म का विवाह विज्ञान से हो तो उनसे होनेवाली सन्तान मानवता होगी। यहाँ आधुनिक युग में धर्म के स्थानपर साहित्य संस्कार को रखा जा सकता है। बर्ट्रान्ड रसेल जैसे चोटी के दार्शनिक की महत्वपूर्ण आकांक्षा विश्व के महान रचनात्मक ग्रंथों को पढने की थी जिसके लिए उसे और लंबी आयु की आवश्यकता थी। इस प्रकार के कतिपय उदाहरण दिये जा सकते हैं।

शिक्षा प्रसार के इस तेज-गति युग में सामान्य मनुष्य को अधिक ज्ञानी नहीं, अधिक समझदार बनाने की नितांत आवश्यकता है और जीवन के सौंदर्य को भोग कर उसे सार्थक बना देने की कला सिखाने की आवश्यकता है। इसके लिए विज्ञान निश्चय ही साधनों को प्रचुर रूप में उपलब्ध करा दे सकता है लेकिन सौंदर्य और विवेक की अभिवृत्तियों को विशिष्टता देने का कार्य उसका नहीं है। हमारी शिक्षा संस्थाओं में इस विषय पर गंभीर संवाद करना नितान्त आवश्यक है। इसका एक और व्यावहारिक संदर्भ भी है। आज विकासमान भारत देश का बौद्धिक सारतत्व विज्ञान और तकनीकी क्षेत्रों में चला जा रहा है। सामान्यत: इसके पीछे जीवन की भौतिक सुविधाओं को प्राप्त करने की स्थूल उपयोगितावादी दृष्टि ही होती है और इसका परिणाम अच्छे और सामर्थ्यवान मनुष्य बनने में न होकर एक करिया-रिस्ट अर्थात दूसरे शब्दों में अपनी बुद्धि का विक्रय करनेवाले व्यापारों के रूप में होता हैं। यह मूल्य दृष्टि और संस्कारों से वंचित वर्ग भयानक रूप से आत्म-केंद्रित बनता जा रहा है। इस से बचने की आवश्यकता है। एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत है। भारत का युवा वर्ग तजी से वैद्यकीय शास्त्र की ओर लपक रहा है। उसका उद्देश्य अर्थार्जन ही है। परिणाम यह हो जाता है कि वह मनुष्य की देह को बहुत ही सूक्षतम रूप में जानता है। परंतु इस बात को भावनात्मक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्तर पर स्वीकार नहीं कर पा रहा है कि उस देह को किसी भी स्थिति में बचाने में जो मानवीय मूल्य दृष्टि अन्तर्भूत है उसका महत्त्व क्या है। यह बात दूसरी है कि प्रोफेशनल एथिक्स के रूप में वह इसे मानकर चले भी परंतु उसमें वह आंतरिकता नहीं होती। इसके समस्त परिणाम साफ नजर आते हैं जिनके विस्तृत विश्लेषण में अभी नहीं जाना है।

साहित्य एवं अन्य कलाएँ

साहित्य का अन्य कलाओं से संबंध अनेक प्रकार से चर्चित हुआ है। संगीत, चित्र, नृत्य, स्थापत्य इत्यादि प्रमुख कलाओं और साहित्य के अध्ययन से परस्पर संबंधों के साहित्य की समझ विशद होती है, संवेदन-क्षमता का विकास होता है जो अन्ततोगत्वा साहित्यानुभव के ग्रहण में महत्वपूर्ण योगदान करता है। कलाओं के रूपाकारों का भान जितना साहित्येतर कलाओं में सजग होता है उतना साहित्य में नहीं परंतु यह भान साहित्य के रूप दर्शन में भी सहायता देता है। समस्त कलाओं में किसी व्यवच्छेदक एक लक्षण का निर्देश किया जा सकता है अथवा नहीं यही विवाद का विषय है परंतु कलाओं के साहचर्यमूलक संबंध से साहित्य के मर्म का आकलन निश्चित ही अधिक सूक्ष्म और सम्पन्न होता है। हाँ, किसी विशिष्ट कला के अपने सिद्धान्तों को दूसरी कला पर आरोपित करने के खतरे भी कला-विवेचन में कम नहीं हैं परंतु वह हर अतिवाद का अवश्यंभावी परिणाम है। मूल बात यह है कि साहित्य के साथ अन्य कलाओं में अभिरुचि साहित्य के स्वायत्त रूप को सुरक्षित कर आरोपित आक्रमणों से भी उसको बचा सकेंगी। यहाँ एक विचित्र बात का उल्लेख आवश्यक है। ललित साहित्य को वर्गीय संघर्ष का एक हथियार बनाने के उत्साही साहित्य-प्रेमी अन्य कलाओं में प्रायः रस नहीं लेते दिखते--क्या यह आकस्मिक है ? कहीं न कहीं इसका संबंध हमारी कला-विषयक चिन्तना से गहराई में जुडा हुआ है।

वैसे साहित्य और इतिहास, लेखक का जीवन वृत्त, साहित्य और साहित्य के साधनों एवं माध्यमों का परस्पर संबंध, साहित्य और तुलनात्मक दृष्टि इत्यादि कतिपय विषय हैं जिनका विचार किया जा सकता है। परंतु स्थलाभाव में वह संभव नहीं है। इस लेख का सीमित उद्देश्य केवल यह दिखाना था कि विशेषीकरण की प्रक्रिया में कतिपय महत्त्वपूर्ण दोष न केवल साहित्य के अध्यापन में उत्पन्न हुए बल्कि हमारी समग्र शैक्षिक व्यवस्था को ही वे दूषित कर रहे हैं। एक समग्र शिक्षा पद्धति के निर्माण में, इस लेख में निर्देशित दिशा का विचार आवश्यक प्रतीत होता है।

३—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य के बृहत्तर संदर्भों के साहित्यान्तर्गत अन्तर्ग्रंथन की शर्तें :

साहित्य चूँकि मानवीय जीवन को अपना आशय बनाता है, जीवन से संबंधित हर वस्तु साहित्य के दायरे में आ ही जाती है। लेकिन यह आगमन साहित्य की शर्त पर ही स्वागत योग्य होगा। लेखक के स्तर पर यह आवश्यक है कि लेखक का लेखकीय व्यक्तित्व इन संदर्भों से समृद्ध होता रहे और समस्त सामग्री अवचेतन में जाकर रूपाकार के लिए तरह-तरह का रासायनिक स्वरूप ग्रहण करती जाए। हो सकता है समस्त व्युत्पन्नता का कुछ आंशिक हिस्सा ही प्रत्यक्ष रचना में सही रूप में योगदान करे। परंतु जब तक उस रासायनिक संमिश्रण के नियम नहीं बताए जा सकते तब तक यही स्थिति संभव है। रचना में अनुभव की एक इकाई के रूप में संग्रथित और संरचित वस्तु ही साहित्य का सही द्रव्य है। पाठक भी विभिन्न ज्ञानशाखाओं तथा कलानिकायों से अपनी संवेदना और समझ को समृद्ध बनाता हुआ रचना का रसास्वाद ले लेकिन अपने किसी विशिष्ट आग्रह के साथ नहीं–विपुलता, विभिन्नता और गहराई के आयामों के प्रति अपने सौंदर्यबोध को सहज रूप में समर्पित करके वह रचना के वस्तु और रूप का कुछ तटस्थ रूप में और कुछ तल्लीन होकर भोग कर ले। अंततोगत्वा लेखक और आस्वादक सामान्य बोध (कॉमनसेन्स) का जितना सहज परिचय दे सकें उतना ही कलाकृति के सृजन एवं आस्वाद ग्रहण में उपयुक्त होगा। लेकिन इस सामान्य बोध का सहज रूप बृहत्तर संदर्भ को पचाकर मानसिक स्वास्थ्य लाभ करने में ही अनायास रूप में उभरना चाहिए।

– चंद्रकांत बांदिवडेकर

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्याँ पाल सार्त्र का साहित्य-दर्शन (१)

अपनी पुस्तक 'साहित्य क्या है ?' में सार्त्र ने मुख्यतः तीन प्रश्नों के उत्तर दिए हैं : लेखन क्या होता है ? क्यों लिखता है कोई ? और किसके लिए ? भूमिका में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रायः लोग जल्दी पढ़ते हैं, वह भी गलत ढंग से । बिना ठीक से समझे-बूझे ही लोग फतवा दे डालते हैं, अथवा निर्णय कर लेते हैं कि फलाँ रचना ठीक है या बे-ठीक, अच्छी है या बुरी ।

लेखन क्या होता है

कृति के प्रारंभ में ही सार्त्र वस्तुओं के अपने रूपाकार और प्रतीकों की अर्थ-गर्भता के आधार पर कलाओं का पृथक्त्व निर्धारित कर देता है। मसलन्, चित्रकारी और संगीत ध्वनि और रंगों को जिस तरीके से इस्तेमाल करते हैं, साहित्य शब्दों को उसी तरह इस्तेमाल नहीं करता । शब्द तो प्रतीक मात्र हैं, जो अपने से अलग वस्तु का बोध या अर्थ को उजागर करते हैं । जबकि ध्वनियाँ और रंग स्वयं-संपूर्ण हैं ! प्रथानुसार हम उनमें भले ही कोई भी अर्थ आरोपित कर दें और 'फूलों की भाषा' की बात कर लें; वस्तुतः ऐसा कहते ही वे अपना स्वरूप खो देते हैं । गुलाब को यदि स्नेह की अड़िगता का प्रतीक मान लें तो वह चित्रकार के लिए गुलाब नहीं रह जाता । यह बात दूसरी है कि उसे कैन्वस पर उतारने में वह और ही एक 'काल्पनिक वस्तु' रच दें । किंतु किसी भी तरह वह गुलाब के रंग-रूप से 'भाषा' नहीं गढ़ सकता ।

यह भी अलग बात है कि अपने किसी भी चित्रण में कलाकार बैंगनी की जगह पीला रंग चुने और उससे जो वस्तु बने वह सर्जक की आंतरिक प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करे । किंतु निस्संदेह उससे क्रोध या विषाद की वैसी ही अभिव्यक्ति नहीं होती, जैसी कि शब्दों या चेहरे पर झलकते भावों से होती और हो सकती है ।

यहीं पर और भी एक बात ध्यान में रखने की है । कलाएँ अपने माध्यमों एवं उपकरणों को चुनने में सामाजिक कारणों एवं परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं किंतु वे वस्तु और विधा एवं रूपाकार आदि के चुनाव में स्वतंत्र होती हैं । किसी भी युग की कलाएँ आपस में एक दूसरे को प्रभावित करती हैं, कारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उनके नियंता तत्त्व समान होते हैं। इसलिए यदि कोई यह कहे कि अमुक साहित्यिक सिद्धांत संगीत के क्षेत्र में लागू न होने के कारण ही व्यर्थ है तो उसे पहले यह भी दिखाना होगा कि सारी कलाएँ समानांतर ही होती हैं।

सांगीतिक कृति का अर्थ या अभिप्राय उसके बाहर कुछ नहीं होता। कोई भी गाना या धुन उल्लास या विवाद से पूर्ण भले ही हो किंतु वह विचारों की तरह इन मानवीय भावों को विविधता नहीं दे सकता। गाने या धुनों की निर्मिति के वक्त उनके सुरों में जो भाव या आवेग भरने का प्रयत्न होता है, वह उसी प्रक्रिया में प्रत्यंतरित और परिवर्तित हो जाता है। दुख की चीख या पुकार अपने प्रेरक विषाद का संकेत या प्रतीक भले ही हो किंतु वह उस दुख के गीत का मुकाबला नहीं करती, जो दुख या विषाद तो है ही, उसके अतिरिक्त भी कुछ होता है। अस्तित्ववादी भाषा में इसे यों कहेंगे, यह एक ऐसा दुख है, जो और अधिक होता नहीं है, है।

लेखक हमें पथ-प्रदर्शन देता है। यदि वह किसी गंदी-सँकरी झोंपड़ी का वर्णन करता है तो वह उसे सामाजिक अन्याय का प्रतीक बनाकर हमारे मन में घृणा का उद्रेक कर सकता है। चित्रकार मूक रहता है, वह हमें सिर्फ एक ऐसी झोंपड़ी ही दिखा सकता है। हम उसमें जो भी चाहें देख लें। हर हालत में चुनाव आपका–हमारा ही रहता है। कभी-कभी मनीषी चित्रकार भी हमें प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। वे वर्फ में ठिठुरते काम की तलाश में खड़े कामगारों एक लंबी लाइन चित्रित कर देते हैं, या बेकार लोगों अथवा विभीषिकामय युद्ध-स्थलों को पेश करते हैं। किंतु क्या वे हमें सचमुच बहुत प्रभावित कर पाते हैं? पिकासो की श्रेष्ठ कृति 'ग्वेर्निका का संहार' ने क्या एक भी व्यक्ति को स्पेनियों के जनयुद्ध के प्रति अपने जीवन की बलि देने के लिए प्रेरित किया था?

स्पष्ट है कि सोद्देश्यता या प्रतिबद्धता अन्य सारी कलाओं की अपेक्षा साहित्य में ही सर्वाधिक हो सकती है। और साहित्य में भी वह कविता की अपेक्षा गद्यात्मक कृतियों में अधिक हो पाती है। कविता में शब्द इस्तेमाल नहीं, पेश किए जाते हैं। कविगण भाषा से औजार की तरह काम नहीं लेते, वे उसे सत्य के प्रतिपादन का माध्यम भी नहीं बनाते। वे दुनिया के नाम रखने या देने के सपने नहीं देखते क्योंकि नाम रखने या देने का मतलब है नामित वस्तु के लिए नाम की बलि देना; जैसा कि, हेगेल के शब्दों में कहें तो, नाम सारवान् वस्तु के समक्ष निस्सार पदार्थ-सा लगता है– ठोस के मुकाबले वायनीय जैसा! नाम कुछ बोलते नहीं, न वे एकदम जड़ रहते हैं, वे तो कुछ अलग-सी चीज़ें ही लगते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वास्तव में, काव्यमय रुझान या दृष्टिकोन शब्दों को वस्तुएँ (चीजें) मानता है, न कि वे अर्थ-गर्भ प्रतीक या संकेत, जिनमें कोई भी स्वेच्छा से काच के दिलहे की तरह घुसकर संकेतित वस्तु को देख सकता है, अथवा अपनी नज़र उनके यथार्थ पर टिकाकर उन्हें वस्तु की तरह ग्रहण कर सकता है। लेकिन कवि चाहे जितना भी शब्दों को वैसे ही ले जैसे कि चित्रकार रंगों को और संगीतकार ध्वनियों को लेता है किंतु इसका यह मतलब नहीं होता कि उसके लिए शब्द अपनी अर्थवत्ता खो देते हैं। क्योंकि अर्थवत्ता के बिना तो शब्दों की वाक्यान्विति भी नहीं होती।

कवि के लिए भाषा बाह्य जगत् की एक संरचना है। वक्ता एक भाषिक स्थिति में होता है, वह शब्दों से विनियोजित होता है। वे उसके अभिप्राय के विस्तार होते हैं, वे उसके एरियल हैं, चिमटे हैं, चश्मे हैं। वह उन्हें अपने अंदर से संयोजित करता है, वह उन्हें ऐसे महसूसता है जैसे वे उसके अंग ही हों। वह एक प्रकार के शाब्दिक शरीर से आवृत्त होता है, जिसके प्रति वह सदा अचेतन नहीं होता किंतु जिसके द्वारा उसकी क्रिया समस्त जगत् पर होती या चलती है।

फिर भी कवि भाषा के बाहर होता है। वह शब्दों को अंदर से उघाड़कर देखता है, मानो वह मानवीय स्थिति में सहभागी न हो, और मानो, वह अपने आदमियों की तरफ आने में शब्दों को विघ्न-बाधा मानता हो। वस्तुओं को उनके नामों से जानने के बजाय, लगता है, वह पहले उनसे एक नीरव या मौन-सा संपर्क करता है। क्यों कि जब वह अपना रुख उन दूसरी वस्तुओं की ओर मोड़ता है, जो उसके लिए मात्र शब्द हैं, और जब वह उन्हें छूता है, जाँचता है, मथता है तब वह उनमें हलकी-सी उनकी अपनी रोशनी खोज पाता है; ज़मीन, आसमान, पानी और सारी सृष्ट वस्तुओं को वह उनके खास रिश्तों में समझ लेता है।

यह न जानता हुआ कि उन्हें एक दुनियावी पहलू के संकेत या प्रतीक के रूप में कैसे बरता जाए वह शब्दों में सारे पहलुओं में से किसी एक का बिंब देखता है। सारी भाषा उसके लिए दुनिया का आईना बन जाती है। फलतः शब्द के आंतरिक अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। शब्द उसके लिए वस्तुओं के प्रतिनिधि ही नहीं, प्रतिरूप बन जाते हैं। लेकिन जब उसे शब्द की सांकेतिकता का अनुभव होता है तब शब्द का भौतिक पक्ष भी उसमें झलकता है। और फिर वह अपने शाब्दिक रूपाकार के बिंब की तरह अपना काम करता है। संकेत के रूप में भी अपनी प्रक्षानता खो देता है क्यों कि शब्द, वस्तुओं की तरह असृष्ट हैं, अलौकिक या दिव्य हैं। कवि यह निश्चित नहीं करता कि शब्द वस्तुओं के लिए हैं या वस्तुएँ शब्दों के लिए हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार शब्द और उससे संकेतिक वस्तु में एक तरह की जादुई सदृशता और सार्थकता या सांकेतिकता का दुहरा एवं आपसी रिश्ता कायम हो जाता है। कवि शब्द का इस्तेमाल नहीं करता, वह उसके विभिन्न चालू अर्थों में से कोई एक ही नहीं चुन लेता; क्यों कि उनमें से प्रत्येक ही कवि के सामने एक स्वयंक्रिय कार्य के रूप में पेश होने के बजाय उसे एक पदार्थीय गुण की तरह मिलता है, जो कि उसके देखते-देखते ही दूसरे स्वीकृत अर्थों में समाहित हो जाता है।

तो कवि प्रत्येक शब्द में, मुख्यत: अपनी कवि-दृष्टि के फल-स्वरूप ही' वैसी ही लाक्षणिकताओं का अनुभव करता है जैसी कि पिकासो ने एक दियासलाई बक्सा बनाते वक्त सँजोयी थीं— वह बक्सा पूरी तरह एक हॅट (टोप) बन गया था यद्यपि एक 'मॅच बॉक्स' भी बना रहा था। 'काँची' एक नगरी है, फूल और स्त्री है। यह एक नगरी-कुसुम है, एक नगरी-नारी है एक बाला-प्रसून है- सब कुछ एक ही वक्त में है। और इस तरह जो विचित्र वस्तु सामने आती है उसमें नदी की तरलता है, कांचन की मसृण पाण्डुर आभा है। यदि इसके अंतिम ईकार को नीरव-सा कर दें तो यह शब्द अनिश्चित काल तक एक कली-सा खिलता रहेगा। बशर्ते हम इसमें वह सप्तपुरी वाला धार्मिक एवं मिथकीय इति-वृत्त न जोड़ दें तो हमें यह एक युवती की कर्धनी-सा लुभाता रह सकता है। कांचा रूप में यह एक भावाविष्ट नेपाली प्रेमी-सा भी प्रतीत होगा !...

शब्द गद्य-लेखक को अपने से अलग कर दुनिया के बीच फेंक देते हैं, तो कवि को वे एक आईने की तरह उसकी अपनी छवि संप्रेषित कर देते हैं। कुछ कवि अपने शब्दों की कवि-परिभाषा इसीलिए दिया करते हैं क्यों कि उनके लिए वे दुहरी-तिहरी व्याहृतियाँ रखते हैं, ध्वन्यात्मकता और सुस्वनता के पारस्परिक निर्देशों का समन्वय करते हैं। इस प्रकार कवि कृति का शब्द अपने आपमें एक छोटा-सा विश्व होता है, पिण्ड में ब्रह्माण्ड की तरह।

वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में जो भाषा संकट आया था, वह वास्तव में कवि-संकट ही था। उसके सामाजिक, ऐतिहासिक कारण जो भी रहे हों, उसका प्राकट्य शब्दों के समक्ष लेखक के निर्व्यक्तीकरण से ही हुआ। वह अब यह समझ नहीं पा रहा था कि शब्दों का उपयोग करे तो कैसे; क्यों कि बर्गसाँ के शब्दों में उसकी शब्द-परिचिति ही अधूरी थी। उसे उनमें वस्तुओं के 'काले दिल' (कृष्ण पक्ष) दीख पड़ते थे। कवि जब इन पिण्डों को एक संग जुटाता है तब चित्रकार द्वारा कैन्वस पर रंग जुटाने की तरह वह एक वस्तु की निर्मिति में लगा होता है।

प्राय: कवि-मन में पहले वाक्य-योजना आती है, शब्द उसके बाद फिट हो जाते हैं। कविता के शब्दों के अर्थ तब पारस्परिक संबंध कायम कर लेते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कवि के लिए हर वाक्य की अपनी स्वरिता होती है, आस्वाद होता है। वह इनके ज़रिये प्रतिबेध के, संरक्षण के, विघटन के क्षोभ-प्रद गन्धास्वाद लेता है। वह उन्हें उनकी हद तक पहुंचा देता है। वह उन्हें वाक्यों के यथार्थ गुण बना देता है, जो अपने आप में किसी खास बात के ठीक प्रतिषेध हुए बिना ही एकदम अस्वीकृति व्यक्त करते हैं। जैसे,

"ओह ये मौसम ? ओह ये किले ?
कौन-सा आत्मा (स्व) निर्दोष है ?" (अनूदित)

इस कविता में न कोई पूछा गया है; न कोई पूछ रहा हैं; कवि भी अनुपस्थित है। प्रश्न में कोई उत्तर भी निहित नहीं है, वरन् यह स्वतः ही अपना उत्तर है। क्या यह इसीलिए मिथ्या प्रश्न है ? किन्तु यह सोचना भी गलत होगा कि कवि रिम्बो का यही "मतलब" था कि प्रत्येक में अपने-अपने दोष हैं। यदि वह यही कहना चाहता था तो क्यों नहीं स्पष्टतः कह डालता ? लेकिन वह और भी कुछ नहीं कहना चाहता। इसी से वह प्रश्न को सर्वथा उत्तर-निरपेक्ष बना देता है। वह इस सुंदर शब्द आत्मा (स्व) को एक प्रकार का 'प्रश्नवाचक अस्तित्व' दे डालता है। यह प्रश्न यहाँ वैसे ही एक वस्तु बन गया है जैसे टिंटोरेत्तो के चित्र गोल गाँथा में पीला आसमान उसका मूर्तिमन्त विषाद बन गया है। वह फिर एक संकेत ही नहीं बना रहा प्रत्युत ठोस तत्त्व में परिणत हो गया है। यह बाहर से भी देखा जा सकता है; और रिम्बो हमें उसे बाहर से दिखाने का न्यौता देता है। इसका वैचित्र्य इस तथ्य से उभरता है कि इसकी समझ के लिए हमें अपने आप को मानवीय स्थिति या दशा के दूसरी ओर, ईश्वर की ओर, रखना पड़ता है।

यदि यह बात है तो कवि-कृति में प्रतिबद्धता चाहना बेवकूफी है। यह ठीक है कि कविता की उत्पत्ति में भाव और संवेग भी और रोष, सामाजिक आक्रोश और राजनीतिक घृणा क्यों नहीं ?— रहते हैं। किंतु वह उसमें अभिव्यक्त नहीं होते जैसे कि किसी पैम्पलेट या अपराध स्वीकृति में होते हैं। गद्य-रचना में भावनाओं या अनुभूतियों को उदाहृत किया जा सकता है। किंतु कविता में यदि कवि की अनुभूतियाँ (भावनाएं) अनुस्यूत हों तो वह उन्हें पहचानता नहीं; कविता के शब्द ही उनको अपनी परिधि में ले आते हैं; वे उनमें अन्दर जाते हैं, उनकी काया पलट डालते हैं; वे उन्हें संकेतित नहीं करते, कवि की निगाह में भी नहीं।

शब्द, वाक्यांश-वस्तु अन्य चीजों की तरह असामाप्य होते हैं। अतः वे उस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुभूति को छलकाते हैं, जिसने उन्हें सिरजा है। अतः कविता के द्वारा राजनीतिक आक्रोश या उत्साह उद्रेकित करने की आशा मात्र एक दुराशा है। क्योंकि वह तो अपने पाठक को मानवीय स्थिति से हटाकर ईश्वरीय दृष्टि से उस भाषा को समझने का न्यौता देती है, जिसका मर्म उघाड़कर रख दिया गया है।

वस्तुतः अपने मूल रूप में कविता मिथक ही रचा करती है। गद्य लेखक तो उसका चित्रण भी करता है। एक दृष्टि से प्रत्येक मानव-कर्म, जो यथार्थतः आवश्यकताओं से नियंत्रित और उपयोगिताओं से संप्रेरित होता है, अंततः एक साधन ही तो बन जाता है। उस पर कोई खास ध्यान भले ही न दे किन्तु नतीजे पर तो सब की आँख लगी ही रहती है। मसलन्, जब मैं कलम उठाने के लिए अपना हाथ बढ़ाता हूँ तो मुझमें इस क्रिया की एक उड़ती-सी प्रच्छन्न संचेतना बनी रहती है। यद्यपि देखता तो मैं कलम को ही हूँ। इस तरह आदमी अपने उद्देश्यों द्वारा भी अलगाव की स्थिति में आ जाता है। कविता इस संबंध को उलट देती है। दुनिया और वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण नहीं रहतीं; वे उस कर्म का बहाना बनी रहती हैं, जो स्वयं ही अपना उद्देश्य बन जाता है। एक गुलदस्ता वहाँ रखा है ताकि कोई लड़की उसे भरने का सुशोभन कार्य करे। त्रोनान युद्ध होता है ताकि हेक्तार और आचिलेस उस वीर कार्य में प्रवृत्त हों।

इस प्रकार कर्म अपने उन लक्ष्यों से अलग हुआ, जो कि धुँधला गये हैं, कौशल या शौर्यताण्डव का कर्म बन जाता है। फिर भी, कवि, उन्नीसवीं सदी से पहले, अपने उद्यम की सफलता के प्रति चाहे जितना लापरवाह क्यों न रहा हो, अपने समाज से समग्रतः सुसंगत ही रहा था। यद्यपि वह भाषा को उसी मतलब से इस्तेमाल नहीं करता था जो कि गद्य-रचना का होता है; किन्तु उसकी भाषिक निष्ठा किसी भी गद्य लेखक से कम नहीं होती थी।

बूर्ज्वा समाज में कवि और गद्य-लेखक दोनों ही एक स्वर से शसे न रहने योग्य घोषित करते हैं। कवि का कार्य अब मानव का मिथक रचना है किन्तु वह सफेद जादू से काले जादू की ओर आ गया है। मानव ही अब सदा ही अंतिम और स्वसंपूर्ण उद्देश्य घोषित किया जाता है किन्तु वह अपने उद्यम की सफलता के कारण एक उपयोगितावादी सामूहिकता में खींच लिया गया है। फलतः सफलता नहीं पराजय ही मानवीय कार्यों की पृष्ठभूमि में बनी रहती है और वही मानव का संक्रमण मिथक के प्रति करा सकेगी। एक पर्दे की तरह पराजय मानव के प्रक्षेपणों या प्रयोजनाओं की अनन्त शृंखला को रोकती है और वही उसे अपनी विशुद्ध स्वता या निजता के प्रति परावर्तित करती है। दुनिया महत्त्वहीन रहती है परंतु वहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अब पराजय के बहाने में परिणत हो जाती है। वस्तु का आखिरीपन भी यही है कि वह आदमी का रास्ता रोककर उसे अपने प्रति उन्मुख कर देती है।

मानवीय उद्यम के दो पहलू हैं; वह सफलता भी है और विफलता भी। इस पर सोच के लिए यह द्वंद्वात्मक योजना अथवा प्रारूप अपर्याप्त है। इसी से हमें अपनी शब्दावली और युक्ति के चौकठे और भी अधिक लचीले बनाने पडेंगे। "मैं (सार्त्र) किसी दिन उस विचित्र यथार्थ (वास्तविकता), इतिहास, के वर्णन का प्रयत्न करूँगा, जो न तो वस्तुनिष्ठ है, न ही पूर्णत: विषयिनिष्ठ; जिसमें द्वन्द्वात्मक तत्व भी एक प्रकार के अद्वन्द्वात्मक तत्त्व से विरोधित अन्तर्वेधित और अवमृष्ट किया जाता है किन्तु जो (अद्वन्द्वात्मक) स्वयं ही अभी एक द्वन्द्वात्मक-सा ही प्रतीत होता है।" लेकिन यह तो दार्शनिकों का मामला है। साधारणत: कोई भी मानुस से दोनों चेहरों पर विचार नहीं करता; कर्मरत मानव उसका एक चेहरा देखता है तो कवि दूसरा।

जब सारे औजार टूट जाते हैं या नाकाम हो जाते हैं, जब योजनाएँ उड़ा दी जाती हैं और सारा प्रयत्न व्यर्थ होता है तब दुनिया एक प्रकार की बाल-सुलभ भीषण ताज़गी से भरी जान पड़ती है, न उसमें कोई आधार होते हैं, न रास्ते। इसमें सर्वाधिक यथार्थता प्रतीत होती है क्यों कि यह आदमी को पीस डालती है। और मानवीय कर्म जैसे-जैसे साधारणता पाता है वैसे हीं पराजय वस्तुओं को पुन वैयक्तिक यथार्थ से संयुक्त कर डालती है। यों देखा जाय तो आदमी अपने विनाशक तत्त्वों से कहीं अधिक मूल्यवान होता है किन्तु वह वस्तुओं से संघर्ष या प्रति द्वंद्विता किसी इंजीनियर या कप्तान की तरह उनकी " बहुत थोड़ी-सी यथार्थता " में नहीं, " बहुत पूर्ण यथार्थता " में कहता है; और यह उसके पराजित व्यक्तित्व के अस्तित्व से होती है। तब पराजय ही मुक्ति-सी प्रतीत होती हैं।

कवि-भाषा प्राय: गद्य के खंडहरों में उपजती है। यदि यह सच है कि शब्द एक धोखा है और कोई भी संवाद समग्रत: सभव नहीं होता तो प्रत्येक शब्द अपना व्यक्तित्व पुनः प्राप्त कर हमारी पराजय का साधन बनता है और इस प्रकार असंवाद्य को प्राप्त भी करता है। यह नहीं कि वहाँ कोई और ही वस्तु संवाद्य या संप्रेष्य होती है; होता यह है कि शब्द का अर्थ ही पूर्णतया असंप्रेष्य या असंवाद्य हो जाता है। यही वजह है कि पराजय ही सम–सामयिक कविता में मूलस्वर-सी लगती है। जो समाज बहुत अधिक सुसंहत या धार्मिक होता है, उसमें इस पराजय को भी राज्य द्वारा मुखौटा पहना दिया जाता है अथवा धर्म इसे उद्धारित करता है। कम सुसंहत या धर्म–निरपेक्ष समाज में, जैसी स्थिति कि प्राय: हमारे लोकतंत्रों में होती है, यही काम कविता करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

कविता हारते हुए व्यक्ति को विजेता घोषित करती है। सच्चा कवि हार को ही चुनता है। जीत के लिए वह मृत्यु के चुनाव से भी नहीं कतराता। मैं यह फिर कह दूँ यहाँ, कि मैं सम-सामयिक कविता की बात करता हूँ। इतिहास तो कविता के और भी प्रकार पेश करता है। किन्तु उनका अपने युग से कोई विशेष संबन्ध दिखाना मेरा काम नहीं है। इसलिए यदि कोई कवि की प्रतिवद्धत्ता की बात किये बिना नहीं रहना चाहता तो हम यह कह सकते हैं कि कवि एक ऐसा आदमी होता है जो हार के लिए ही प्रतिवद्ध होता है। पराजय की मनोवृत्ति उसकी कविता का परिणाम नहीं स्रोत होती है। यही कवि के कठोर–भाग्य का आंतरिक अभिप्राय होता है। वह उस अभिशाप से हमेशा ही रिश्ता जोड़ता है, और उसे बाह्य हस्तक्षेप भी बताता है। जबकि सच यह है कि उसे यह खूब पता रहता है कि समग्र मानवीय उद्यम का अन्त संपूर्ण पराजय में ही होना है। कवि इसीलिए अपने जीवन में विफल होकर अपनी वैयक्तिकक पराजय की अनुभूति को मनुष्य की सर्व-सामान्य हार की गवाही बना देता है। इसलिए वह गद्य–लेखक की तरह संघर्ष तो करता है किन्तु गद्य-लेखक अपना संघर्ष बृहत्तर सफलता या विजय के नाम पर करता है तो कवि उस पराजय के नाम पर, जो प्रत्येक विजय में सदा-सर्वत्र अंतर्हित होती है।

कवि को प्रतिवद्धता भले ही निषिद्ध हो तो क्या गद्य-लेखक को भी प्रतिवद्धता से मुक्त रहना चाहिए? दोनों में समानता क्या होती है? यह ठीक है कि कवि और गद्य-लेखक दोनों ही लिखते हैं। किंतु इन दोनों के लिखने में लिखावट में हुई गति के सिवाय और कुछ भी सामान्य नहीं होता। उन दोनों की अपनी दुनियाएँ परस्पर असंप्रेष्य या असंवाद्य ही होती है। एक के लिए जो ठीक होता हैं वही दूसरे के लिए गलत या बे-ठीक होता है। गद्य सारतः उपयोगितावादी होता है। गद्य-लेखक शब्दों का उपयोग करता है। कोई उससे अपने मामूली काम चलाता है तो कोई युद्ध-घोषणा करता है। लेखक एक वक्ता भी होता है। वह शब्दों का सांकेतित, प्रदर्शित, आदिष्ट, अस्वीकृत, मध्य प्रविष्ट या प्रतिक्षिप्त, याचित, अवमानित, अनुरोधित अथवा अपराचित करता है। यदि वह इस में विकल होता है तो क्या वह कवि बन जाता है? नहीं; वह सिर्फ एक लेखक ही बना रहता है, जो बोलता है लेकिन कहता कुछ भी नहीं है। हमने भाषा का आंतरिक रूप तो बहुत उघाड़ा है लेकिन अब वह समय आ गया है कि हम उसका सही रूप भी समझें।

क्यों कि यह सच है कि कविता-मात्र में गद्य का अन्यतम रूप, मतलब सफलता, अवश्य रहती है। इसी तरह शुष्कतम गद्य में भी कहीं-न-कहीं कविता का लेश होता है। अर्थात्, थोड़ी-बहुत हार तो उसमें होती ही है; कोई भी गद्य-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेखक वह सबकुछ नहीं कह पाता जो वह कहना चाहता है; या तो वह बहुत ज्यादा कह डालता हैं या पर्याप्त नहीं कह पाता; उसका प्रत्येक मुहावरा एक तरह की बाजी लगाना हैं, एक जोखिम की मंजूरी है। जो इसके प्रति बहुत अधिक सचेतन होता हैं उसके शब्द अधिक ध्यान खींचते हैं, जैसा कि वालेरी ने दिखाया है कि कोई भी व्यक्ति शब्द के अन्तस्तल तक नहीं पहुँच पाता। अतएव प्रत्येक शब्द एक साथ ही जहाँ अपने स्पष्ट और सामाजिक अर्थ में प्रयुक्त होता है वहीं उसकी अज्ञात व्याहृतियाँ भी प्रतिध्वनित होती हैं—यहाँ तक कि उसकी अपनी गढ़न भी झलक पड़ती है। पाठक भी इसके प्रति प्रायः संवेदनशील होता है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि कुछ भी बोलते वक्त हम संवाद या संप्रेषणा के स्तर पर नहीं होते, प्रत्युत बात की खूबी और मौके से ही परिचालित होते हैं। गद्य की चुप्पियाँ काव्यमय होती हैं क्यों कि वे उसकी हदें खींच देती हैं। मैं यहाँ और भी अधिकतर सुस्पष्टता के लिए ही विशुद्ध गद्य और विशुद्ध कविता की अत्यंतिक स्थितियों पर विचार कर रहा हूँ। इस का यह मतलब नहीं कि हम बीच की कुछ सतत विद्यमान शृंखलाओं द्वारा, कभी भी, कविता से गद्य में संक्रमित हो सकते हैं। यदि कोई गद्य लेखक अपने शब्दों को अत्यधिक दुलारने के लिए आतुर रहता है तो उसके गद्य के विचार बिम्ब छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और हम आडंबरी निरर्थकता में फँस जाते हैं। यदि कोई कवि हमें कहीं किसी जोड़ता है, कुछ समझाता है, या कुछ सिखाता है तो कविता भी गद्यात्मक बन जाती है। फिर वह बाज़ी हार जाता है। यह उन संकुलित संरचनाओं की बात है जो अशुद्ध किंतु सुपरिभाषित होती हैं।

गद्य-रचना प्रायः संभाषणों या व्याख्यानों के काम आती है। उसमें शब्द सर्व-प्रथम वस्तु नहीं उनकी विशिष्टताओं के वाचक होते हैं। उनके प्रयोग में यह नहीं देखा जाता है कि वे स्वतः प्रिय हैं या अप्रिय। नज़र उनकी इस योग्यता पर रहती है कि वे अभिप्रेत वस्तु या विचार का ठीक निर्देश कर पा रहें या नहीं। यही बात है कि कभी-कभी हमें वह विचार तो याद रहता है, जो किसी ने हमें सिखाया है; किंतु जिन शब्दों में वह विचार व्यक्त हुआ था उनमें से एक भी शब्द याद नहीं आता।

गद्य सबसे पहले मन की एक वृत्ति होती है। वालेरी ने ठीक ही कहा था कि गद्य तब होता है जब कोई शब्द हमारे सामने ऐसे गुज़रता है जैसे सूरज के सामने से काँच का टुकड़ा। जब कोई खतरे या तकलीफ में होता है तो रक्षा के लिए वह कोई भी 'औज़ार' लपक लेता है। खतरा निकल जानेपर उसे यह भी याद नहीं रहता कि वह औज़ार हथौड़ा था या डंडा। वह उसे अपनी छठी अंगुली या तीसरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टांग-संक्षेपत:, खालिस कार्रवाई की तरह-अपना लेता है। भाषा भी इसी तरह हमारा खोल या एँटेनी बन जाती है। वह हम दूसरों से बचाती है, उनके बारे में जानकारी देती है; वह हमारी इंद्रियों को विस्तारित कर देती है– एक ऐसी 'तीसरी आँख' बन जाती है, जो पड़ोसी के दिलो-दिमाग की झाँकी करा देती है। हम भाषा में अपने शरीर की तरह बसे रहते हैं। जब हम इसके बाहर के दूसरे लक्ष्यों की ओर बढ़ते हैं तो उसका स्वयंस्फूर्त अनुभव करते हैं। जैसे कि अपने हाथ-पैरों को महसूसते हैं। जब कोई अन्य व्यक्ति उसका उपयोग करता है तो हमें वह उसके अंगों जैसी ही दीख पड़ती है।

शब्द को हम जीते हैं, उससे मिलते हैं। दोनों दशाओं में यह क्रिया-प्रतिक्रिया का खेल बन जाता है। यह कर्म का एक विशेष क्षण होता है, जो अपने से बाहर कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। चेष्टाहीनता की एक ऐसी दशा भी होती है जब काम करने की सारी संभावनाएँ, स्थितियों की समझ और दूसरे लिंग के व्यक्तियों से सामान्य संबंध की शक्ति सभी कुछ खो जाता है। उस हालत में हम भाषा-संरचना भी खो देते हैं। सच पूछिए तो उसका और बिखरना और सब के मूल में होता है।

गद्य लेखक यह नहीं कह सकता कि उसका लक्ष्य तो सिर्फ विचार या मनन करना है। क्योंकि स्वत:स्फूर्त चिंतन या प्रातिभ ज्ञान मौन रहता है जब कि भाषा का उद्देश्य संवाद या संप्रेषण होता है। यह बात दूसरी हैं कि कोई अपने मौन चिंतन के परिणाम को कुछ शब्दों में कागज़ पर उतार दे। रचनाकार के लिए यह काफी होता है कि वह यह जान ले कि उसके मन में क्या था। और जब वह यह निर्णय करता है कि इसे दूसरों को संप्रेषित करना है तो उसे भाषा का, शब्दों को वाक्यों में एकत्र करने का और सर्वोत्कृष्ट मूल्यों का निर्णय करता पड़ता है। प्राय: जब कोई नया लेखक कुछ लिखना चाहता है तो उससे पूछा जाता है कि क्या उसके पास कुछ कहने को है। यदि नहीं हैं तो वह लिखने का कष्ट क्यों करता है। इस बात का आशय भी उक्त संदर्भ में ही स्पष्ट होता है।......

शब्द कोई ऐसी मन्द-मन्द बयार नहीं जो वस्तुओं की सतह पर धीरे से बहती है, जो उन्हें छूती है, परन्तु बदलती नहीं है। याकि वक्ता केवल एक साक्षी है, जो शब्द द्वारा अपना हानिरहित चिन्तन जुगाड़ देता है। वास्तव में बोलना माने कुछ करना है; जिस वस्तु का भी कोई नाम रखा जाता है वह ठीक वही नहीं रहती जो पहले थी; वह अपनी मासूमियत खो देती है। बोलने से हम स्थितियों को अपने और दूसरों के प्रति व्यक्त करते हैं क्योंकि हम उन्हें परिवर्तित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी करना चाहते हैं। प्रत्येक शब्द जो हम बोलते हैं हमें दुनिया में कुछ और भी अधिक संपर्कित करना है और उसी प्रकार हमें कुछ मुक्त भी करता है क्यों कि हम उसके परे भविष्य की ओर भी जाते हैं।

इसलिए गद्य-लेखक से यह पूछा जा सकता है कि तुम दुनिया का कौन--सा पहलू उघाड़ना चाहते हो और इसके द्वारा दुनिया में क्या-कुछ परिवर्तन लाना या करना चाहते हो प्रतिवद्ध लेखक यह जानता है कि शब्द कर्म हैं, और यह भी कि व्यक्तीकरण परिवर्तन करना है और इसके लिए योजना बाँधना भी जरूरी है। वह समाज और मानवीय स्थिति के निष्पक्ष चित्रण का असंभव सपना नहीं देखता। मानव ऐसी सत्ता है कि उसके प्रति कोई थी, यहाँ तक कि भगवान भी निष्पक्ष नहीं रह सकता। क्यों कि यदि भगवान है, जैसा कि वह रहस्यवादियों को जान पड़ता है, तो उसे भी मानव-संबंधित स्थिति में ही होना पड़ेगा। वह तो ऐसी सत्ता है कि वह जो कुछ देखता है उसे परिवर्तित किये बिना नहीं रह सकता। उसकी दृष्टि जमाती है, नष्ट करती है या गढ़ती है, अथवा, जैसा कि शाश्वतता करती है, वस्तु को अपने आप में ही वदल डालती है, मनुष्य और जगत् अपने को अपनी यथार्थता में तभी व्यक्त करते हैं जब वे प्रेम, घृणा, क्रोध, डर, खुशी तिरस्कार, प्रशंसा, आशा या मायूसी में होते हैं।

यह सही हैं कि प्रतिवद्ध लेखक औसत दर्जे का भी हो सकता है। और उसे इसका अहसास भी हो सकता है। लेकिन उसे भी सोचना तो यही है कि "यदि मेरी रचना सब पढ़ेंगे तो क्या होगा?" वह यह जानता है कि उसके 'प्रेम' और 'घृणा' ये शब्द उन लोगों के दिल में घृणा और प्रेम जगा सकते हैं, जिन्होंने अभी तक अपने भावों के बारे में कुछ भो ठीक नहीं किया है। उसे मालूम है कि शब्द एक प्रकार के "भरे हुए तमंचे हैं," उसके बोलते ही वे दाग दिए जाते हैं। उसे एक आदमी की तरह चांदमारी करनी है, लक्ष्यवेध करता है. बच्चों की तरह इधर-इधर गोलियाँ या छर्रे जाया नहीं कर देने हैं। सिर्फ बच्चे ही आँखें मूंदकर फटाक् आवाज सुनने के लिए लक्ष्य-हीन गोली दाग सकते हैं।

बाद में, हम इस पर भी सोचेंगे कि साहित्य का लक्ष्य या उद्देश्य क्या है। किंतु अभी इतना कहा जा सकता है कि लेखक दुनियाँ को उघड़ता या दर्शाता है, खास तौर से वह किसी एक व्यक्ति को दूसरों के प्रति उघाड़ता है ताकि ये दर्शक पूर्णतः उघडी हुई वस्तु के प्रति समूची जिम्मेवरी मंजूरें। लेखक का यह काम है कि वह किसी को भी दुनिया के प्रति अनजान न कभी रहने दे, कोई भी पाठक इतनी मासूमियत न ओढे रहे कि उसे यह समझ नहीं कि उसके चारों ओर क्या है, और हो रहा है। एक वार भी जो भाषा की दुनियाँ में सार्थकता या अंतर्गर्भता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के परिवेश में घुस पड़ता है, वह यह बहाना कभी नहीं कर सकता कि मैं तो बोल ही नहीं पाता। उससे बाहर जाने का फिर कोई रास्ता ही नहीं रहता।

शब्द जब वाक्य गढ देते हैं तो प्रत्येक वाक्य अपने आप में समूची भाषा को समेट लेता है, वह फिर सारे विश्व को संदर्भित कर देता है। मौन भी तब शब्दों से अपने संबंध में परिभाषित होता है, जैसे कि संगीत में खाली या अवरूद्ध क्षण अपने चारों ओर के आगे-पीछे के स्वर-समूह से सार्थक होता रहता है, व्याख्यायित हो जाता है। मौन या चुप्पी का अर्थ मूकता नहीं है, गूंगा होना नहीं है। यह तो बोलने से मना करना है, और इसलिए बोलते रहना है। इसलिए यदि कोई लेखक दुनिया के किसी पहलू पर चुप रहता है या चुप्पी से गुज़र जाता है तो उससे हमें यह सवाल पूछने का हक है : " तुमने यह के बजाय वह क्यों कहा था—और चूंकि तुम परिवर्तन के लिए बोलते हो—तुम उसके बजाय इसे क्यों परिवर्तित करना चाहते हो ? " कोई भी व्यक्ति लेखक इसीलिए नहीं बन जाता कि उसे कुछ बातें कहनी हैं बल्कि वह इसलिए बनता है कि उसे कुछ बातें एक खास तरीके से कहनी हैं।

अतः यह निश्चित है कि शैली ही गद्य का महत्व तय करती है। किन्तु यह ऐसी हो कि लोगों का उस पर ध्यान न जाए। चित्र में सौंदर्य देखते ही मालूम हो जाता है, पुस्तक में वह छिपा रहता है। वह चेहरे या आवाज की तरह हमें प्रभावित करता है। वह बिना किसी तरह का दबाव डाले ही हमें अपनी ओर झुका लेता है। झुकनेवाले को लगता तो यही है कि वह तर्कों या दलीलों के कारण मान रहा है लेकिन वास्तव में वह अदृश्य जादू से ही मुग्ध होता है। जैसे प्रार्थना में, संगीत में, नृत्य में हम केवल विश्वास, स्वरों या क्रियाओं से ही नहीं उनके सामरस्य, सौन्दर्य एवं संतुलन से अपने भावों को उद्वेलित पाते हैं, वैसे ही साहित्य में भी हम केवल शब्दों या मुहावरों से नहीं उनके सुसमंजस सौन्दर्ययुक्त संतुलन से उद्‌बुद्ध होते हैं।

गद्य में निर्दोष रसबोध तभी होता है जब कि वह उसमें छलकाया नहीं, छोड़ दिया जाता है। इसलिए प्रतिबद्ध साहित्य रूप-विधान के बारे में पहले से ही कुछ नहीं सोचता या कहता; उसमें तो सारा जोर कथ्य पर ही दिया जाता है। कोई भी रचनाकार अपनी शैली स्वयं ही गढ़ता है; और उस पर विचार भी बाद में किया जाता है। यह सच है कि विषय ही अपनी शैली सुझा देते हैं किन्तु वे उसका आदेश नहीं देते हैं। शैलियाँ शाब्दिक कृतित्व से बाहर की वस्तु नहीं है। यदि रचनाकर अपने विषय से अवगत है—चाहे वह तितलियाँ हों या यहुदियों की दशा—तो वह भलीभाँति सोच सकता है कि उसे कैसे लिखना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गिरोंदो का यह कहना कि—"असली निर्णय तो शैली का करना पड़ता है, विचार तो बाद में आ ही जाते हैं"—ठीक नहीं है। प्रायः दोनों निर्णय एक ही होते हैं किन्तु अच्छे लेखकों में शैली का निर्णय या चुनाव कथ्य से पहले नहीं हुआ करता। प्रतिबद्धता से कला की कोई हानि नहीं होती। प्रत्युत, जैसे भौतिकी गणित के सामने नयी समस्याएँ रखकर नयी प्रतीकसरणि से लाभान्वित होती है, वैसे ही समाज और अतीन्द्रियता की नयी जरूरतें कलाकार से भी नयी भाषा और तकनीक गढ़वा लेती हैं। इसलिए कला कभी विशुद्धिवादियों का पक्ष नहीं लेती। यदि हम आज १८ वीं सदी की भाषा में इंजिनों और किसान-मजदूरों या कामगारों की बात नहीं करते तो इसलिए कि इसके लिए वह मौजूं नहीं है।

अतः साहित्य में हम प्रतिबद्धता का विरोध 'कला कला के लिए' का नारा लगाकर भले ही कर लें वह साहित्य की सुस्पष्ट धारणा पर आधारित नहीं हो सकता। वास्तव में सौंदर्य-बोध की विशुद्धता की बात भी १९ वीं सदी के बूर्ज्वा समाज की देन है, उनकी एक चालाकी-भरी कारिस्तानी है यह। विशुद्ध कला और छूंछी या रिक्त कला में कोई फर्क नहीं है। उन्हें अपने को शोषक नहीं फिलस्तीन या औसत दर्जे का कलाप्रेमी कहलाना ज्यादा पसंद था। अतः वे यही चाहते थे कि लेखक को तो केवल 'सँदेसा' देना है; उसे दुनियाँ के झंझटों से क्या मतलब, उसे मुहावरे की खूबसूरती और बिम्बों की उपयुक्तता की क्या जरूरत है?......

हमें यह भी नहीं भूलना है कि अधिकांश आलोचक कब्रगाह के संतरी ही होते हैं। ये किसी पुस्तकालय की अपेक्षा अधिक खुशी नहीं बिखेरते। आलोचक अच्छी तरह नहीं जी पाता, उसकी पत्नी भी उतनी प्रशंसा नहीं करती जितनी कि करनी चाहिए; उसकी संतान भी कृतघ्न होती है; महीने की पहली तारीख उस पर हमेशा कड़ाई ही बरतती है। बस वह एक ही काम अच्छी तरह कर लेता है; और वह यह कि, अपने पुस्तकालय में घुसकर आलमारी के खाने से एक किताब उठा ले और उसे पढ़ने बैठे, इस तरह कि एक मृत वस्तु में जीवन फूंक जाय। यह एक तरह की आविष्टता है चूंकि वह अपना जीवन्त शरीर मरे हुओं को सौंप देता है। ताकि वे प्राणवंत हो उठें। और एक दृष्टिकोण से यह उसका परा-दुनियाँ से संपर्क है। किताब न तो वस्तु है, न कृतित्व, न विचार। वह एक ऐसे अशरीरी जगत् से घिर जाता है, जिसमें मानवीय अनुभूतियाँ— चूंकि अब वे हमें प्रभावित नहीं करतीं, केवल आदर्श या मूल्य बन गयी हैं। वह सोचता है कि उसका ऐसे जगत् में प्रवेश हो गया है, जो उसकी रोज़मर्रा की अपनी जिंदगी की सचाई के अनुरूप और अवबोध्य है। वह सोचता है कि प्रकृति भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कला का अनुकरण करती है; और अपनी उस पढ़ाई के दौरान उसे लगता है कि उसका दैनिक जीवन भी एक मात्र आभास ही बन गया है। उसकी शिकायतो पत्नी या कुबड़ा बेटा भी इसीलिए आभास-मात्र हैं, जिन्हें वह इसलिए बरदाश्त करता है कि शेक्सपियर ने ऐसे ही अनेक चरित्र चित्रित कर रखे हैं!...

आलोचक प्राय: वास्तविक जगत् से केवल इतना ही संबंध रखते हैं कि वे इसमें खाते पीते हैं। उन्हें श्रेणीवद्ध बातें ही ज्यादा पसंद आती हैं? उसका वास्ता बंद झगड़ों या ऐसी कहानियों से ही होता है, जिनका अन्त उन्हें पहले से ही मालूम होता है। उन्हें लगता है कि सारा साहित्य ही एक तरह का पुनरुक्ति-भांडार है और यदि प्रत्येक नये गद्य लेखक ने एक नये तरीके से कुछ कहना चाहा है तो सिर्फ इसलिए कि उसे कुछ नहीं कहना है! हमारे आलोचकों की सारी धारणाएँ एक से दूसरे खयाल तक घूमती रहती हैं और वे दोनों ही गलत होते हैं।..

एक बात खास तौर से ध्यान रखने लायक है। मरे हुए सिंहों की अपेक्षा जिन्दा कुत्ते ज्यादा अच्छे शक्तिशाली होते हैं। अतीत के अच्छे से अच्छे लेखकों की अब कोई महत्ता नहीं रही। यह भी याद रहे कि कोई पुस्तक या ग्रंथ उनके लिए सन्देशपूर्ण तभी कहलाता है जब उसमें से वे ऐसा कुछ निकाल लें जो लेखक ने कभी सोचा भी नहीं था। यह उनकी अनचाही आत्माभिव्यक्ति मानी जा सकती है। इसे बहुत महत्वपूर्ण बनाकर पेश किया जाता है लेकिन वस्तुत: यह कुछ भी नहीं होता।

विचार आदमी को छिपा लेते हैं यद्यपि हमारी खास दिलचस्पी तो उसी में होती है। हमें वही दलील पसन्द आती है जो आंसुओं पर मुखौटे की तरह चढी होती है। दलील आँसुओं की अश्लीलता हरा देती है और आँसू अपना स्त्रोत तीव्र संवेगों में दिखाकर दलीलों की आक्रामकता हटा देते हैं... कला पर गहराई से सोचने में जो आनंद मिलता है हमें वह इसलिए नहीं कि भावनाएँ या दलीलें (युक्तियाँ, तर्क) हमें प्रभावित करते या छूते हैं।....

हमारे लिए तो लेखन एक उद्यम है। क्यों कि लेखक मरने से पहले जीवित होते हैं। क्यों कि हम यही सोचते हैं कि अपनी किताबों में यथासंभव सही रहें। क्यों कि हम यह जानते हैं कि आगामी सदियों में भले ही हम गलत साबित हो जाएं लेकिन यह कोई ऐसा कारण नहीं कि जिसके प्रभाव में हम अभी से अपनें को गलत दिखाएं। क्यों कि हम यह मानते हैं कि लेखक को अपनी कृतियों में पूरी तरह प्रतिबद्ध रहना है, लेकिन इस तरह नहीं कि वह अपनी निपट निष्क्रियता अपने दुर्गुणों के चित्रण से ही दिखाता रहे—दुर्गुण, या दुर्भाग्य या दुर्बलताएँ— बात

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वही है। लेखक को अपनी दृढ़ इच्छा और निर्वाचन इसी सम्पूर्ण उद्यम से दिखाने हैं, जिसे हम जीवन कहते हैं और जो हममें से प्रत्येक व्यक्ति होता है। इसीलिए यह उचित है कि हम इस समस्या को शुरू से ही लें और फिर अपने आपसे पूछें कि आखिर "कोई लिखता क्यों है ?"

(क्रमशः)

पृथ्वीनाथ शास्त्री

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य समालोचना और मुक्ति

मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार विचारधारा याने वर्गीय समाज में मनुष्यों का अपनी भूमिकाओं को जीना और उनका अनुभव करना है। मनुष्यों के सामाजिक स्थान और कार्य से सम्बद्ध मूल्य, विचार एवं बिंब समाज के समग्रता के ज्ञान में बाधक होते हैं, सभी कलाओं का संबंध विचारधारा से होता है किंतु यह संबंध व्यामिश्र होता है। एक तो जब हम मिथ्या चेतना के वशीभूत होकर यह कहते हैं कि साहित्य विचारधारा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है (फूहड़ मार्क्सवाद) और दूसरे, प्रामाणिक कला सदैव ही विचारधारा की सीमाओं का अतिक्रमण कर के शाश्वत सत्यों को प्रस्तुत करती है (स्वच्छतावादी आदर्शवाद) तब हम इस व्यामिश्रता को नज़रअंदाज़ करते हैं। इन दोनों अतिवादों के विरुद्ध अल्यूसर का कथन है कि कला का विचारधारा के साथ विशिष्ट संबंध होता है किंतु कला विचारधारा में रूपान्तरित नहीं की जा सकती। विचारधारा उन काल्पनिक पद्धतियों का संकेत करती है जिनका मनुष्य यथार्थ जगत् में अनुभव करते हैं। साहित्य भी हमें इसी प्रकार का अनुभव देता है किंतु एक विशिष्ट स्थिति में जिए जानेवाले जीवन के धारणात्मक ज्ञान के स्थान पर वह जीवन का एहसास कराता है। यद्यपि साहित्य विचारधारा से संपृक्त होता है तथापि वह अपने को उससे अलग कर जिस विचारधारा से उसका उद्गम होता है, उसकी रूपरेखा को भी देखने का अवकाश हमें प्रदान करता है। इस प्रकार साहित्य हमें विचारधारा के सम्यक ज्ञान की ओर गतिशील करता है जिसे समालोचना कहते हैं। उपर्युक्त पद्धति से साहित्य को विचारधारा से संपृक्त करने के लिए भ्रांति एवं कल्पना-प्रवण लेखन के अन्तर को जानना उपयोगी होगा। भ्रांति मनुष्यों का सामान्य विचारधारणात्मक अनुभव है। और वह ऐसी सामग्री है जो साहित्य का उपजीव्य होती है। साहित्य विचारधारा से अपने को अलग कर विचारधारा की सीमाओं का ज्ञान कराता है। कला एक कल्पनाप्रवण चेतना है जो भ्रांतिपूर्ण चेतना से मुक्ति के स्वरूप की हो सकती है। संरचनात्मक और रूपविधानात्मक स्वरूप में साहित्य एक निश्चित शक्ति प्राप्त कर के हमें वैचारिक चेतना की रहस्यात्मकता से दूर ले जाता है।

मार्क्स के अनुसार यद्यपि बुर्ज्वा विचारधारा में रहस्यात्मकता की अपार शक्ति होती है तथापि रहस्यात्मकता कभी संपूर्ण नहीं होती। संपूर्ण छलयोजना के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिद्धांत के प्रति मार्क्स की सहानुभूति अत्यल्प है। मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में सृजनशील कलाकार जिस समाज में वह रहता है उस समाज की श्रेणियों से स्वयं को मुक्त करने में समर्थ होता है और कुछ सीमा तक सृजनात्मक प्रक्रिया में व्यस्त होकर स्वयं को मुक्त करता भी है। यहाँ पर हम शायद कह सकते हैं कि साहित्य और समालोचना दोनों में मुक्तिदायी कुछ समाज प्रवृत्तियाँ होती है। कला की यह मुक्तिदायिनी अभिरुचि कला को सामाजिक ढाँचे को तोड़ने की शक्ति प्रदान करती है। साहित्य की यह विद्रोही प्रवृत्ति, मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार, वहाँ देखी जा सकती है जहाँ पूँजीवादी समाज में कला के प्रति विरोध भावना दिखाई पड़ती है और अधिक महत्वपूर्ण रूप में वहाँ जहाँ महान साहित्य की कलाकार के उद्देश्यों को अतिक्रमित करने की क्षमता एवं शोषितों के प्रति उन्मुख होने की उसकी शक्ति प्रकट होती है जैसा कि हाइनरिश हाईन ने शेक्सपीअर के बारे में दिखाया है। महान कला की यह अनिवार्यतः प्रगतिशील प्रकृति ही ल्यूकास के सौन्दर्यशास्त्र का बुनियादी समालोचनात्मक तत्व है। कला की यह मौलिक अभिरुचि न केवल उसके आशय में सम्मिलित है बल्कि उसके रूप विधान में भी लेखक अपने अन्तर की गतिशील ऊर्जा के अनेक तत्वों को एक समग्र रूपविधान में संपृक्त करता है और एक ठोस अनुभव में रूपान्तरित करता है। लेकिन यह सब करने की उसकी क्षमता केवल वैयक्तिक कौशल पर निर्भर न रहकर के ऐतिहासिक अवस्थाओं पर भी निर्भर करता है। महान यथार्थवाद इतिहास के निर्माण के क्षणों में जन्म लेता है।

किन्तु लूकास का सौन्दर्यशास्त्र इस प्रश्न को अछूता छोड़ देता है कि महान कला का विद्रोही रूप किस प्रकार संभव है। वैयक्तिक मानसशास्त्र और सामाजिक इतिहास के मिलन की भाषा में दिया गया उत्तर समस्या का प्राकृतिकीकरण करता है। प्रत्युत् मेरे विचार से कला और समालोचना की संभावनाओं का अधिक सूक्ष्म संरचनात्मक विश्लेषण होना चाहिए और साथ ही मेरा सुझाव है कि इस प्रकार का कला के संभावनापूर्ण क्रांतिकारी उद्देश्य का संरचनात्मक विश्लेषण चार स्तरों पर किया जा सकता है। विश्लेषण के ये चार स्तर कला की मुक्तिदायी प्रवृत्ति को उसकी उत्पादन की स्थितियों में देखने में ही हमारी सहायता कर सकते हैं। मुझे लगता है कि अवधारणात्मक स्तर पर सामाजिक चेतना के रूपों की विचारधारा से अलग करने की आवश्यकता है। सामाजिक चेतना के रूप ऐसे आंतरिक नियामक तत्व हैं जो विचारधारा की बनावट में सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार, ये रचनात्मक तत्व कांट के आकलन-संबंधी अनुभव-पूर्व आकारों से तुलनीय हैं। चेतना के ये रूप अनुभव के धारणात्मक प्रारूपों के गठन में आंतरिक नियमों का कार्य करते हैं और इस प्रकार, विचारधारा की पुष्टि में सहायक होते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। ऐसी अवस्था में प्रभावहीन कला का निर्माण होता है। किंतु रूपात्मक तत्वों का उपयोग समालोचनात्मक रूप में भी किया जा सकता हैं। कला की इस समालोचनात्मक क्षमता को वर्गीय समाज के सामाजिक रचना-विधानों में कला को स्थानांकित करके देखना आवश्यक है। इस दूसरे स्तर पर वाल्टर बेंजामिन का सौन्दर्य सिद्धांत आवश्यक नये प्रश्नों और परिप्रेक्ष्यों को हमारे लिए प्रस्तुत करता है, साहित्य भले ही सामाजिक चेतना. विचारों, मूल्यों और अवबोधों की संरचना हो उसको एक क्रयवस्तु के रूप में भी देखा जा सकता है और कलात्मक सृजन को सामाजिक उत्पादन का रूप भी माना जा सकता है। साहित्य के संबंध में मार्क्सवाद का सामान्य प्रश्न यह है : साहित्यिक कृति का अपने समय के उत्पादन-संबंधों से क्या रिश्ता है; आर्थिक संगठन के सम्बन्ध में उसकी स्थिति क्या है, लेकिन बेंजामिन का पूछना है : साहित्यिक कृतियों का उत्पादन की पद्धति में क्या-क्या संबंध है; उत्पादन संबंधों की पद्धति के अन्तर्गत वह किस प्रकार स्थानांकित है। दूसरे शब्दों में, साहित्य को उत्पादन पद्धति द्वारा निर्मित आर्थिक ढांचे पर निर्मित उपरि-ढाँचे के एक अंग के रूप में समझने के बजाय बेंजामिन साहित्यिक कृति को ऐसे रूप में समझने का प्रस्ताव करता है जिसका अपना रूप है, आधार है और उपरि-ढाँचा है, कला के निर्माण में कलाकार और श्रोताओं के बीच सामाजिक संबंधों का एक संच सम्मिलित रहता है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार क्रांतियाँ तब होती हैं, जब उत्पादक शक्तियों और उत्पादन के संबंधों में संघर्ष पैदा होता है। अब बेंजामिन इस सिद्धांत को कलापर लागू करते हैं। क्रांतिकारी कलाकार को साहित्यिक उत्पादन की वर्तमान शक्तियों को न केवल समालोचनात्मक ढंग से अपनाना चाहिए– अपितु इन शक्तियों को विकसित करना चाहिए और उनको क्रांतिधर्मी बनाना चाहिए। ऐसा करने से वह लेखक और श्रोता के बीच नूतन सामाजिक संबंधों का निर्माण करता हैं। ये नूतन सामाजिक संबंध महान कला के उत्पादन से बनते हैं, केवल उसके आशय से नहीं। और यही कला चेतना के सामाजिक आकारों को क्रांतिधर्मी बनाने की संभावना उत्पन्न करती है। जब ऐसी क्रांतिधर्मिता उत्पन्न होती हैं तब कला वर्ग संघर्ष से जुड़ जाती है, वह ऐसे आकारों का संच बन जाती है जिसमें इस तीसरे स्तरपर मनुष्य संघर्ष के प्रति सजग हो जाते हैं और संघर्ष करते भी हैं। अगर कला की इस क्रांतिधर्मिता को सामाजिक दृष्टि से प्रभावपूर्ण बनाना है तो वहाँ साहित्य समालोचक के कार्य की भी चौथे स्तरपर आवश्यकता होती है। हमने देखा कि साहित्यिक कृति विचारधारा से संपृक्त होती है।–– यह संपृक्ति न केवल इस में देखी जा सकती है कि रचना क्या कहती है परंतु इस में भी कि वह क्या नहीं कहती है; इस तरह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हम ग्रंथ के महत्वपूर्ण मौन, उसकी रिक्तताओं और अनुपस्थितियों के बारे में भी कह सकते हैं। समालोचक को, चाहिए कि वह इस मौन को वाणी प्रदान करें। विचारधारा ग्रंथ की समग्र अभिव्यक्ति को उपलब्ध करती है। लेकिन समालोचक का कार्य केवल रिक्तताओं की पूर्ति करना नहीं है, अपितु संघर्षों के तत्व को भी प्रस्तुत करना है और यह दिखाना है कि किस प्रकार कृति और विचारधारा के संबंध से संघर्ष की उत्पत्ति हुई। साहित्यिक कृति और उसके वैचारिक वातावरण के बीच के तनाव पूर्ण सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए केवल साहित्यिक समालोचना और व्याख्या की क्षमताओं को ही समालोचक से अपेक्षा नहीं है बल्कि विचारधारा के उत्पादन का आकलन भी उससे अपेक्षित है। यह आवश्यक है कि समालोचक को मानव जीवन के भौतिक आधारों के उत्पादन एवं पुनरुत्पादन की स्थितियों का स्पष्ट ज्ञान हो और जीवन को सँवारने या विकृत करनेवाले उनके अनुवर्ती प्रभावों की भी समझ हो, यह ज्ञान न कला है न विज्ञान लेकिन वह मुक्तिधर्मी समालोचना में कार्यरत दर्शन की पहचान है। यहाँ वह मुक्तिधर्मी समालोचक है जो महान कला के मुक्तिदायी संवेगों को वाणी देकर उसे वास्तविकता प्रदान करता है।

आर् सुंदरराजन्
दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय

अनुवादक : रामजी तिवारी,
हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपोहवाद ❋

अपोहवाद सौत्रांतिक बौद्धों का भाषार्थ-विषयक सिद्धान्त है, किन्तु इससे शून्यवादियों और विज्ञानवादियों की भी सहज सहमति होगी। हमारे विचार में यद्यपि यह सिद्धान्त भाषार्थ के स्वरूप के साथ पूर्ण न्याय नहीं करता, किन्तु तब भी इसमें एक मूल-ग्राही दृष्टि है जो भाषार्थ के स्वरूप के एक महत्वपूर्ण पक्ष को उद्घाटित करती है। इस सिद्धान्त का प्रवर्तन दिङ्नाग ने किया था। उसके अनुसार सत् क्षणिक, विलक्षण और अर्थक्रियाकारी है जबकि भाषा किंचित्कालस्थायी, लक्षणवान् और अर्थक्रिया- असमर्थ विषयों का ही वचन कर सकती है। किन्तु वास्तव में वह इनका भी भावनात्मक रूप से वचन नहीं करती बल्कि अपोहात्मक रूप से ही करती है। अपोहात्मक वचन से अभिप्राय है कि शब्द (जैसे 'गो') गो-लक्षणवान् किन्तु विशिष्ट व्यष्टि का विधान नहीं करता बल्कि इन लक्षणों से रहित विकल्पित वस्तुओं के व्यावर्तन द्वारा इसका संकेत करता है। इसका अर्थ हुआ कि विकल्प के दो स्तर हैं– प्रथम, स्वलक्षण–वस्तुग्राही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का आश्रय लेकर उत्पन्न, विकल्प-प्रतिभासः (गो व्यष्टिः) और दूसरा शब्द–विकल्पः (अतद्व्यावृत्ति–अपोह)। डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने दूसरा विकल्प (संश्लेषण–साइंथीसिस) जाति को बताया है और दोनों संश्लेषों को अपोह कहा है।[1] उनके अनुसार, "प्रथम संश्लेषण प्रत्यक्षमूलक अध्यवसाय के रूप में होता है, जैसे 'यह गाय है' जिसमें कि दो सर्वथा भिन्न वस्तुओं (विकल्प-प्रतिभास और स्वलक्षण वस्तु) में असत्य तादात्म्य स्थापित किया जाता है। दूसरे संश्लेष के द्वारा एक वर्ग के पूर्णतः भिन्न स्वलक्षणों (व्यष्टियों-सदस्यों) में असत्य समानता देखी जाती है और ये एक अवधारणा के अन्तर्गत सन्निविष्ट किये जाते हैं, मानो वे एक वर्ग से सम्बन्धित हों और एक सामान्य के अंश हों।" डॉ. शास्त्री ने दोनों को अपोह इसलिए कहा कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि ने दोनों को शब्द वाच्य कहा है। यह ठीक भी है, किन्तु वास्तव में इनके अनुसार भी विशिष्ट व्यक्ति जबकि संश्लेषणमूलक और अतएव विकल्पात्मक है, यह शब्द वाच्य नहीं है, क्यों कि शब्द वाच्य केवल सामान्य लक्षण ही होता है। डॉ. शास्त्री ने दूसरे संश्लेष में जो वर्ग के सदस्यों

❋ इस लेख में मैं श्री यशदेव शल्य के सुझावों से बहुत सीमा तक लाभान्वित हुई।

१. डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री – क्रिटीक ऑफ इंडियन रीयलिज्म, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, द्वितीयावृत्ति १९७६ पृ. ३५३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को भी स्वलक्षण कहा है वह ठीक ही है क्योंकि जाति या सामान्य लक्षण के अपेक्षा ये दो स्वलक्षण ही है। धर्मोत्तर ने इस अध्यवसाय के बारे में कहा है – "बालक ही जब तक सम्मुख दृश्यमान स्तन को, यह 'वही है' इस प्रकार पहले देखे हुए के रूप में नहीं पहचानता तब तक रोना बन्द करके स्तन में मुख अर्पित नहीं करता। पहले देखे और पीछे देखे अर्थ को एक बनाते हुए ज्ञान का विषय अनुपस्थित होता है, क्योंकि पहले देखा हुआ स्पष्ट ही अनुपस्थित है।"[२] व्यष्टि-मूलक अध्यवसाय में यह पीछे देखा अर्थ प्रत्यक्षगत रहता है और पहले देखा अर्थ भी पहले प्रत्यक्ष रहा होता है। इस कारण यह संश्लेप शब्दग्राह्य नहीं है किन्तु धर्मकीर्ति ने इन दोनों संश्लेषों को शब्द वाच्य कहा है क्योंकि दोनों में विकल्प रहता है। धर्मोत्तर के शब्दों में " विकल्प–विषय को ही शब्द सूचित करते हैं, बाह्य वस्तु को नहीं। 'यह वही है' इस प्रकार से देश, काल और अवस्था के भेदों में एकता का निश्चय करना विकल्प है और उसका गोचर ही शब्द का गोचर है। वह कोई वास्तविक अर्थ नहीं है–न स्वलक्षण है, न सामान्य है, न ज्ञान है, न ज्ञानकार है, अपितु वह अलीक-बाह्य है। विकल्प भेदों का विषयभूत अलीक बाह्य (मिथ्याप्रतीयमान बाह्य अर्थ) वास्तविक को ग्रहण न करने के कारण उत्पन्न होता है। विभिन्न वास्तविक बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष के अनन्तर विकल्प–वासना से मिथ्याबाह्य आकार प्रतीत होता है जिसमें न बाह्य अर्थों के परस्पर भेद गृहीत होते हैं, न बाह्य वस्तु और आंतर प्रतिभास का भेद पकड़ा जाता है।"[३] किन्तु शब्दार्थ अपोहात्मक या व्यावर्तनात्मक किस प्रकार है ? इसे स्पष्ट करते हुए डॉ गोविन्दचन्द्र पांडे कहते हैं – "ये मिथ्या बाह्य विषय अन्य– व्यावृत्तिरूप हो हो सकते हैं। यह तीन हेतुओं से सिद्ध होता है। १. इन विषयों पर अस्तित्व और नास्तित्व का समान रूप से विधान किया जा सकता है, २. ये अत्यन्त विलक्षण अर्थों में सामान्य लक्षण जताते हैं, ३. ये अनुभव में इसी रूप में मिलते हैं।1. भाव और अभाव में समानता स्वरूप की नहीं हो सकती, वह केवल अन्य की अपेक्षा समान भेद की ही हो सकती है, इसलिए वाच्य स्वरूप न होकर अन्य व्यावृत्ति ही हो सकती है। ...... अतएव अस्तित्व और नास्तित्व दोनों से सम्बन्धित 'घट' शब्द 'पट' आदि के अभाव

---

२. धर्मकीर्ति विरचित न्यायबिन्दु धर्मोत्तर की टिप्पणी और दुर्वेक मिश्र के प्रदीप के सारांश सहित अनुवाद और व्याख्याकार, डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे, अखिल भारतीय दर्शन परिषद, पृ. २४

३. रत्नकीर्ति विरचित "अपोहसिद्धि" अनुवाद और व्याख्या– डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, पृ. 41

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को ही सूचित कर सकता है। २. 'घट' आदि शब्द अंत्यन्त विभिन्न क्षणों में समान प्रतीति को अन्य से समान भेद के द्वारा ही जन्मा सकते हैं। अलग-अलग होते हुए भी घट-क्षण पट आदि के क्षणों से बराबर दूर है। ...३ 'घट' आदि शब्दों के वाच्यों का ज्ञान स्पष्ट ही उनके 'पट' आदि से विभेद का ज्ञान होता है।"[४] उपर्युक्त को यदि थोड़ा गहराई से देखें तो प्रकट होगा कि इनमें प्रथम का सम्बन्ध अपोह से नहीं है, बल्कि इसमें अपोह को सिद्ध मानकर शब्द की अवस्तु-ग्राहकता का प्रतिपादन है, दूसरे में वस्तु-स्वभाव की क्षणिकता और विलक्षणता पूर्व सिद्ध मानकर घटादि-रथ्य प्रतीति के विषयों को नाम-कल्पना कहा गया है और इस प्रतिज्ञा के बल पर युक्ति दी गई है कि 'घट' शब्द द्वारा परस्पर नितांत विलक्षण क्षण-सन्तान का एकीकरण वास्तव में केवल इस आधार पर ही होता है कि यह पट-क्षण-संतान से और अश्व-क्षण-सन्तान से, और गाय क्षण-संतान से, और ...क्षण-सन्तानों से भिन्नता में समान है। तीसरे में दूसरे से कोई मौलिक रूप से भिन्न बात नहीं कही गई है, सिवाय इसके कि दूसरे में क्षणों की विलक्षणता के तिरस्कार का उल्लेख है और दूसरे में व्यष्टि-विषयों की विलक्षणता को तिरस्कार का।

बौद्धों के इस सिद्धान्त की मूल प्रेरणा प्रत्यक्ष और विकल्प में मौलिक भेद करना और भाषा को विकल्प के अन्तर्गत स्थापित करना कही जा सकती है। इस बात में वे सांख्य और वेदान्त से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से वैयाकरण भी इनसे भिन्न नहीं है क्योंकि वे सम्पूर्ण वस्तु-जगत को प्रत्यय मूलक और प्रत्यय को भाषा-मूलक मानते हैं :

> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दनुगमादृते ।
> अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाक्यपदीय ।[५]

ऐसा भी नहीं है कि विचारक भाषार्थ को अपोहात्मक नहीं मानते, यदि नहीं मानते होते तो इनके अनुसार भाषा-वस्तु-ग्राही होती और वस्तु निरूपाधिक होती। अन्तर यह है कि ये अपोह को शब्दार्थ का मूल धर्म नहीं मानते, बल्कि अपोह को उपपन्नतया (इंप्लीकेशन से) सम्बन्धित मानते हैं। एक अन्तर और है जो तत्व-मीमांसीय है और वह यह कि ये तीनों सम्प्रदाय-वैयाकरण, वेदान्त और बौद्ध-यह भी नहीं मानते कि अध्यवसेय विषय क्षण-सन्तानरूप स्वलक्षण वस्तु में प्रतिष्ठित होता है क्योंकि वैयाकरण भाषा और जगत् दोनों की युगपत् रूप से उत्पत्ति

---

४. वही

५. भर्तृहरि-ए स्टडी आफ वाक्यपदीय इन दि लाइट आफ एंश्येंट कामेंट्रीज दक्षिण कालेज, पूना, १९७९ पृ. ४३३ से उद्धृत। के. ए. सुब्रमन्यऐयर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवर्त (शब्द –ब्रह्म = परावाक्) से मानते हैं और वेदान्ती तथा सांख्य महत् (बुद्धितत्व) से ? यह आपत्ति हो सकती है कि दिङ्नाग अध्यवसेय विषय को तो अपोह–रूप मानते हैं इसलिए स्वलक्षण वस्तु में उसकी प्रतिष्ठा मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि दिङ्नाग नाम, जाति आदि कल्पनाओं को निर्विकल्पक पर अध्यारुढ़ मानते हैं । यही बात वसुबन्धु के लिए भी कही जा सकती है जो निर्विकल्पक विज्ञानों को ग्राह्य-ग्राहक भेद-कल्पनाओं का आश्रय मानते हैं । डा० पांडे शांतरक्षित द्वारा कुमारिल की आपत्तियों के निराकरण का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं – 'स्वलक्षणात्मक अपोह इन्द्रिय-गोचर है । उस पर आरोपित अर्थ–प्रतिबिम्बात्मक अपोह बुद्धिस्वरूप होने के कारण स्व-संवेदन-गोचर है । इसलिए वे सारी आपत्तियाँ जो अपोह को नितान्त अभावात्मक, अक्षत् अथवा अविदित मानने से उत्पन्न होती हैं, वे निराधार हैं । वास्तविक अर्थ भिन्न हैं, किन्तु उनमें अभेद की प्रतीति होती है । यह प्रतीति विकल्पात्मक है, किन्तु यह वस्तुओं पर आरोपित होती है । शब्द–विकल्प का व्यापार व्यवच्छेदात्मक है, किन्तु इसका लक्ष्य विधि-रूप वस्तु ही है ।" इस प्रकार अपोह में प्रत्यक्ष और कल्पना, वस्तु और अवस्तु, विधि और निषेध, इनका एक जटिल मिश्रण है ।"[६] एक प्रकार से भाषा और सत् के सम्बन्ध को लेकर उपर्युक्त तीनों मतों का अपोहवादियों से मत-वैपरीत्य देखा जा सकता है– वैयाकरण आदि जबकि भाषा (वैखरी) को सत् का नाम-रूपात्मक अतएव असत् विवर्त या परिणाम (सांख्य) मानते हैं[७] और इसका कोई प्रापकत्व नहीं मानते, अपोहवादी इसे निराधार नाम रूप विकल्प (अर्थात किसी उपादान कारण से रहित) किंतु सत् के प्रापण में समर्थ मानते हैं । बुद्ध के आर्य मौन की व्याख्या करने के लिए प्रतिपादित इस सिद्धांत का यह निरूपण अत्यधिक विचित्र प्रतीत होता है, किंतु ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष को स्वलक्षण-सत् का अवभासक बतानेवाला सिद्धांत इस निष्कर्ष पर पहुँचे, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए । निश्चय ही अपोहवादियों को, विशेषतः दिङ्नाग को, अपने मत की यह उपपत्ति अभीष्ट नहीं हो सकती क्योंकि उनका उद्देश्य सत् की अनभिलाप्यता, आर्य मौन की अर्थ-गर्भित युक्तता दिखाना और अभिलाप की, भाषा के वाच्य की, अवास्तविकता

---

६. वहीं, पृ. ४०

७. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः (के. ए. सुब्रमन्य एय्यर, पूर्वोक्त, पृ. ४३२) यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक होगा कि वैयाकरणों में और वेदांत-सांख्य संप्रदायों में भाषा विषयक अन्य कोई मतैक्य नहीं है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिखाना ही था, और दिङ्नाग का अपोह के निषेधात्मक पक्ष पर अधिक बल इस बात की ही पुष्टि करता है किंतु पूर्ण निषेधात्मकता के बावजूद यह मत इस निष्कर्ष से नहीं बच सकता कि अपोहन-व्यापार अनपोह सत् को ही लक्षित करता है।

अपोहवाद का खंडन मीमांसकों तथा नैयायिकों ने करने का प्रयत्न किया। अपोहवादियों ने कहा था, शब्द अतद् की व्यावृत्ति (निषेध) से अर्थ सूचित करता है, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह विधिरूप ही होता है. अपोहवादियों ने कहा था कि जाति केवल नाम-कल्पना है, नैयायिकों ने कहा कि वह वस्तुओं में ही सहवास करती है. अथवा कहें. वस्तु व्यक्ति--जाति-समवेत होती है। नैयायिकों के ये दोनों मत बहुत अपरिष्कृत यथार्थवाद के उदाहरण हैं और उस सूक्ष्म दृष्टि के ग्रहण में असमर्थ हैं जो अपोहवाद में मिलती है। शब्दार्थ केवल विधिरूप नहीं होता, यह देखना कठिन नहीं होना चाहिए, क्योंकि बुद्धि का कोई भी ग्रहण निषेध-परिहार के बिना नहीं होता।[८] घट-भाव में अ-घटाभाव अध्यवसित रहता ही है. अन्यथा या तो 'यह घट है' में 'यह' और 'है' व्यर्थ होंगे, अथवा 'यह' घटत्व का अनिवार्य संग्राहक होगा, अर्थात इसमें न तो भ्रम की संभावना होगी और न घट-विनाश संभव होगा। इसके आगे यह भी कहा जा सकता है कि 'यह' सर्वव्यापक भी होगा क्योंकि अन्यथा यह 'वह' से व्यावृत्त हो सकेगा। इसी प्रकार जाति के सम्बन्ध में भी नैयायिकों का मत अत्यंत स्थूल है। यह सही है कि कोई भी व्यक्ति-मूलक अध्यवसाय व्यक्तियों

---

८. श्री यशदेव शल्य ने अपने एक लेख "आत्म और अनात्म" में दिखाया है कि वास्तव में हमारे सभी ग्रहण अनिवार्यतः व्यावर्तनात्मक ही होते हैं। उनके शब्दों में— "संवेद्य विषयों की सिद्धि के लिए उनका परिप्रेक्ष्यात्मक होना आवश्यक है जो हमारे देश में बिंदु विशेष पर स्थित हुए बिना संभव नहीं है। इसी प्रकार वर्ण की संभावना के लिए विशेषकिरण दैर्ध्य से उनका अवलोकन आवश्यक है, अन्यथा सब किरणदैर्ध्यों से एक-साथ देखने पर वर्ण संभव नहीं हो सकता। इसी प्रकार विचार के लिए भी— प्रत्येक विचार एक व्यवस्था का अंग होता है और यह व्यवस्था अन्य समकक्षी व्यवस्थाओं का निषेध करती है। इसीसे प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति के साथ उसकी प्रतिषेधक प्रतिज्ञप्ति प्रतिषिद्ध से भिन्न सब प्रतिज्ञप्तियों की समावेशी होती है। यही बुद्धि का अहंकार है कि वह सब पक्षों से एक साथ विचार नहीं कर सकती। विचार, भाव और संवेद सब चेतना के अहंकारमूलक अवगुंठन के प्रतिफल हैं।" (द्रष्टव्य-दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष २१, अंक ४, अक्तूबर १९७५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को जाति-कल्पना के माध्यम के बिना विषय नहीं बनाता, किंतु इससे यह कहना कि जाति व्यक्ति में समवेत रहती है और व्यक्ति के समान बाह्यार्थ है, उपहासास्पद है। ऐसी जातियों के उदाहरण दिए जा सकते हैं जो व्यक्तियों से प्राक् होती हैं और परिणामतः उनके लिए व्यक्तियों का होना आगंतुक है– मनुष्यकृत सभी वस्तुएँ इसी प्रकार की हैं। उदाहरणतः घट-व्यक्ति घटत्व के पश्चाद्वर्ती हैं और सब घट नष्ट हो जाने पर भी घटत्व रहता है। ऐसी अवस्था में वाचस्पति मिश्र का यह कहना कि "जाति का वर्तमान व्यक्ति से सम्बन्ध ही उसका भाव और अतीत और अनागत व्यक्तियों से सम्बन्ध ही अभाव है' अयुक्तिसंगत है, क्योंकि इसका अर्थ होगा कि घटत्व का नितांत अभाव से अविर्भाव हुआ और उसे घट विशेष ने आविर्भूत किया। इसके अतिरिक्त, नैयायिक, और बौद्ध भी, इंद्रिय-ग्राह्य वस्तुओ में उपलक्षित समानता को ही जाति समझते हैं, तब ऐसी जाति का क्या करेंगे जो इन्द्रिय-ग्राह्य समानता-मूलक नहीं है जैसे मनुष्यत्व (जो धर्म या विवेक से उपलक्षित होता है) फिर ऐसे सामान्य भी हैं जो व्यक्ति मूलक होते ही नहीं, उदाहरणतः विज्ञान गणित, दर्शन आदि। यहाँ यह कहा जा सकता है कि या तो ये सामान्य नहीं है अथवा ये क्रियाओं में समानता के वाचक हैं। किंतु यदि दूसरी बात भी मान लें तो भी इनकी आधारभूत क्रियाएँ व्यक्ति (व्यष्टि) नहीं हैं, न इंद्रिय-ग्राहच और न मानस-ग्राहच। फिर, ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो किसी सामान्य से समवेत नहीं कहे जा सकते, उदाहरणतः राम, लक्ष्मण, श्लोक विशेष या चित्र विशेष। इसके अतिरिक्त, सामान्य या जाति को व्यक्तियों में दृष्ट समानता से परिभाषित करने पर बौद्धों के जो आक्षेप हैं वे प्लेटो के सामान्यों पर (जो प्रत्येय वस्तुएँ आइडियाज) हैं, दृष्ट समानताएँ नहीं हैं, और अरस्तू के आकारों (फोर्म्स) पर, जो वस्तुओं के धारक और नियामक धर्म हैं, किस प्रकार लागू होंगे? यहाँ बौद्ध यदि यह उत्तर देना चाहें, जो कि उनका एकमात्र उत्तर हो सकता है, कि प्रत्येय वस्तुएँ या आकार इंद्रिय ग्राहच नहीं हैं अतः विकल्प हैं। किंतु उनके इस उत्तर में इंद्रियग्राहचता के सत् की प्रमाण के रूप में पूर्वगृहीत है, युक्ति-सिद्ध नहीं है। वास्तव में बौद्धों ने जाति या सामान्य के तत्व पर स्वतंत्र विचार नहीं कर अपने को नैयायिकों के अधीन कर दिया। अवश्य सामान्य प्रत्येय वस्तु या निर्धारक धर्म (आइडियाज और फोर्म) के रूप में भी बौद्धों को ग्राहच नहीं हो सकते क्योंकि बौद्ध क्षणिकवादी हैं, किंतु तब उनका विचार अधिक प्रौढ़ होता। किंतु इस क्षणिकवाद के लिए बौद्धों की क्या युक्ति है?

बौद्ध क्षणिक को सत् का स्वरूप मानते हैं और इसे निर्विकल्पक संवेद-ग्राहच और क्रिया-कारी रूप में परिभाषित करते हैं। क्षणिकता और विलक्षणता वास्तव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में उनके लिए पर्यायवाची ही हैं, यद्यापि अन्यथा ये आवश्यक रूप से पर्यायवाची नहीं है, क्षणिक चाहे लक्षणवान् नहीं भी हो सके किंतु विलक्षण त्रिकालाबाधित हो सकता है, जैसे ब्रह्म या कांट की निरपेक्ष वस्तु (थिंगइन इट्सेल्फ)।

क्षणिक को शांतरक्षित ने त्रैलोक्य व्यावृत्त भी कहा है। किंतु कोई वस्तु अन्य की अपेक्षा हुए बिना अन्य की व्यावर्तक या अन्य से व्यावृत्त कैसे हो सकती है? गाय अगाय से व्यावृत्त है ही इसलिए वह अगाय द्वारा निरंतर बाधित है और यह बाधा उसके अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है, क्योंकि इस बाधा या व्यावर्तन के बिना वह अपनी पहचान ही खो देगी। श्री शल्य के उपर्युद्धृत विवेचन में यह बहुत स्पष्ट है। इस आपत्ति के संबंध में कहा जा सकता है कि इसमें वास्तव आशय की उपेक्षा कर शब्द को महत्व दिया गया है अन्यथा "त्रैलोक्य व्यावृत्ति" से आशय केवल नितांत विलक्षणता से ही है किंतु यह ठीक नहीं है। बौद्ध क्षण-संतान की बात करते हैं और प्रत्येक क्षण को पृथक् सत् और प्रत्येक विकल्प-ग्राह्य वस्तु को पृथक् सन्तान मानते हैं। इस प्रकार इनकी विलक्षणता पृथकता (भेद) पर आधारित है। क्षण की अवधारणा पर वे प्रत्यक्ष विषय-वस्तुओं के अनंत विभाजन द्वारा पहुँचते हैं। इसमें वे वैशेषिकों से इसी बात में भिन्न हैं कि वे अणुओं का कुछ परिमाण मानते हैं जब कि बौद्ध नहीं मानते[९]। किंतु देशकाल के अनंत विभाजन द्वारा आप देश-काल से बाहर कैसे जा सकते हैं? इसके उत्तर में ज्यामितिक बिन्दु का उदाहरण दिया जा सकता है जो दैशिक विस्तार का आधार है किंतु स्वयं विस्तार रहित है। किंतु यह उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि बिन्दु देश-काल के अनंत विभाजन का फल नहीं है, यह विलक्षण भी नहीं है, न वास्तविक है, बल्कि यह ज्यामिति की जटिल विकल्प-व्यवस्था का अंग है। श्चर्बात्स्की ने इन क्षणों को शक्तियों की क्रिया सामर्थ्य (एफीशियन्सीज) कहा है,[१०] जैसा कि सभी बौद्ध दार्शनिक मानते हैं। किंतु प्रश्न है कि ये क्रियाएँ या क्रिया-योग्यताएँ देश-काल विस्तार से नितांत रहित कैसे हैं जब तक ये सैद्धांतिक कल्पनाएँ नहीं हैं? अन्यथा भी प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में यह काल में और संवेद-निर्मास्य के रूप में यह देश में कल्पित है।

इस पर बौद्धों में और नैयायिकों में बहुत विस्तृत विवाद हुआ है इसलिए हम यहाँ इस पर कुछ अधिक नहीं कहेंगे किंतु यह मान लेने पर भी कि ये क्षण

---

९. द्रष्टव्य– वसुबन्धु कृत विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि हिंदी अनुवाद, डॉ. महेश तिवारी, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. १२, कारिका १२ सर्वास्तिवादियों के मत के लिए चर्बात्स्की– बुद्धिस्टिक लॉजिक, डोवर पेपरबैक, पृ. १९ भी द्रष्टव्य।

१०. श्चर्बात्स्की, उपर्युक्त, पृ. १९८–१९९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देशकाल विस्तार रहित हैं, अनेक कठिनाइयाँ रह जाती हैं। सर्वप्रथम, क्या ये देश-कालोपाधि से अतीत हैं? यदि अतीत हैं तो ये विभक्त या व्यावृत्त किस आधार पर हैं? उदाहरणत: लाइब्नीज के चिदणु (मोनड्ज) और सांख्य के पुरुष भी अनेक हैं और परिणामत: परस्पर पृथक् हैं।

किन्तु तब वे क्षणिक या अन्य व्यावृत्त या संवेद-ग्राह्य नहीं हैं, वे स्वकल्प या स्वप्रकाश हैं। प्रत्यक्षगम्य वस्तु चाहे वह स्वलक्षण ही हो शक्ति या अर्थक्रिया के रूप में गम्य नहीं हो सकती। यह कहा जा सकता है कि स्वलक्षण वस्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के कारक के रूप में गम्य होती है, किन्तु यह भी सही नहीं है, क्योंकि कि यदि वह कारक होगी तो विषय नहीं होगी। क्योंकि वह प्रत्यक्ष-काल में, जो कि उसका कार्य होगा, बीत चुकी होगी। धर्मकीर्ति ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को स्वलक्षण का निर्भासक कहा है जब कि अध्यवसायात्मक प्रत्यक्ष को प्रापक, क्योंकि दूसरा प्रत्यक्ष प्रथम से उत्पादित और दूसरे के लिए स्मृति के माध्यम से परोक्ष विषय बनता है।[११]

उपर्युक्त कारणों से ही दिङ्नाग के प्रत्यक्ष और विकल्प विषयक मत की तुलना कांट से पूरी तरह से नहीं की जा सकती जैसी डा. पांडे ने की है।[१२] अवश्य कांट दिङ्नाग के समान स्वलक्षण को न तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में निर्भास्य मानता है किन्तु वह स्वलक्षण को न तो क्षणिक मानता है और न अर्थ-क्रिया-समर्थ। उसका यह निर्भासन भी कुछ संदिग्ध प्रकार का है क्योंकि उसकी युक्ति तत्वमीमांसीय नहीं होकर प्राकल्पनात्मक प्रकार की है कि प्रतीति प्रतीतवस्तु के आधार के बिना नहीं हो सकती। अवश्य कांट की व्यवस्था की भी कुछ कठिनाइयां हैं, किन्तु इतनी अधिक नहीं जितनी दिङ्नाग और उसके अनुयायियों की।

किन्तु उपर्युक्त से कहीं अधिक बड़ी कठिनाइयाँ तत्वमीमांसीय हैं। सर्वप्रथम यदि क्रिया-कारिता (प्रतीत्यसमुत्पाद) वस्तु का स्वगत स्वभाव है तब निर्वाण का भी यही स्वभाव होना चाहिए और इस प्रकार निर्वाण भी क्षण-सन्तान रूप होना चाहिए। दूसरे, प्रतीत्यसमुत्पाद स्वभाव होने से संस्कार-समुत्पाद का भी कभी उच्छेद नहीं हो सकता,

क्योंकि यदि कोई ऐसा संस्कार हो जो अन्य संस्कार को उत्पन्न नहीं करे तो वह समुत्पाद-समर्थ नहीं होने से वास्तव नहीं होगा। यह कहा जा सकता है कि संस्कार

---

११. द्रष्टव्य-न्यायबिन्दु, डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे कृत अनुवाद और व्याख्या, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, पृ. १४

१२. द्रष्टव्य, अपोहसिद्धि, उपर्युक्त, पृ. ३०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो सत् नहीं है. अविद्यामूलक है, तो यह ठीक नहीं है। संस्कार-प्रवाह ग्राह्य-ग्राहक-भेद के ग्रहण के रूप में विकल्प को सत् रूप में ग्रहण करने आदि रूप में अविद्या है किन्तु यह न तो विज्ञान-सन्तान के रूप में असत् है और न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में असत् है, क्योंकि यदि निर्विकल्पक विज्ञान सविकल्पक का उत्पादक है तो सविकल्पक असत् नहीं हो सकता। इसके उत्तर में शायद बौद्ध कहें कि उन्हें विज्ञान-सन्तान या संस्कार-सन्तान का भी उच्छेद अभिप्रेत ही नहीं है, केवल असत् को सत् मानने रूप अविद्या का उच्छेद हो जायगी, यही संबोधि है, किन्तु निर्वाण और सम्बोधि एक विचित्र स्थिति हो जायगी, यह स्थिति होगी ऐन्द्रिक संवेद का संवेद-ग्राह्य क्षण के साथ समन्वित होना और इस प्रकार विज्ञान-सन्तान का भौतिक सन्तान के साथ सामंजस्य होना।

यहाँ 'भौतिक' पद के प्रयोग पर बौद्धों की ओर से आपत्ति हो सकती है कि भौतिक लक्षणात्मक पद है जब कि वस्तु विलक्षण है। यह सही है किन्तु सौत्रांतिक यह लक्षण वास्तव में विलक्षण मानकर चल रहे हैं, अन्यथा उनके केवल ऐन्द्रिक संवेद को ही सत् का निर्भासक कहने में क्या औचित्य है ? क्यों बुद्धि सत् की निर्भायक नहीं है ?

यहाँ कांट से दिङ्नाग और अनुयायियों की तुलना पुनः उपयोगी होगी। कांट दिङ्नाग के समान बुद्धि को सत् के निर्भायन में असमर्थ नहीं कहता और इस प्रकार उसकी विलक्षण वस्तु भूत-लक्षण नहीं बनती, वह मात्र बुद्धि को केवल वहाँ असमर्थ कहता है जहाँ वस्तुग्रहण का आधार संवेद है। वहाँ भी वह संवेद को वास्तव में निर्विकल्पक प्रत्यापक नहीं मानता, वह संवेद को प्रत्यापक मानता ही नहीं. वह उसे केवल निर्विकल्पक मानता है जो 'ज्ञान' के लिए विकल्पों का उपादान बनता है, किन्तु परमार्थ के उस क्षेत्र में, जो संवेद में निर्भासित नहीं होता, बुद्धि ही सत् के स्वरूप की ज्ञापक बनती है। मॉरल लॉ बुद्धि द्वारा सत् का ही निर्वासन है। स्वयं दिङ्नाग और वसुबन्धु अविद्या के परिज्ञान संबोधि के साधन का कारण किसे मानेंगे ? यहाँ पर स्पष्टतः सांख्य और वेदान्त उपयुक्त मार्ग-दर्शक हैं, क्योंकि वे संवेद से बुद्धि तक सब करणों को औपाधिक मानते हैं और ज्ञान को स्वप्रकाशत्व मानते हैं और इन औपाधिक करणों में बुद्धि को विवेक-समर्थ मानते हैं। दिङ्नाग और उसके अनुयायी तो पूर्ण रूप से एक प्रकार के भौतिकवाद को आपादित करते हैं। यहाँ मैं उपर्युक्त निरूपणों की पुष्टि में धर्मकीर्ति विरचित न्याय-बिन्दु का सूत्र १३ और उस पर धर्मोत्तर की टीका डॉ. पांडे के हिन्दी अनुवाद में उद्धृत करना चाहूँगी :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूत्र १३– जिस अर्थ की सन्निधि और असन्निधि से ज्ञान का प्रतिभास भिन्न हो जाता है, वह स्वलक्षण है।

धर्मोत्तर

'अर्थ' ज्ञान के विषय का पर्याय है। सन्निधि का अर्थ है दूर देश में अवस्थिति। विषय के पास या दूर होने से ज्ञान के प्रतिभास में, अर्थात् ग्राह्य आकृति में, स्फुटता और अस्फुटता के कारण भेद हो जाता है। जो ज्ञान का विषय निकट होने पर ज्ञान के आभास को स्पष्ट करता है और ग्रहण-योग्य स्थान में रहते हुए भी दूर हो जाने पर ज्ञानाभास को अस्पष्ट करता है, वह स्वलक्षण है।[१३] इससे स्पष्ट है कि विलक्षण परमार्थ केवल संवेद-ग्राह्य है और अतएव भौतिक विलक्षण है। यहाँ काँट से अंतर भी द्रष्टव्य है, काँट की व्यवस्था में सन्निधि-असन्निधि और स्फुट-अस्फुट की बात नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रथम में देश पूर्व-गृहीत है और दूसरे दूसरे में मात्रा और परिणामतः अध्यवसाय।

दिङ्नाग और अन्य सौत्रांतिकों पर निहित रूप से भौतिक लक्षण मानने के उपर्युक्त आरोप के उत्तर में कहा जा सकता है कि ये प्रत्यक्ष को केवल ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष नहीं मानते वे यौगिक प्रत्यक्ष को भी स्वीकार करते हैं। यहाँ न्यायबिंदु में प्रत्यक्ष की परिभाषा (सूत्र ४) पर डा. गोविंदचंद्र पांडे की टिप्पणी उद्धरणीय है। परिभाषा है– "प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ़ और अभ्रांत समझना चाहिए।" इस पर पांडेजी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं– "न्यायसूत्रों में प्रत्यक्ष का लक्षण था : इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न, अव्यभिचारी, अव्यपदेश्य एवं व्यवसायात्मक ज्ञान। दिङ्नाग ने इस लक्षण का खंडन कर नया लक्षण प्रस्तुत किया। उपर्युक्त गौतमीय लक्षण में पहला विशेषण केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित होने के कारण अव्याप्ति से ग्रासित है, ... आदि।[१४] दूसरा प्रत्यक्ष बौद्ध यौगिक मानते हैं। किंतु यौगिक प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष से अपनी वस्तु में भिन्न नहीं होता, केवल इस बात में भिन्न होता है कि जबकि ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष का विषय समकालीन क्षणमात्र होता है जो पीछे विकल्प द्वारा अध्यारूढ़ और इस प्रकार अस्फुट हो जाता है, यौगिक प्रत्यक्ष त्रिकाल के सभी क्षणों को निर्विकल्पक और इस प्रकार स्फुट ज्ञान होता है।[१५] ऐसा ज्ञानसर्वज्ञता हो सकता है या नहीं और यदि इसकी संभावना मानें तो प्रतीत्यसमुत्पाद का क्या अर्थ होगा, यह सब यहाँ विचार का प्रसंग नहीं है, यहाँ केवल इतना ही प्रासंगिक है कि इस ज्ञान की विषयभूत वस्तु-संवेद–

१३. वही. पृ. ३०–३१
१४. न्या. बि. पृ. २०
१५. श्चर्बात्स्की, वही, पृ. १६२ तथा न्यायबिंदु, पृ. २८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्राह्य वस्तु से भिन्न नहीं बतायी गयी है, अवश्य धर्मोत्तर ने अपनी टिप्पणी में 'वास्तविक' का अर्थ 'प्रामाणिक, जैसे कि चार आर्य सत्य'[१६] किया है, किंतु आर्यसत्यों और निर्विकल्पक संवेदगम्य वस्तुओं दोनों को एक साथ वस्तु कहना किसी भी युक्ति में संगत नहीं है। आर्यसत्यों को न विलक्षण कहा जा सकता है और न क्षणिक और न संवेद्य। धर्मोत्तर ने ही आगे यौगिक प्रत्यक्ष के बारे में कहा है वह क्षणिक और घटनात्मक पर तो लागू होता है, आर्य सत्यों पर नहीं। वह कहता है– "उस सीमा से उत्पन्न हुआ ज्ञान जो कि भाव्यमान वस्तु के आकार का इस प्रकार ग्रहण करता है मानो वह सम्मुख उपस्थित हो, योगी का प्रत्यक्ष है।"[१७] भाव्यमान् अर्थात् 'भविष्य में होनेवाला', आर्य सत्य भूत वर्तमान या भविष्यत् में नहीं होते।

किंतु दिङ्नाग और उसके अनुयायियों के मतों पर उठायी गई अधिकांश आपत्तियाँ वसुबंधु पर लागू नहीं होतीं।[१८]

— श्रीमती भगवती राव

---

१६. वही, पृ. २८

१७. पृ. २९

१८. द्रष्टव्य मेरा लेख–वसुबंधु का विज्ञानवाद, दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९७८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुस्तक समीक्षा

"कांट का नीतिदर्शन" ले. डा. छायाराय भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७७, रु. १०.०० मात्र पृष्ठ १८+१३९

पाश्चात्य दर्शनशास्त्र में इम्यॅन्युएल कांट का अपना विशेष स्थान रहा है। नैतिक दर्शन के संबंध में प्लेटो तथा अरस्तू के बाद अगर सबसे अधिक महत्वपूर्ण नाम लिया जा सकता है तो वह कांट का है। उनके नीतिविषयक दर्शन की अपनी एक गरिमा है जिस से प्रभावित होकर उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदियों में नीतिशास्त्र ने अपना रूप कायम रखा था। इस नीतिशास्त्र की विशेषता यह है कि वह बुद्धि की कसौटी पर नीति तथा अनीति का निर्णय करता है, कर्तव्य तथा अकर्तव्य में भेद सुझा देता है। नीतिविषयक विचार के इस महत्वपूर्ण मोड ने न केवल नैतिक परिवेश में ठोस सिद्धान्तों का प्रचलन किया, बल्कि सामाजिक, राजनैतिक एव अर्थशास्त्रीय संदर्भों में भी एक रुख दिखा दिया। अतः नीतिविषयक दर्शन के अध्ययन के लिए कांट की रचनाओं का परिशीलन अनिवार्य-सा हो जाता है।

अपनी " Groundwork of Metaphysics of Morals " पुस्तक में कांट नीतिविषयक सिद्धान्तों के बुनियादी तत्त्वों पर विचार करते हुए शुभसंकल्प. कर्तव्य एवं स्वतंत्रता इन मूलभूत संकल्पनाओं का निर्धारण करते हैं। इसी संदर्भ मे निरपेक्ष आदेश, नीतिनियम तथा नैतिक निर्णय आदि विषयों के बारे में कुछ सिद्धान्त प्रस्थापित करते हैं। मानव की कमियों पर हावी होने के बजाय उसकी नैतिक रुचि तथा शुभसंकल्प जैसे अन्य गुणों के बलपर ही मानव जीवन की नैतिकता निर्भर करती है। इस तरह की नैतिकता मानव को स्वतंत्रता के रूप में देखती है और निरपेक्ष नियमों का उद्गम बनती है। इस तरह के नीतिविषयक विचारों की परम्परा हमें कांट जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों से प्राप्त होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आज हम प्राय: पाश्चात्य दर्शनों के अध्ययन में काफी मशगूल रहते हैं। लेकिन दर्शन की यह परंपरा अभी तक कुछ चुने हुए लोगों तक ही सीमित रही है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है, भाषामाध्यम का। अगर हमें भी अपने सिरे से और स्वयं-निर्भर होकर दर्शन की समस्याओं में उलझना है तो कुछ हद तक अन्य दार्शनिकों के चिंतन से परिचित होना भी जरूरी है। और अगर ऐसी विचार-धाराएँ समाज में पनपनी हैं तो वह समाज की भाषा में समाज को हासिल होनी चाहिए। डॉ छाया राय अपनी "कांट का नीतिदर्शन" पुस्तक में इसी मकसद को मद्देनजर रखते हुए कांट के मौलिक विचारों को हिंदी भाषा में आविष्कृत करने का यत्न कर रही हैं।

प्रस्तुत पुस्तक काँट की मौलिक रचना "Groundwork of Metaphysics of Morals" का स्वैरानुवाद की शैली में किया हिंदी रूपान्तर-सा प्रतीत होता है। हिंदी रूपान्तरण के वाचक के रूप में लेखिका के सामने केवल सर्व साधारण समाज ही नहीं है, अपितु विश्वविद्यालयों के दर्शन–विषय के छात्र भी हैं जिन्हें यह पुस्तक परीक्षा तक के लिए भी उपयोगी साबित होने की आकांक्षा है।

इस उद्दिष्ट के संदर्भ में पुस्तक की यशस्विता यही है कि यह आकांक्षा आशंका में परिवर्तित नहीं हो पाती है। लेखिका ने विषय को सुघडता से अपनी भाषा एवं शैली में रखा है। कुछ जगहों पर उन्होंने अपने निजी उदाहरणों से भी विषय को सरलता से प्रस्तुत करने की कोशिश की हैं। लेकिन विषय निरूपण में पुस्तक की मर्यादा का स्मरण कुछ विचलित कर देता है। पुस्तक की मर्यादा है कांट की एक ही कृति में निर्धारित विषयों का विवेचन यह मर्यादा पुस्तक की उपयुक्तता की भी मर्यादा हो सकती है। लेकिन इस मर्यादा के बावजूद भी लेखिका का प्रयत्न प्रशंसनीय माना जाना चाहिए, क्योंकि इस पुस्तक की वजह से महत्वपूर्ण विचारधाराओं के स्त्रोत हमारे समाज में फूट सकते हैं। यह प्रशंसा भविष्य में स्वयं लेखिका एवं अन्य विद्वानों को अधिक गरिमापूर्ण कार्य के लिए प्रेरणादायी हो यही अपेक्षा है।

—सु. ए. भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ३५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख संबंधी निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखन सामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाका साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्रीका स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं है कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आयी हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पूना विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पूना ३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

सम्पादकीय

सुरेन्द्र बारलिंगे : मानव जीवन और दर्शन

चन्द्रकांत बांदिवडेकर : साहित्य का वृहत्तर सन्दर्भ

पी. एन. शास्त्री : ज्यां पाल सार्त्र का साहित्य दर्शन (१)

आर. सुन्दरराजन् : साहित्य, समीक्षा और मुक्ति

श्रीमती भगवती राव : अपोहवाद

पुस्तक परीक्षण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष १ अंक ३
जून १९८०

संपादक
सुरेन्द्र बारलिंगे   राजेन्द्र प्रसाद   आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

- पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
- नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ⌑ रमाकान्त तिवारी ⌑ विजय भारद्वाज ⌑ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ⌑ संगमलाल पांडे ⌑ आर्. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर ⌑ के.जे. शहा ⌑ नारायणशास्त्री द्रविड ⌑ के.सच्चिदानंद मूर्ति
जी. सी. नायक ⌑ ग. ना. जोशी ⌑ मोहनलाल मेहता

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ✦ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें :
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेश खिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग. पुणे विद्यापीठ, पुणे– ४११००७।

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

*_राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाँ-पॉल सार्त्र

अपने अस्ति
जीवन

संपादकीय

हिंदी परामर्श का यह तीसरा अंक है। किसी अपरिहार्य कारण से प्रवेशांक को संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित करना पड़ा। हम जानते हैं कि आकार की दृष्टि से संयुक्तांक छोटा था परंतु संकलित सामग्री के सम्बन्ध में जो लिखित एवं मौखिक प्रतिक्रियाएँ सुनने को मिलीं उनसे यह विश्वास दृढ़ हो गया कि इस प्रकार की विशुद्ध वैचारिक पत्रिका की हिन्दी में नितान्त आवश्यता है।

परामर्श के लिए दर्शन, साहित्य एवं अन्य संबद्ध विषयों से संबंधित वैचारिक लेखों की आवश्यकता है। हम चाहते हैं कि 'परामर्श' केवल वैचारिक लेखन को प्रकाशित करनेवाली पत्रिका बन कर न रहे बल्कि वह विचारों के आदान-प्रदान का और भारतीय बौद्धिकों के बीच संवाद का सशक्त माध्यम भी बने। इसलिए आवश्यक यह भी है कि परामर्श के विद्वान् पाठक प्रकाशित विचारों की निर्मम, निष्पक्ष परंतु निर्वैयक्तिक आलोचना भी करें।

हम पाठकों को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हम पूरा प्रयत्न कर रहे हैं, कि पत्रिका निश्चित समय पर प्रकाशित हो सके और पत्रिका का आकार भी कुछ बढ़े। लेकिन यह हम सुधी पाठकों के सहयोग पर ही निर्भर रहकर कर सकते हैं। हम प्रेमी पाठकों से विनम्र अनुरोध करते हैं कि परामर्श को अपनी पत्रिका मानकर आर्थिक दृष्टि से उसे सक्षम बनाने में हमारी सहायता करें। आजीवन सदस्यता ग्रहण करने वाले ४०० सदस्य मिल जाएँ तो पत्रिका स्थायी रूप में चल सकती है। यदि किसी कारण हम पत्रिका चलाने की स्थिति में नहीं होंगे तो आजीवन सदस्यता शुल्क की राशि वापस कर दी जाएगी। वार्षिक सदस्यों का भी महत्त्व हमारे लिए कम नहीं है। यह मानने को ? नहीं करता कि हिन्दी-प्रेमी जिज्ञासु पाठक 'परामर्श' जैसी पत्रिका को शक्तिशाली बनाना अपना कर्तव्य नहीं समझेंगे।

मो. प्र. मराठे
चंद्रकांत बांदिवडेकर
कार्यकारी संपादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाँ- पॉल सार्त्र

यह वहुत ही दुःखद खवर है कि जाँ–पॉल सार्त्र, (जन्म १९०५, पॅरिस) जो इस सदी के अतिशय प्रभावी दार्शनिक हैं, का १५ अप्रैल को देहान्त हो गया। उन के अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रभाव युरप के साहित्य, नाटच, राजनीति, युवा-आंदोलन इत्यादि विविध क्षेत्रों पर पड़ा।

अस्तित्ववाद का उन्होंने संक्षेप में जो अर्थ वताया वह इस प्रकार है: मानवीय व्यक्ति के संवंध्र में उसका विशिष्ट अस्तित्व ('स्व' त्व) प्रथम आता है और उसमें से उसका विशिष्ट व्यक्तित्व (सत्–त्व) निश्चित होता है। यह विचार इस रूप में रखा जा सकता है–'सत्त्वात् संजायते स्वत्वम्'। चेतनाहीन जड़ पदार्थ के संवंध में स्थिति विलकुल विपरीत रहती है। सर्वस्व उसके स्वरूप में ही लपेटा हुआ होता है। हम एक सरौते की कल्पना करें। यह तो निश्चित ही होता है कि सरौते से सुपारी काटी जाती है। यह उसका 'स्व' त्व होता है। इस स्वत्व के अनुसार उसे अस्तित्व में लाया जाता है। इस प्रकार का अस्तित्वपूर्व स्वत्व मनुष्य का नहीं होता। मनुष्य है तो वह कृति करता है और जो कृति उसे करनी है उसका चुनाव करता है। चुनाव या वरण वह सतत करता रहता है और विलकुल स्वतंत्रतापूर्वक करता है। इस चुनाव या वरण की कोई सीमा नहीं होती न उसका कोई नियामक तत्त्व ही होता है। इसलिए व्यक्ति जो कुछ करता है और कृति के जो कुछ परिणाम होते हैं उसके लिए सर्वथा वही जिम्मेदार होता है। यह अवाध स्वातंत्र्य और उसमें अन्तर्निहित दायित्व के कारण मनुष्य गड़वड़ा जाता है, चिन्तित होता है। यह चिन्ताकुलता (anguish) मानवी जीवन का अविच्छेद्य भाग है।

कृति करने के पहले जो अभी है उसकी शून्य प्रकार की रचना वह कल्पना से करता है। इसमें उसे जो कुछ अभी नहीं है (nothingness) उसका भान रहता है। इस न-कुछ या शून्य को वह भर देना चाहता है। यह करने में अन्ततोगत्वा वह अपने को उस जड़ पदार्थ का स्वरूप देना चाहता है जिसमें शून्य नहीं होता। लेकिन उसी समय उसके ध्यान में यह भी आता है कि ऐसा करने से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने अस्तित्व का ही तिरोभाव होनेवाला है। लेकिन वह यह भी नहीं चाहता जीवन के इस अपरिहार्य अन्तर्विरोध से उसकी चिन्ताग्रस्तता अधिक तीव्र होती है।

ऐसा नहीं कि मूल्य पहले से होते हैं और बाद में मनुष्य उनका वरण करता है। उसके वरण से उन उन बातों को मूल्य प्राप्त होता है। इसके कारण कि अपने वरण का कोई आवश्यक तत्त्व नहीं; उसे अपनी सभी कृतियों की व्यर्थता (absurdity) का एहसास होता है। अपनी स्वतंत्रता के कारण उसे लगता है कि सभी पदार्थों पर अपना पूर्ण अधिकार रहे। लेकिन पदार्थ की अव्यवस्था के कारण यह उसके लिए सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए सभी बातों से उसमें घृणा (nausea) पैदा होती है।

चिन्ताकुलता, व्यर्थता, घृणा इन सभी भावनाओं को वह छिपाना चाहता है और उसके लिए यह मानकर कि अपने जीवन के कुछ पूर्व-नियोजित आदर्श हैं वह जीना चाहता है। यह आत्मवंचना (bad faith) है।

इस आत्मवंचना को ठुकराकर मनुष्य को चाहिए कि वह अपना असली जीवन (authentic life) जिए—सार्त्र की यह सीख थी। यह जीवन पूंजीवादी समाज में असंभव है, इस विश्वास से वे मार्क्सवाद की ओर मुड़े। लेकिन मार्क्स-वादियों ने उन्हें नहीं अपनाया। हाँ, जिस स्वतंत्र एवं असली जीवन का सार्त्र ने समर्थन किया उस प्रकार का जीवन वे खुद अन्त तक जिए।

१

अखिल भारतीय दर्शन परिषद का २५ वाँ अधिवेशन जबलपुर विश्व विद्यालय के तत्त्वावधान में (२६–२८ दिसम्बर १९८०) आयोजित है। सभा-पतित्व अहमदाबाद स्थित प्राच्यविद्या शोध संस्थान के जैन दर्शन के विद्वान श्री दलसुख भाई मालवणिया करेंगे। परिषद के मंत्री डॉ. रामजी सिंह (भीखनपुर, भागलपुर ८१२००१) से विस्तृत विवरण-हेतु संपर्क स्थापित किया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन का आरंभ बिंदु*

दार्शनिक आरंभ बिंदु का प्रश्न स्वयं भी एक दार्शनिक प्रश्न है और इस कारण इसका उत्तर विभिन्न दार्शनिकों के आरंभ–बिंदुओं के सर्वेक्षण से नहीं दिया जा सकता। यह तथ्य कि यह प्रश्न दर्शन से उसकी सीमाओं में रहते हुए ही किया जा सकता है, स्वयं में दर्शन के आरंभ–बिंदु की ओर, उसके मूल की ओर, एक महत्वपूर्ण संकेत है। यह प्रश्न उत्पन्न ही क्यों होता है, यह कैसे एक उचित जिज्ञास्य है, ये दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जो स्वयं इस प्रश्न के अपने आरंभ, अपने आधार की परिपृछा करते हैं। यह अन्य किसी ज्ञान–व्यवस्था से, उस व्यवस्था के अंतर्गत, नहीं किया जा सकता, यह तथ्य दर्शन को अन्य ज्ञान–विधाओं से मौलिक रूप में पृथक् करता है और इसे एक मूलगामी, अपने ही आधार की और उन्मुख, ज्ञान–विधा के रूप में प्रकट करता है। इस प्रकार वास्तव में दर्शन स्वरूपतः एक मूलगामी 'प्रत्यङ्मुख' ज्ञान–विधा है और अपनी प्रत्येक गति में यह अपने मूल की ओर, अपने आरंभ की ओर, अभिक्रमण करती है। कोई विज्ञान या शास्त्र अपने मूल के संबंध में, अपनी व्यवस्था में रहते, यह प्रंश्न इसलिए नहीं कर सकता क्योंकि वे ज्ञान–व्यवस्थाएँ विषयोन्मुर्ख व्यवस्थाएँ हैं और अपने विषय के रूप और आकार से निर्धारित होती हैं। इनके विपरीत दर्शन यह प्रश्न उन व्यवस्थाओं से उनके आरंभ–बिंदु के संबंध में ही नहीं, अपने से अपने आरंभ–बिंदु के संबंध में

---

*मैंने पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के दर्शन विभागमें अतिथि-अध्यापक के रूप में रहते हुए (१ सितम्बर से ३१ दिसम्बर के अन्तराय में) कुछ व्याख्यान दिये जिनमें यह प्रथम व्याख्यान का विषय था। इस व्याख्यान के और अन्य व्याख्यानों के क्रम से मेरे प्रतिपादनों की प्रतिक्रिया में उपस्थित अध्यापकों में से कुछ ने, मुख्यतः डॉ. धर्मेन्द्र गोयल ने, कुछ प्रश्न उठाये जिनके परिणामस्वरूप वहाँ हुए विचारविमर्श का प्रतिफल यह लेख है। डॉ. गोयल के आक्षेप और उनके सक्षिप्त उत्तर लेख के अंत में पृथक् भी दिये जा रहें हैं। लेखकं डॉ. गोयल के प्रति, और अन्य उपस्थित अध्यापकों के प्रति इस सहयोग और विचारोद्दीपन के लिए बहुत आभारी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी कर सकता है; इतना ही नहीं, वह स्वयं इस प्रश्न के उत्स के संबंध में भी प्रश्न कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि यह विषयमूलक व्यवस्था ही नहीं है, यह ज्ञान का आत्मोन्मुख व्यापार है जो निरंतर अपने आरंभ-बिंदु से आरंभ कर उसीपर लौटता है।

किन्तु प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञान आत्मोन्मुख 'प्रत्यङ्मुख' हो सकता है? क्या ज्ञान के लिए यह स्वरूपतः असंभव नहीं है कि वह निर्विषय हो सके? शंकर तक कहते हैं कि "यह आत्मा भी अत्यंत अविषय नहीं है, यह भी अहं-प्रत्यय गोचर है।"[1] इस दृष्टि से हुस्सर्ल (और उससे पूर्व ब्रेंटानो भी) अधिक निश्चित है; वह चैतन्य को स्वरूपतः विषयापेक्षी (इंटेंशनल) मानता है। चैतन्य की इस विषयापेक्षा का आशय ठीक से समझने के लिए यहाँ एक उद्धरण देना उपयोगी होगा जिसमें लेखक ने सार्त्र द्वारा हुस्सर्ल के इस मत के समर्थन की व्याख्या दी है। उसके अनुसार सार्त्र के लिए हुस्सर्ल के विषयापेक्षा-सिद्धात का मुख्य आकर्षण विषयिनिष्ठतावाद (सब्जेक्टिविज्म) से मुक्ति दिलाने में ही है। ...... इस सिद्धांत में विषयापेक्षा विषयिमूलक ध्रुव (सब्जेक्टिव पोल) का फलन नहीं है, बल्कि यह विषयभाव (नोएमा) है, "चैतन्य हमें वस्तुसत् के सम्मुख प्रस्तुत करता है और उसी के माध्यम से अहं (इगो) का उद्भव होता है। इस प्रकार अहं विषय का समवर्ती है... यदि इसे अनुवर्ती नहीं भी कहें तो।... सार्त्र हुस्सर्ल की चैतन्य की इस अवधारणा का रूपान्तरण कर "अहं के असत्त्व (नान्बींग) को आदिम प्रदत्त (डाटम) का पद दे देता है। हुस्सर्ल का चैतन्य की निरहंता का सिद्धांत (नान् इगोलोजिकल थीयरी) अस्तित्व-निषेध (निहिलेशन) के दर्शन के रूप में रूपांतरित हो जाता है।"[2] किन्तु यह द्रष्टव्य है कि हुस्सर्ल विषय का स्थगन (सस्पेंशन) संभव मानता है, यद्यपि यह स्थगन विषय से विमुखता नहीं देता, केवल एक दूसरे स्तर की विषयता देता है।[3] तब क्या दर्शन भी वास्तव में एक विज्ञान ही नहीं है, जिसका कार्य अन्य विज्ञानों के समान अपने विषय के रूप और आकार को समझना ही है? पश्चिम के दार्शनिकों का यही प्रयत्न रहा है कि

१– "नायमात्मा अत्यन्तेनाविषयः अहम्प्रत्ययगोचरत्वात्।" (अ. १, पा. १, सू. १)

२–मारिस नटानशन का लेख "फिनोमिनलोजी एंड एग्जिस्टेंश्यलिज्म, जोसेफ जे. कोवकलमान द्वारा संपादित पुस्तक "फिनोमिनलोजी (एकर बुक्स) में संकलित। यहाँ यशदेव शल्य कृत "विषय और आत्म" अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से उद्धृत, पृ. ०१४४-४५ रेखांकन हमारे द्वारा।

३–वही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन को भी विज्ञान के समान निश्चित आधार दिया जा सके। हुस्सर्ल इसके संबंध में सर्वाधिक प्रयत्नशील रहे हैं। और वहाँ के जिन दार्शनिकों ने यह समझा कि यह संभव नहीं है उन्होंने दर्शन को ज्ञान का स्वतंत्र क्षेत्र ही नहीं माना और इसे उन विधाओं का अनुषंगी मात्र माना जो विधाएँ उनके अनुसार ज्ञान विषयक विधाएँ हैं; धार्मिक दार्शनिकों ने संत को ज्ञान का अधिकारी माना तो ऐंद्रिक प्रत्यक्षवादियों (पाज़िटिविस्ट्स) ने वैज्ञानिकों को, और कुछ अन्यों ने लोकसंज्ञान (कामन सेंस) को। इनके लिए दर्शन का कार्य इनके साक्षात्कारात्मक अथवा सहज ज्ञान का बौद्धिक विधा में अनुवाद-विमर्श मात्र है। दर्शन को ज्ञान का स्वतंत्र क्षेत्र केवल उन्होंने माना जिनके अनुसार बुद्धि सत् की एकमात्र अथवा सर्वाधिक महत्वपूर्ण ज्ञापक है। किंतु यहाँ हमारा उद्देश्य सत् के स्वरूप का विवेचन नहीं है, केवल दर्शन के आरंभ-बिंदु पर विचार करना है। सत् का प्रसंग अनुषंगतः ही उठा और आगे भी उठेगा, किंतु केवल अनुषंगतः ही यहाँ प्रासंगिक है। मूल प्रसंग यहाँ आरंभ-बिंदु का है जो अपने स्वरूप से ही अंततः आरंभ-बिंदु के आरंभ-बिंदु का प्रश्न हो जाता है, और यदि आरंभ-बिंदु का प्रश्न अपने आरंभ-बिंदु की परिपृच्छा करना है तब इस गति का कहीं अवसान नहीं हो सकता। अपने मूल की ओर उन्मुखता बुद्धि का एक गुण है, चैतन्य की अन्य सब विधाएँ केवल विषयोन्मुख रहती हैं। सांख्य ने जगद्भाव के प्रसार और उपसंहार का मूल बुद्धि को ी कहा है, किंतु उसकी उपसंहारात्मक वृत्ति को विवेक में पर्यवसायिनी माना है। किन्तु क्या आरंभ-बिंदु की परिपृच्छा का स्वरूप उपसंहारात्मक है? क्या यह पृच्छा पर्यवसायिनी है?

सांख्यीय विवेक बुद्धि-वृत्ति द्वारा अपने स्वरूप की सीमाओं का अवगाहन और अवलोकन है, जिसका अर्थ है कि उसके अनुसार बुद्धि अपने आरंभ-बिंदु पर पहुँच सकती है और तब अपना अतिक्रमण कर सकती है। सिद्धांततः यह बात संभव प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यदि यह संभव हो तो आत्मोन्मुख निवर्तन की पहली ही क्रिया के साथ निवर्तन का पर्यवसान हो जाना चाहिए, तब आरंभ-बिंदु के आरंभ और इस आरंभ के मूल की परिपृच्छा की कोई संभावना या आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक बौद्धिक परिपृच्छा निवर्तनोन्मुख क्रम में अपने विषय के अतिक्रमण के साथ अपना विषयकरण करती है, और इसके साथ पुनः विषयी-विषय संबंध में अवस्थित हो जाती है। प्लेटो और डेकार्ट ने चैतन्य को बुद्धि-स्वरूप मानते हुए इस तथ्य को नहीं देखा। प्लेटो ने बुद्धि को प्रत्ययरूपसत् की साक्षात्कारिणी और डेकार्ट ने किसी भी विचार क्रिया में आत्मसाक्षात्कार के साथ पर्यवसायिनी के रूप में देखा। किन्तु प्रथम तो बुद्धि किसी भी प्रत्यय का ग्रहण उसके अन्य के साथ भेद-विनिश्चय के बिना नहीं कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकती, जिसका अर्थ है कि इसका विषय भाव और अभाव के छंदों से निर्धारित होता है और परिणामतः अव्यवहित प्रदत्त नहीं होता, दूसरे. वस्तु (प्रत्यय) का ग्रहण बुद्धि की अद्वितीय विशेषता नहीं है, इसकी अद्वितीय विशेषता इसकी प्रत्यङ्मुख होने की सामर्थ्य है। प्लेटो केवल बुद्धि के विषय के स्वरूप की उदात्तता, आदर्शरूपता और अद्भुत् स्फुटता से अभिभूत रहा और उसने इस विषय को ही सत् मानकर बुद्धि को आत्मगत सत् मान लिया। अवश्य डेकार्ट ने बुद्धि के आत्मान्मुख अभिक्रम को उसके स्वभाव के रूप में देखा, किन्तु इस अभिक्रम को अपने प्रथम चरण में ही अपने मूल के साक्षात्कार के साथ पर्यवसायी माना। किन्तु प्रथम तो यह बुद्धि का स्वभाव ही नहीं है कि वह निवर्तनोन्मुखता में आत्म-साक्षात्कार के साथ पर्यवसायिनी हो, क्योंकि बौद्धिक आत्म-दर्शन आत्म का विषय-करण कर दर्शक आत्म की ओर और पीछे ही लौटता है : वस्तु-दर्शन यदि इस दर्शन-क्रिया के साथ पर्यवसित नहीं होकर 'मैं देख रहा हूँ'—बोध की ओर उन्मुख होता है तो यह उन्मुखता 'मैं देख रहा हूँ' का विषयकरण कर और पीछे लौटती है। इसलिए या तो आत्म को बुद्धि की सीमाओं से बाहर रखा जाय और तब संदेह-क्रिया के आधार के रूप में देखा जाय, जैसा कि शंकर ने देखा[४], अन्यथा इस आत्मोन्मुख क्रिया को अपर्यवसायिनी माना जाय। जो कि वास्यम में यह है। किन्तु डेकार्ट बुद्धि को उसकी सीमाओं में रखते हुए ही उसका पर्यवसान देखना चाहता है, अथवा कहें, उसे वह आत्मपर्यवसायिनी देखना चाहता है, जो संभव प्रतीत नहीं होता। वास्तव में डेकार्ट विचार-क्रिया के अव्यवहितत्व : विचारता हूँ—मैं हूँ : मैं और उसकी अन्तर्वस्तु (कंटेंट) की स्पष्ट प्रदत्तता (डिस्टिंक्ट गिवन-नेस) में भी भेद करता प्रतीत नहीं होता। इसकी पुष्टि ो बातों से होती है, एक तो इससे कि वह शुद्ध विचार के विषय : विविक्त प्रत्यय: को असन्दिग्ध प्रदत्त मानता है और दूसरे, वह यह भी कहता है कि 'मैं हूँ' के रूम में उन्मीलन या अव्यवहितत्व में "मैं अपूर्ण हूँ" का उन्मीलन या अव्यवहितत्व होता है। किन्तु तब आत्म विचार-क्रिया की प्रत्यङ्मुखता नहीं होकर आत्म-प्रत्यय : विचार-प्रदत्त विषय : ही हो सकता है। इस प्रकार प्रत्यङ्मुख : आत्मोन्मुख : विचार-क्रिया का अवसान आत्म के अव्यवहितत्व (इमीडियेसी आफ सेल्फ) में देखने का डेकार्ट का प्रयत्न सफल नहीं कहा जा सकता। यह असफलता तब और तभी स्पष्ट हो जाती है जब वह प्रत्यय की सत्यता को बाह्य सत् की अनुषंगी देखता है[५] तब बिस्तार-

---

४. आत्मनः प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्। य एव निराकर्ता तस्यैव आत्मत्वात् सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति। न नाहमस्मीति। (शां. भा; अ. पा. सू. ४)

५—डेकार्ट— फिलासफिकल राइटिंग्ज, पृ. २३०, संपा. तथा अंग्रेजी अनुवाद नार्मन कैम्पस्मिथ दि माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क, १९५८।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्राही प्रत्यय : अवधारणा : की सत्यता भौतिक द्रव्य के और आत्म-ग्राही प्रत्यय की सत्यता ईश्वर के अधीन हो जाती है।

प्लेटो की बात दूसरी है, वह बुद्धि का दार्शनिक व्यापार आत्मोन्मुख नहीं देखकर बहिर्मुख ही देखता है (यद्यपि यह एक रोचक बात है कि वह भी गुफा में छायाएं देखने के रूपक के द्वारा ज्ञान का स्वरूप विषय से निवर्तन में ही देखता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह निवर्तन एक भिन्न स्तरीय विषयोन्मुख प्रवर्तन ही है। और दर्शन का आरंभ विन्दु परिपृच्छा (क्वश्चनिंग) में नहीं देख कर जिज्ञासा में देखता है, जिसका अर्थ है कि वह बुद्धि व्यापार को वस्तु-साक्षात्कार में पर्यवसायी मानता है। किन्तु बुद्धि वहिर्मुख वृत्ति में भी, अपने धर्म में में रहते हुए, अपने व्यापार का पर्यवसान देख सकती है या नहीं, यह एक विचारणीय वात है। हमने पीछे देखा की वुद्धि विकल्पात्मक-द्वन्द्वात्मक है, तव वह किस प्रकार यह संभव मानता है कि वह; बुद्धिः अखंड सत् : दि गुड—परम शिवः " का साक्षात्कार कर सकती है?

वास्तव में प्लेटो बुद्धि को द्वन्द्वात्मक नहीं देखकर ऐन्द्रिय विषयों को सापेक्ष और इस प्रकार द्वंद्वात्मक देखता है और उनके विपरीत बुद्धि—विषयों को निरपेक्ष और निरंतर—द्वंद्व सत्ताओं के रूप में देखता है। पार्मेनिडोज़ संवाद में वह कहता है कि मेरा निर्धारण 'एक' और 'अनेक' दोनों प्रकार से किया जा सकता है अंगों के संघात के रूप में या दैशिक संबंधों के प्रसंग में 'अनेक हूँ' और यहाँ वैठे सात व्यक्तियों में से एक के रूप में 'एक' हूँ। किन्तु यदि कोई 'अनुरूपता' 'भिन्नता' आदि प्रत्ययगम्य वस्तुओं (आइड़ियाज़) के सम्बन्ध में यह कहे कि ये भी द्वंद्वात्मक या सापेक्ष वस्तुएं हैं तो आश्चर्य होना स्वाभाविक हो इसी प्रकार वह सुन्दर वस्तु (विषय) और सौन्दर्य तत्त्व (आइडिया आफ ब्यूटी) में, अथवा लंवे और नाटे व्यक्तियों तथा लंवाई और नाटेपन के तत्व (वस्तु) में भेद करता है। और प्रथम को सापेक्ष या द्वंन्द्वात्मक अवधारणाएं और दूसरे को निरपेक्ष वस्तुएं या सत्ताएं कहता है। इसी प्रकार सोफिस्ट संवाद में वह कहता है कि सत् (वींग) अपने को सत् और असत् (नान्—वींग) दोनों में घटित करता है, किन्तु जो इस प्रकार दोनों में घटित होता है वह असत् दोनों से विलक्षण है। वुद्धि के संवंध में यह मत स्पष्टतः वौद्ध मत से मूलतः विपरीत है जिसके अनुसार वुद्धि ऐन्द्रिक अथवा अतीन्द्रिय यौगिक प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य विषयों का साक्षात् नहीं कर विकल्प—द्वंद्वों; सापेक्षताओं; की सृष्टि करती है और उनका सत् पर उपचार करती है। यह मत दार्शनिकों में किसी न किसी प्रकार बहुत व्यापक रूप से स्वीकृत है। किन्तु यदि यह सही है तो दर्शन के लिए, उसके बुद्धिमूलक होने से, कोई अवकाश नहीं रह जाता, अथवा केवल आत्म—विराकरण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही एकमात्र कर्तव्य रह जाता है, जैसा कि सांख्य और विटिगंस्टाईन (ट्रक्टैटस) में अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित भी करते हैं, नागार्जुन को "विग्रह-व्यावर्तनी" का तो यह एकमात्र प्रयोज्य है ही। किन्तु यदि चैतन्य अपनी सभी विधाओं में विषयोन्मुख ही है जैसा कि फिनोमिनलोजीवादी दार्शनिक मानते हैं, तब भी दर्शन के लिए कोई उचित अवकाश नहीं रह जाता, क्योंकि विषय की व्यवस्था देना विज्ञान का कार्य है।❋ डेकार्टीय आत्मोन्मुखता में भी दर्शन के लिए अधिक अवकाश नहीं है क्योंकि उसका बौद्धिक चैतन्य अधिक से अधिक मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता का प्रापक ही हो सकता है, वह भी आत्मोन्मुख वृत्ति के बहिर्मुख पुनः प्रवर्तन में ही। और इस प्रवर्तनके साथ ही वह एक ओर अपने विस्तार-धर्मी प्रत्ययों की व्यवस्था के लिए ज्यामिति के पक्ष में दर्शन को छोड़ने के लिए बाध्य है और दूसरी ओर अपूर्णता के प्रत्यय की, जो कि उसके आत्मसाक्षात्कार का अन्तर्गत प्रत्यय है,[६] व्याख्या के लिए ईश्वर विज्ञान (थियालोजी) के पक्ष में। किन्तु बुद्धि के स्वरूप के संबंध में ये तीनों प्रकार की अवधारणाएँ युक्त नहीं हैं।

चैतन्य की आत्मोन्मुखता

चैतन्य में वास्तव में विषयोन्मुख और आत्मोन्मुख दो विपरीत दिशाओं में गति देखी जा सकती हैं। विषयोमुन्खता की पराकाष्ठा इंद्रिय-वृत्ति में मिलती है जिसमें विषय और विषयी : चैतन्य : के बीच अव्यवहितत्व रहता है। यह चैतन्य अपने विषय का अपनी वृत्ति के अनुसार आक्षेप कर उससे अवियोज्य रूप से संबद्ध हो जाता है। पाशव स्तर पर चैतन्य इसी अवस्था में मिलता है, यद्यपि इसमें भी चैतन्य द्वारा विषय से वियुक्त होने के प्रयत्न के चरण जैविक विकास-क्रम के रूप में देखे जा सकते हैं। बौद्धों या अनुभववादियों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जिस स्वलक्षण का साक्षात्कार करता है वह वास्तव में विषय से पूर्णतः वियुक्त बौद्धिक चैतन्य द्वारा वस्तु-निर्धारण हैं, चैतन्य और विषय-वस्तु का अव्यवहित संयोग नहीं है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। मनुष्य के स्तर पर विषय और विषयी के बीच सम्बन्ध व्यवहित हो जाता है। यह व्यवधान विकल्पात्मक नहीं है, जैसा कि बौद्ध, अनुभववादी या कांट प्रभृति दार्शनिक समझते हैं;

❋ कहा जा सकता है कि फिनोमिनलोजीवादी दार्शनिक विषय की नहीं विषयापेक्षा की, अर्थात् विषय-चेतना में अवधारण के आकारों की व्यवस्था देते हैं किन्तु वे स्वयं भी अपने दर्शन को धर्मों : तत्त्वों : का विज्ञान (साइंस आफ एस्सेंसेज) ही कहते हैं और उचित रूप से ही।

६-द्रष्टव्य डॉ. भगवती राव-डेकार्ट : दार्शनिक विवेचन, दार्शनिक त्रैमासिक अप्रैल १९७३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बल्कि यह चैतन्य की आत्मोन्मुख वृत्ति द्वारा अपने भीतर घटित विस्फोट-जन्य है, जिससे यह अपने को विषय से विच्छिन्न कर उसे प्रेक्षणीय और अपने को प्रेक्षक रूप में स्थापित करता है। इस विच्छेद के साथ इंद्रिय विषय विकल्प-विषय से भी व्यवहित हो जाता है, जो पुनः विषय ही है। किन्तु यह विषय बुद्धि-गोचर है और इसकी विषयता इंद्रिय-विषय की विषयता से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इंद्रिय-विषय वस्तु-मूलक और बौद्धिक विषय काल्पनिक होता है जैसाकि दिङ्नाग, कांट और अनुभववादी समझते हैं। सच बात यह है कि दिङ्नागादि जिसे निर्विकल्पक प्रतिभास कहते हैं वह इंद्रिय-विषय ही नहीं है जैसा कि हमने अभी देखा।[७] इसके विपरीत वह निर्वर्तित चैतन्य के प्रेक्षक-भाव की पराकाष्ठा है, जिसमें विषय अपने आवेष्टन से पूर्णतः विनिर्मुक्त चैतन्य के लिए प्रेक्षणीयता की शुद्धता में अवस्थित होता है किन्तु इंद्रिय-विषय की शुद्ध प्रेक्षणीयता केवल ऐन्द्रिक चैतन्य-मूलक नहीं होती वह इस अर्थ में निर्विकल्पक भी नहीं होती है कि उसे बुध्द्यातीत चैतन्य की विषयता कहा जाय; वह केवल इस अर्थ में निर्विकल्पक होती है कि इसमें बुद्धि चैतन्य के आत्मोन्मुख अभिक्रम में अपने विकल्पों का भी साक्षात्कार कर उनके परे देखती है। इस प्रकार और इसी कारण, शुद्ध विषयता की यह दृष्टि दर्शन के ही अन्तर्गत है यद्यपि विषय की शुद्धता की दृष्टि को सिद्ध करने में निहित प्रयत्न योग है, जो दर्शन का अनुसरण करता है और अनुक्रमशः दर्शन का सहायक होता है।

यह निर्विकल्पक विषय ऐन्द्रिक नहीं होता, यह इस बात से देखा जा सकता है कि यह संवेदना से, जो कि इसका मूल ग्राहक:विषयी: है, और काल से जो, कि संवेदना का अनिवार्य धर्म है, मुक्त हो कर निरालंब सत् में प्रतिष्ठापित होता है। अवश्य बौद्धों ने इसे काल धर्म से मुक्त नहीं किया, किन्तु तब उन्होंने निर्विकल्पक प्रेक्षक को भी उसी काल में स्थापित कर उसे कालातीत बना दिया। और इन विषय और विषयी दोनों का काल उनके अनुसार नितान्त क्षणिक : सद्य : उत्पन्न-विनष्ट : है, इससे इसका और समर्थन होता है।

किंतु निर्विकल्पता की यह साधना केवल इंद्रिय-विषय का परमार्थ स्वरूप सिद्ध करने के लिए ही प्रयोजनीय नहीं होती; वास्तव में यह सिद्धि अपने-आपमें कुछ सिद्ध भी नहीं कर सकती। यह साधना वास्तव में चैतन्य के उस आत्मोन्मुख निवर्तन के अन्तर्गत ही प्रयोजनीय होती है जो ऐंद्रिक के ऊपर बौद्धिक

७- इसपर विशेष के लिए द्रष्टव्य यशदेव शल्य-ज्ञान और सत्, अ. २ भी द्रष्टव्य, (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १६६७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विकल्पों का साक्षात्कार करता है। ऐंद्रिक विषयों के समान बौद्धिक विकल्प भी विषय ही होते हैं और चेतना को उसी प्रकार पराङ्मुख रखते और बांधते हैं जिस प्रकार ऐंद्रिक विषय, किन्तु ये अपने अर्थों में जटिल और गंभीर होते हैं और बुद्धि का जागरण चैतन्य की निवर्तनौन्मुख वृत्ति के क्रम में होने के कारण, इनमें प्रेक्षणीयता की न्यूनाधिक शुद्धता स्वरूपतः रहती है, जिसका अर्थ है कि इनके विषयी : बुद्धि : में प्रेक्षकत्व की न्यूनाधिक शुद्धता रहती है, जो इंद्रिय-विषयों में स्वरूपतः अनुपस्थित होती है। किंतु विषय रूप में इनकी : बुद्धि–विषयों की : विशेषता इनकी प्रेक्ष्यता, पारदर्शिता, द्वंद्वात्मकता, विमृश्यता, अदेश-कालिकता और मननीयता है। इनमें कोई भी लक्षण इंद्रिय–विषय में नहीं रहता, उसमें इनमें से कोई भी लक्षण होने का अर्थ है कि वह विकल्प से अनुप्रविष्ट है। इस प्रकार निर्विकल्पक इंद्रिय प्रत्यक्ष संवेद–प्रदत्त में कम से कम तीन लक्षण विकल्प–मूलक रहते हैं—द्वन्द्वात्मकता. प्रेक्ष्यता और अकालिकता। कांट ने तो अदैशिकता को भी निर्विकल्पक का धर्म माना है, किन्तु दिङ्नाग ने ऐसा नहीं माना है।

यहाँ इन लक्षणों की व्याख्या देना स्थाने होगा—

१. द्वंद्वात्मकता का अर्थ है भाव और अभाव दोनों से युगपत् परिभाषित होना। इस प्रकार बुद्धि अपने किसी भी विषय का विनिश्चय भाव और अभाव दोनों से एकसाथ करती है। यह द्रष्टव्य है कि शांतरक्षित ने स्वलक्षण को सर्वतो-व्यावृत्तः अर्थात् ऐसा भाव जो अन्य सबमें अभाव रूप से उपपन्न है : कहा है। किंतु वास्तव में यह परिभाषा बौद्धों के अनुसार किसी भी शब्द–वाच्य विषय की है, स्वलक्षण की नहीं। इनमें भेद इस प्रकार किया जा सकता है कि द्वंद्वात्मकता स्वप्रकाशित अन्यव्यावृत्ति है जो केवल विकल्प–विषय में ही संभव है, स्वलक्षण में अन्यव्यावृत्ति अप्रकाशित रहती है, क्योंकि स्वलक्षण में अन्य का कोई प्रसंग नहीं रह सकता। अन्य का या अन्य से व्यावर्तन का प्रकाशन केवल वहीं हो सकता है जहाँ विषय का ग्रहण अन्यापेक्षापूर्वक हो। अन्यव्यावृत्ति का कारण ग्रहण की औपाधिकता है, उपहित चैतन्य अनिवार्यतः बाँट कर ग्रहण करता है। इस प्रकार रूप का ग्रहण रूप-विशेष का ग्रहण ही हो सकता है : नील वर्ण प्रकाश–किरणों का एक तरंग–दैर्घ्य–विशेष में ग्रहण है, अविभक्त तरंगता का ग्रहण नहीं है, इसी प्रकार प्रकाश भूततत्त्व–सामान्य का प्रकाशोपाधि में ग्रहण है। कोई भी ग्रहण उपाधि के बिना संभव नहीं है। किंतु यह औपाधिकता केवल बौद्धिक ग्रहण में ही आत्मप्रकाशित होकर द्वंद्वात्मकता का रूप लेती है। 'वह राम हैं, में 'वह' का 'अ-राम का' और 'था' तथा 'होगा' का व्यावर्तन उद्घोषित रहता है और भाव तथा अभाव के द्वंद्व का यह स्वप्रकाशन एक ओर अविभक्त को विभक्त कर नवीन तथा अतर्क्य अर्थों के वैभव को उत्सृष्ट करता है और दूसरी ओर इन अर्थों की औपाधिकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को देख कर अखण्ड : निरुपाधिक: में अपना अतिक्रमण करता है। ऐकोऽहं बहुस्याम 'अथवा' 'पुरुष-विमोक्ष-निमित्तं प्रवृत्तिः प्रधानस्य'[८] का यही अर्थ है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना उपयुक्त होगा :—रसना, भूत-तत्त्व की पाँच में से एक उपाधि का विषयाक्षेप और विषयावधारण करती है, किंतु इंद्रिय-वृत्तिक चैतन्य का यह अवधारण : ग्रहण : अपनी औपाधिकता का ग्रहण नहीं कर सकता। बुद्धि इस ऐन्द्रिक ग्रहण को स्वप्रकाशित विकल्प-द्वंद्वों में विभक्त कर पाकशास्त्र के रूप में विभाजन: विमर्श : के एक दूसरे आयाम की सृष्टि करती है जो एक ओर रसग्रहण में निहित अनुद्भिन्न अर्थों को अनद्भन्न करता है और दूसरी ओर इन असंख्य उपाधियों का एक व्यवस्था में समाहार कर इनके परे रस की सर्वसमावेशी अखण्ड एकता का आभास देखता है। यही विमर्श है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विकल्प-ग्राह्य ये अर्थ उतने ही "वस्तुगत" हैं जितना संवेद-ग्राह्य अर्थ : रस : है।

२. बौद्धिक प्रत्यय अदेश-कालिक होते हैं, यह संभवतः विवाद-विषय नहीं होगा, किंतु इसके महत्त्व की व्याख्या यहाँ स्थाने होगी। सर्वप्रथम, कोई विषय अदेश-कालिक है, इसे स्वीकार करने का अर्थ है कि देश-काल अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं हैं। किंतु इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जो विषय देश-काल, अथवा देश या काल में नहीं हैं वे अस्तित्ववान नहीं हैं। वास्तव में यह दूसरा मत ही लोक-प्रसिद्ध और विज्ञान-सम्मत मत है। जाति : सामान्य : की सत्ता की अस्वीकृति के मूल में यही धारणा है। किंतु किसी प्रज्ञप्ति (प्रपोज़ीशन) को लें, जैसे "देश भौतिक वस्तु का अनिवार्य घटक है।" इसका विज्ञाप्य या विषय देश या काल में नहीं है, इसी प्रकार, प्रत्येक वस्तुभाव और अभाव दोनों एकसाथ निर्धारित होती है" का विषय भी अदेश-कालिक है। अब यह कहना कि इन प्रज्ञप्तियों का अस्तित्व नहीं है, "अस्तित्व" को देश-काल से परिभाषित करना ही होगा, यह दिखाना नहीं कि अस्तित्व के लिए देश-काल अनिवार्य हैं। वास्तव में प्लेटो के नीलिमा, लंबाई आदि प्रत्ययविषयों (आयडियाज़) को भी इसी अर्थ में समझना चाहिए, न्याय दर्शन की जातियों के अर्थ में नहीं, जो विशेष वस्तुओं में रहती हैं। ये प्रत्यय वास्तव में गोचर विषयों के आधार और गन्तव्य : भाव और भाव्य : दोनों हैं, इनसे और इनमें निर्धार्य नहीं हैं। किंतु यहाँ यह कहा जा सकता है कि विषय होना एक बात है और अस्तित्ववान् होना दूसरी बात, इस प्रकार, प्रत्यय : बुद्धि-विषय : और प्रज्ञप्तियाँ विषय हो सकती हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इनका अस्तित्व भी माना जाए। किन्तु यदि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाए तो एक ऐसी कोटि माननी होगीं जो दैशिक-कालिक विषयों

८— ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका, ५७।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और अदैश्क्षिक-अकालिक विषयों तक दोनों का समावेश करे। "सत्" ऐसी कोटि हो सकती है। स्वभावत: इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु यदि कोई यह कहता है कि प्रत्यय-विषय विषयिनिष्ठ कल्पनाएँ हैं तो उसका उत्तर है कि यदि ऐसा हो तो प्रत्यय-विषय के संबंध में सहमति और मतभेद नहीं हो सकते और न उनका ग्रहण पर्याप्त—अपर्याप्त अथवा न्यूनाधिक पूर्ण होने की वात कही जा सकती है। किन्तु प्रत्यय-विषयों के संबंध में ये दोनों बातें देखने को मिलती हैं। बास्तव में यह प्रत्ययों के संबंध में ही वस्तुस्थिति है कि उनका अवगाहन करने के क्रम में सन्ततियों और संप्रदायों का निर्माण हाता है।

इस प्रकार अदेश-कालिक वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए और एक बार यह देख लेने पर यह देखने में भी कोई बाधा नहीं रहती कि बौद्धिक चैतन्य : बुद्धिरूप उपाधि में प्रकट चैतन्य : के लिए व्यक्ति रूप उपाधि अनिवार्य नहीं है। वैसे तो बुद्धि-विषय : प्रत्यय : की उपयुक्त अनव-गाह्यता इस बात की द्योतक होनी चाहिए कि इनके ग्राहक व्यक्ति-चैतन्य में ही वैयक्तिक अहंकारोपाधि की सीमाओं का अतिक्रमण विद्यमान रहता है, किंतु अतिवैयक्तिक बुद्धि की विद्यमानता इससे स्वतंत्र भी देखी जा सकती है। इसका एक उदाहरण भाषा है। भाषा को दो प्रकार से देखा जा सकता है— १. प्रतीक—व्यवस्था के रूप में और २. प्रतीक—व्यवस्था के आधार के रूप में। वास्तव में इन दो में तब कोई भेद नहीं रह जाता यदि हम इनके अणुओं : शब्दों या वाक्यों : को आकुंचन द्वारा उस अर्थ की अभिव्यक्ति करते देखें जो इनमें अभिव्यक्ति के साथ ही इनके किनारों से उत्प्लवित हो जाता है। इतर-व्यावृत्ति वास्तव में उस आकुंचन और उत्प्लवन के तथ्य की ही द्योतक हैं, "यह घट है" वाक्य घट सामान्य, भौतिक वस्तुत्व, वस्तुत्व सामान्य, नवस्तुत्व सामान्य, इस लघु देश-विस्तार से भिन्न संपूर्ण देश, इस काल-क्षण से इतर संपूर्ण काल इस सब का व्यावर्तन कर एक वाच्य अर्थ का बोध करता है। किंतु यह व्यावर्तन-क्रिया अपने कर्तृत्व के बोध से उद्भासित होती है और इस प्रकार यह वाक्य उस भाषा का अविभाज्य अंग बनता है जो उन सब वाक्यों को धारण करती है जो इससे व्यावृत्त होते हैं। यहाँ "काल, वस्तुत्व" आदि भाषा कल्पित रूपों में ही अभिप्रेत हैं। : यहाँ प्रसंगोपात्ततः यह कहना भी उपयुक्त होगा कि स्वयं एक भाषा भी वाक्-तत्त्व का आकुंचन है : उपाधि है :, और वास्तव में यह अभिव्यक्ति मात्र का स्वरूप है कि वह आकुंचित : निरुपाधिक : में आकुंचन द्वारा उत्पन्न होती है। यह केवल एक रहस्यात्मक कल्पना नहीं है, यह एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद की संभावना से सिद्ध है। एक प्रतीक व्यवस्था के रूप में एक भाषा अपने-आप में एक पूर्ण गत्यात्मक वृत्त होती है। जिसके भीतर के सभी अंश उस वृत्त की गतिमान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्तुलता से अन्तः प्रविष्ट रहते हैं। इस प्रकार किन्हीं भी दो स्वतंत्र भाषाओं के वाच्य समान नहीं हो सकते। किंतु तब भी एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद संभव है। अवश्य कुछ विचारक अनुवाद को संभव नहीं मानते,[९] किंतु यदि अनुवाद को अत्यन्ततः संभव नहीं भी मानें तो भी यह बहुत सीमा तक तो संभव होता ही है। किंतु आधार-भाषा (डीप-ग्रामर), जो परावाक् में अपने आधार का संकेत करती है, के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनुवाद की संभावना को स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं है, यह अस्तित्व उस विचारक के अस्तित्व से ही सिद्ध होता है जो दो भाषाओं को देखकर उनमें परस्पर अनुवाद की संभावना देखता है, क्योंकि वह उन भाषाओं की उपाधियों के रूप और उन उपाधियों में संकुचित अर्थ द्वारा उन विशिष्ट वाच्य-रूपों का उत्प्लवन करने की असामर्थ्य को देखता है और इस प्रकार उस मूल अर्थ का भावन करता है जो इन आकुंचनों में आकर भाषा का रूप लेता है। इस प्रकार भाषा तीन स्तरीय अस्तित्व को, अथवा कहें भिन्न-भिन्न स्तरों के तीन अस्तित्वों को, प्रकट करती है: वैयक्तिक अहंकारोपाधिमूलक प्रतीक-व्यवस्था, निर्वैयक्तिक अहंकारोपाधि-मूलक प्रतीक-व्यवस्था और निरहकार वुद्धयोपाधि-मूलक वाक्-तत्त्व।[१०] किंतु यदि इस तीसरे स्तर को छोड़ भी दें तो भी वास्तविक भाषाओं के रूप में व्यक्त्योत्तर वुद्धि का अस्तित्व असन्दिग्ध है; ठीक इसी प्रकार कला-रूपों दर्शन-व्यवस्थाओं, संस्कृतियों आदि के रूप में अन्य प्रकारक उपाधियों का भी है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इनका अदेशकालिकता से क्या संवंध है? क्योंकि देश और काल दोनों इनके अस्तित्व के घटक होते हैं, किंतु यह सही नहीं है। उदाहरणतः भाषा को ही लें— किसी एक

९—ली हूवोर और विल्लर्ड वान् ओर्मान् क्वाइन इस मत के प्रमुख प्रतिपादक हैं। ओस्वाल्ड स्पेंग्लर दो संस्कृतियों को भी सर्वथा पृथक् वृत्तों के रूप में देखता है, जिनकी संपूर्ण ग्रहण, चिंतन और कल्पना-विधाएँ ही सर्वथा भिन्न और परस्पर असंवादी होती हैं। किंतु स्पेंग्लर ने अपनी संस्कृति से भिन्न अन्य संस्कृतियों पर भी विचार किया है, इस प्रकार चैतन्य में एक संस्कृति और विद्यमान अन्य सव संस्कृतियों से व्यापकतर अवधारण की सामर्थ्य सिद्ध है।

१०. 'परावाक्' भर्तृहरि का पद है जो शब्द-ब्रह्म को सृष्टि का मूल मानता है। मैं यहां भर्तृहरि का समर्थन नहीं कर रहा हूँ क्योंकि में सव चिद्वृत्तियों को 'वौद्धिक' में अध्याहार्य नहीं मानता हूँ और परावाक् को मैं परावुद्धि (महत्) का ही पर्याय मानना उचित समझता हूँ। संभव है भर्तृहरि के संवंध में कहा जाय कि उसका 'वाक्' शब्द परा-वुद्धि का पर्याय नहीं है, किंतु तब मेरा प्रयोग भर्तृहरि से भिन्न है, क्योंकि मैं इसका प्रयोग परावुद्धि के अर्थ में ही कर रहा हूँ जो वाक् की मूल है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषा में देश और काल त्रिकाल में और सर्वत्र बोले और लिखे गए वाक्य कहे जा सकते हैं। किंतु ये भाषा के 'संसारावतरण' के लिए अनिवार्य होने पर भी उसके स्वरूप से अभिन्न नहीं हैं, जैसा कि इस बात से देखा जा सकता है कि बोले और लिखे वाक्यों की संख्या और काल-विस्तार किसी परिमाण को तो बताते हैं किंतु भाषा के परिमाण को नहीं बताते, क्योंकि 'भाषा का परिमाण' इस पद का कोई संगत अर्थ ही नहीं हो सकता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चैतन्य के ये अतिवैयक्तिक स्तर चैतन्य के आत्मोन्मुख निवर्तन के उस प्रथम चरण में ही आविर्भूत हो जाते हैं जिसमें वह विषय को प्रेक्ष्य रूप में अपने से पृथक् स्थापित कर देता है। अब वह अपन ग्रहण या अपने विषयावधारण में ही अतिवैयक्तिक नहीं होता बल्कि इसके अनुरूप इसके विषय भी अतिवैयक्तिक या सामान्य होते हैं। इसके विपरीत विषयाविष्ट (पाशर्व) चैतन्य के विषय वैयक्तिक ही नहीं आणविक भी होते हैं। इसलिए इसे सामान्य विषय तो गम्य होते ही नहीं, इसके लिए ऐंद्रिक विषयों का विस्तार भी सद्यःप्रदत्त से आगे नहीं होता : ये प्रस्तुत प्रदत्त में ही निश्शेष हो जाते हैं, जबकि मानवीय चैतन्य (निर्वर्तित चैतन्य) को प्रस्तुत ऐंद्रिय विषय भी परिप्रेक्ष्यात्मक होते हैं, अर्थात् प्रस्तुत प्रदत्त इनके एक पक्ष के रूप में असंख्य पक्षों की सापेक्षता में अवस्थित होता है और ये अन्य पक्ष वास्तव या संभाव्य अन्य द्रष्टाओं के समाज का आक्षेप करते हैं। इस प्रकार इन विषयों की विषयता या सामान्य विषयिनिष्ठता (इंटर-सब्जेक्टिविटी) विषय के निरपेक्ष वस्तुत्व का चैतन्य में निर्भासन नहीं है बल्कि यह स्वयं चैतन्य का आत्मोन्मुख निवर्तन में विषय-ग्रहण है, जो विषय-पक्ष में विषय-निष्ठता को और विषयी-पक्ष में अतिवैयक्तिकता (सार्वजनीनता) को आविर्भूत करता है। निर्वर्तित चैतन्य के इसी स्तर पर भाषा, विज्ञान, कला, धर्म, नीति आदि का आविर्भाव होता है। ये निवर्तन के और आगे के चरण हैं जिनमें विषयावधारण के ये विषयी : भाषा, विज्ञान, कला-व्यवस्था, नीति-व्यवस्था आदि : विषय बनते हैं और व्यापकतर विषयि-दृष्टि को प्रस्तुत होते हैं। ये विषयभूत विषयी कम विषयनिष्ठ नहीं होते, बल्कि अधिक विषयनिष्ठ होते हैं, क्योंकि जैसा कि हमने पीछे देखा, विषयता (विषय-तत्व) का आविर्भाव ही चैतन्य के विषय से निवर्तन के साथ होता है। परिणामस्वरूप, चैतन्य जितना ही अंतरोन्मुख निर्वर्तित होता है उतना ही उसके विषयों का तत्त्व (दैटनेस) परिशुद्ध होता है।

३. पारदर्शिता– इससे अभिप्राय है आकार और अंतर्वस्तु की अन्योन्यात्मकता और परस्पर प्रकाशकता। भाषात्मक अभिव्यक्ति में यही विश्लेषणात्मक वाक्य का रूप ले लेती है। जिस सीमा तक कोई विषय संश्लेषणात्मक है उसी सीमा तक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह अपारदर्शी है और परिणामतः उसी सीमा तक उसमें निवर्तनोन्मुखता के अन्य लक्षणों : विषय–निष्ठता आदि : का अभाव रहता है। "यह मेज़ है" वाक्य में "यह" और "मेज" का संबंध आगन्तुक है, "यह" और "मेज" परस्पर प्रकाशक नहीं हैं जबकि "मेज़ देश–कालात्मक है" में "मेज़" और देशकालात्मक में अन्योन्यात्मकता और परस्पर प्रकाशकता है। इसमें अपारदर्शिता इसके संवेदात्मक घटक के कारण है और इसी में इसकी विषयिनिष्ठता भी है। उदाहरणतः इनमें प्रथम वाक्य की प्रमाणीकरणीयता का स्वरूप देखें .. "यह अपेक्षित संवेदों के घटित होने के द्वारा प्रमाणीकरणीय है।" अब, यह कथन एक पक्ष में विश्लेषणात्मक और दूसरे में संश्लेषणात्मक है; इसकी विश्लेषणात्मकता इसके आत्मोन्मुख पक्ष में है और संश्लेषणात्मकता बहिर्मुख पक्ष में : वास्तव संवेदों के द्वारा इसका प्रमाणीकरण करने में। प्रमाणापेक्षा का यह वास्तव संतोषन स्पष्टतः विषयिनिष्ठ भी है और अपारदर्शी भी, यह संदर्भ विषयनिष्ठ प्रमाणिकता का प्रकाश इस प्रज्ञप्तिके अन्तरोन्मुख पक्ष में अन्तर्मुख हो कर ही ग्रहण करता है।

४. मननीयता–मनन का संदर्भ चैतन्य के ज्ञान-पक्ष में नहीं होकर इच्छा-पक्ष में है। ज्ञान और इच्छा पक्ष में भेद–ग्रहण भी वास्तव में चैतन्य की आत्मोन्मुख वृत्ति में ही होता है, विषय–वृत्ति (विषयाविष्ट चैतन्य) समग्रतः विषय को समर्पित होता है। इच्छा ज्ञान की समकक्ष वृत्ति है और ज्ञान के समान ही यह भी विषयोन्मुख होती है (कहा जा सकता है कि चैतन्य का विषयोन्मुख सभी प्रकार का प्रवर्तन आत्मसंबद्ध अभाव की पूर्ति के प्रसंग में ही होता है, जगत् का आविर्भाव अविद्या में देखने का संभवतः यही अर्थ है, किन्तु यहाँ वह प्रसंग विचार्य नहीं है।) उदाहरणतः ज्ञान–पक्ष में रसना वस्तु का विनिश्चय मधुर के रूप में और इच्छा-पक्ष में संतोषक के रूप में करती है किंतु निर्वतित चैतन्य जब इस अभाव और इसकी पूर्ति के स्वरूप को विमर्श का विषय बनाता है तब वह मननात्मक होता है। इस प्रकार मननीय विषय भोजन नहीं, भोजन की आकांक्षा होती है; और क्योंकि इच्छा आत्म–संबद्ध अभाव है, इसलिए अन्ततः आत्म ही मनन का विषय होता है।' इस प्रकार इच्छा मनन का विषय केवल निर्वतित चैतन्य के लिए ही बनती है अथवा कहें निर्वतित चैतन्य की विषयभूत इच्छा आत्मसंबद्ध अभाव के रूप में मननीय विषय होती है। किन्तु इच्छा ज्ञान का विषय भी बन सकती है और इसी प्रकार ज्ञान भी मनन का विषय बन सकता है, इसलिए इसमें मनन का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में, किसी भी वृत्ति के मनन का विषय होने के लिए उसका ज्ञान का विषय होना आवश्यक है यही विषय आत्म–संबद्ध होकर मनन-विषय बनता है। यह बात ज्ञान की मननीयता का आशय समझ लेने पर और स्पष्ट होती है : ज्ञान आत्मोन्मुख निवर्तन में अपना विषयकरण करता है, किंतु यही ज्ञान आत्मसंबद्ध रूप में : अन्वेष्य रूप में : माननीय विषय होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि मननविषयभूत ज्ञान अपने आकार से नहीं बल्कि अपने विषय से परिभाषित होता है अर्थात् ज्ञान अत्र अन्तरोन्मुख वृत्ति में नहीं रह कर अपने विषय के साथ मनन के लिए प्रस्तुत होता है, क्या ज्ञातव्य है, यह प्रश्न होता है। यहाँ अन्तरोन्मुखता की वृत्ति मननात्मक होती है।

यहाँ आत्मसंबद्ध पद में 'आत्म' का क्या अर्थ है? आत्म का यहाँ वही अर्थ है जो शंकर के 'मैं संदेह करता हूँ' में 'मैं' का अर्थात यह अहँ–प्रत्यय है, किंतु यह अहं–प्रत्यय तब मूलतः रूपान्तरित हो जाता है जब यह मननीय होता है, क्योंकि अब यह ज्ञान की अन्तरोन्मुख वृत्ति को विषय रूप में प्रस्तुत अपना ही इतर और विषयी रूप में मात्र आकार नहीं रहता, बल्कि अब यह अपनी सभी वृत्तियों की अन्तर्वस्तु से परिभाषित होता हुआ इनसे अपने संबंध का विमर्श करता है। इस स्वरूप की प्रखरतम अभिव्यक्ति ऐसे पदों में होती है "मो सम कौन कुटिल, खल कामी" अथवा "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानामि पापं न च मे निवृत्तिः" अथवा 'येनाहं नामृती स्याम किमहं तेन कुर्याम्' आदि। जैसा कि देखा जा सकता है, इनमें आत्म उन अन्तर्वस्तुओं के साथ इच्छाओं, कार्यों, अन्वेषणों के साथ परिभाषित है जो ज्ञान में तटस्थ प्रेक्ष्य–विषय होती हैं। मनन को प्रदत्त यह विषय भी द्वंद्वात्मक है, किंतु इस द्वंद्वात्मकता का स्वरूप भिन्न प्रकार का है यह द्वंद्व प्राप्त और अन्वेष्य, सिद्ध और साध्य तथा हेय और उपादेय–रूप होता है। जो भी विषय इस द्वंद्वात्मकता के साथ प्रस्तुत होते हैं, वे सब आत्मसंबंद्ध अभाव के बोध में जन्म लेते हैं और चैतन्य की मननात्मक प्रत्यङ्मुखता को प्रस्तुत होते हैं। किन्तु क्योंकि यह प्रस्तुति ज्ञान-वृत्तिक चैतन्य की नहीं होती इसलिए यह प्रेक्षण–प्रेक्ष्यात्मक, अथवा विषयि–विषय रूप भी नहीं होती किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह विषयिनिष्ठता होती है। वास्तव में विषयनिष्ठता–विषयिनिष्ठता आदि पदों का प्रयोग प्रायः अविचारपूर्वक ही होता है। जैसा कि हमने पीछे देखा, विषयनिष्ठता वास्तव में विषय–मुक्त अन्तरोन्मुख चैतन्य के विषयकरण का व्यापार होती है और विषय की सार्वजनीनता–सामान्यता इस वृत्ति को प्राप्त चैतन्य द्वारा आणविक–वैयक्तिक उपाधियों के अतिक्रमण का फल। अवश्य ही इच्छा व्यक्तिनिष्ठ विषयिनिष्ठ होती है, किन्तु संवेद उससे भी अधिक विषयिनिष्ठ होता है। परिणामतः गोचर घट गोचरता की संभावनाओं का अधिष्ठानभूत सार्वजनीन घट नहीं होता, गोचर विषय वास्तव में अन्य अन्तरोन्मुख चैतन्य के माध्यम से द्रष्टा के लिए सार्वजनीन घट–विषयक संकेत बनता है। लोक–बुद्धि (कामन सस-ओपीनियन) गोचरता को सत् से अभिन्न नहीं तो सत् की कसौटी तो मानती ही है उसी अनुसरण में बहुत से दार्शनिक भी बुद्धिगम्य और इंद्रियगम्य विषयों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सद्वस्तु मानते हैं। इस संबंध में हम अभी विचार करेंगे, किंतु यह तो कोई भी अस्वीकार नहीं करना चाहेगा कि यह घट है "प्रज्ञप्ति" २+२=४ प्रज्ञप्ति अधिक विषयनिष्ठ और इस प्रकार सार्वजनीन है। इस प्रकार विषयनिष्ठता और गोचरता पर्यायवाची तो नहीं ही हैं।

किन्तु विषयिनिष्ठता-विषयनिष्ठता पद जबकि विपरीतार्थक हैं अविषयि-निष्ठता विषयनिष्ठता का समानार्थक पद नहीं है जैसाकि हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होना चाहिए, क्योंकि 'विषय-निष्ठता' केवल ज्ञानात्मक वृत्ति का फलन (फंक्शन) है। किंतु मननात्मक वृत्ति को ज्ञानात्मक नहीं होने से इसके बोध विषयनिष्ठ नहीं होते, किंतु अविषयिनिष्ठः सामान्य होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए चैतन्य के व्यापार की एक अन्य विधा को यहाँ हम संक्षेपतः देखेंगे जो विषयिनिष्ठता में अधिष्ठित होकर भी विषयिनिष्ठ नहीं होती, यद्यपि यह विषयनिष्ठ भी नहीं होती। यह विधा काव्य-कलाओं में व्यक्त होती हैं। इस विधा में चैतन्य आत्मोन्मुख वृत्ति में विषयिनिष्ठ-वृत्तियों इच्छा, उद्वेग उत्कंठा आदि का विषयिनिष्ठ-सामान्य सब्जेक्टिव यूनिवर्सल) के रूप में अवबोधन (कांप्रिहेंड) करता है और इसी रूप में उसे ऐंद्रिक माध्यम में अभिव्यक्ति देता है। इसीसे कविता, चित्र गान आदि प्रज्ञप्त्यात्मक (प्रेप्रोजीश्नल) नहीं होते किंतु तब भी वे चीत्कार या आह-रूपः अर्थात् व्यक्तिनिष्ठ-आणंविक : भी नहीं होते, वे अंतःप्रगल्भ-अभिव्यंजनात्मक आकृति-रूप (फिज़्योग्नोमिक) होते हैं।

किंतु मनन या मूल्य-विमर्श विषयिनिष्ठ का सामान्यात्मक अवगमन भी नहीं हैं, जैसाकि वह विषयनिष्ठ का सामान्यात्मक अवगमन नहीं है। इस बोध में एषणाएं : ऐंद्रिक और मानसिक आकांक्षाएँ : न तो ज्ञान-विषय के रूप में अवधार्य होती हैं जैसी वे मनोविज्ञान में होती हैं, न विषयिनिष्ठ-सामान्यों के रूप में अव-बोध्य, जैसी वे काव्य-कलाओं में होती हैं, बल्कि आत्मसम्बद्ध अर्थों के संकेतों के रूप में माननीय होती हैं। क्योंकि इच्छाएँ-एषणाएँ अभाव की संकेत और पूर्ति के लिए प्रेरक-रूप होती हैं इसलिए मनन सिद्ध-साध्य का सन्दर्भ होता है, वस्तु-अवस्तु का नहीं।

यहाँ 'आत्मसंबद्ध' पद से व्यक्तिनिष्ठता-असार्वजनीनता को उपपन्न मान कर आपत्ति की जा सकती है कि नैतिक मूल्य तो अनिवार्यतः सामाजिक होते हैं: सामाजिक होते हैं, सामाजिक प्रथा-मूलक होते हैं, तब उपर्युक्त विवेचन इन मूल्यों का आकलन किस प्रकार करेगा ? इसके स्पष्टीकरण के लिए यहाँ सामाजिकता के दो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थों में भेद करना आवश्यक है जिनमें प्राय ही व्यामिश्र कर दिया जाता है; ये अर्थ हैं (१) अन्य व्यक्तियों की माध्यम के रूप में, जैसे सहानुभूति में या सहायक के रूप में, जैसे औषधालय- निर्माण के लिए, अपेक्षा, और दूसरा (२) नैतिक नियमों का समाज द्वारा स्थिरीकरण। इनमें जहाँ तक प्रथम का संवंध है, अन्य व्यक्तियों के माध्यम होने से नैतिक नियमों की साधना सामाजिक नहीं बनती, यह वास्तव में इस रूप में समाज की आधार ही कही जा सकती है. समाज–मूलक नहीं; जहाँ तक दूसरे का संबंध है, कोई सामाजिक नियम तब तक नैतिक मूल्य नहीं वनता जब तक वह नैतिक मूल्य–वोध में प्रतिष्ठित नहीं होता। (वास्तव में सामाजिक प्रथाओं के भी नैतिक मूल्य के रूप में स्वीकृत होने के लिए पहले स्वयं समाज का नैतिक मूल्य के रूप में बोध आवश्यक है।) "सड़क पर वायें चलें और यदि कोई सड़क पर कराह रहा हो तो उसकी सूचना पुलिस को दें" दोनों सामाजिक विधान हैं, किन्तु इनमें दूसरे को जवकि इस प्रकार रूपान्तरित किया जा सकता है कि वह नैतिक मूल्य वन सके : जैसे किसी के दुःख में उसकी सहायता करना मानवोचित है : पहले को इस प्रकार रूपान्तरित नहीं किया जा सकता।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मानवोचित को कुछ लोग विषयिनिष्ठ कहेंगे, वास्तव में इसी रूप में मूल्य–वोध को विषयिनिष्ठ कहा जाता है, किन्तु जवकि 'मानवोचित' की अन्तर्वस्तु: क्या मानववोचित है और क्या नहीं : के निर्णय में वैयक्तिक सांस्कृतिक विषयिनिष्ठता अंशतः घटक होती है, इसका आकार इस प्रकार विषयनिष्ठ नहीं होता, यह प्रत्यङ्मुख वुद्धि के मननात्मक आयाम में उसी प्रकार मौलिक है जिस प्रकार विषयीकरण मौलिक है।

इस प्रकार "आत्मसम्बद्धता" का अर्थ "व्यक्तिपरकता" नहीं है, इसमें व्यक्ति–समाज ये कोटियाँ ही अप्रासंगिक हैं, 'आत्म' का अर्थ 'व्यक्ति' नहीं हैं, इसी से समाज का भी यहाँ कोई प्रसंग नहीं है। चैतन्य का आत्मोन्मुख किसी भी प्रकार का संक्रमण, वह ज्ञानात्मक हो, कलात्मक हो या मननात्मक हो, आणविकता का अतिक्रमण करता है : ज्ञान में विषयिनिष्ठता का, कला में वैयक्तिक विषयिता : पर्सनल सब्जेक्टिविटी : का और मनन में एषणाओं का। इसीसे जो लोग आध्यात्मिक मूल्यान्वेषण : जैसे भक्ति या साधना : को व्यक्तिपरक समझते हैं, वे 'आत्म' और 'व्यक्ति' को एक समझने की भूल करते हैं। वास्तव में भक्ति है ईश्वर में, मोक्ष निरुपाधित चैतन्य में और नीति समाज में वैयक्तिक अहंकार के अतिक्रमण की साधना है : ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान वस्तु–तत्त्व में वैयक्तिक अहंकार के अतिक्रमण की साधना है।

किंतु चैतन्य की इन आत्मोन्मुख विधाओं में से एक : ज्ञानात्मक : अन्य दो से मौलिक रूप से भिन्न कही जा सकती हैं। इनमें प्रथम में जब कि चतन्य सत् के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशन द्वारा अपनी सिद्धि पाता है : सत्य बनता है : शेष दो में वह अपने ही निहितार्थों का व्याख्यान करता है। किंतु यहाँ विचारणीय है कि-" ज्ञान द्वारा सत् के प्रकाशन " का क्या अर्थ है ? क्या ज्ञान सत् नहीं है ? यदि वह सत् नहीं हो तो फिर वह प्रकाशन कैसे करेगा ? तब क्या यह नहीं कहना चाहिए कि केवल सत् ही है और प्रकाशन उसके लिए अप्रासंगिक है ? भौतिकवाद इसी प्रस्थापना का नामांतर है। इसके अनुसार, प्रकाशकत्व का सत् ही में से, प्रकाश-निरपेक्ष प्रक्रियाओं के द्वारा ही, आविर्भाव होता है । किंतु यदि यह मान भी लें तो भी आविर्भाव के पश्चात् तो यह प्रकाश ही है और यह अप्रकाशात्म सत् नहीं है। भौतिकवादी इस प्रकाश को भी स्वरूपत: अप्रकाशात्म ही बताते हैं– रासायनिक क्रियाओं से उत्पन्न रासायनिक गुण। किंतु यह एक मौलिक दृष्टि–दोष है, क्योंकि यह प्रकाश 'सत्" से प्रतिमुख होकर उसे स्वरूपस्थित से प्रस्तुत और जिज्ञास्य बना देता है, इतना ही नहीं, इसके भीतर -बाहर " असत् " को उत्पन्न कर इसकी अभेद्यता को खोखला बना देता है, वह इसे एक संभावना सत्यापनीय वस्तु-कल्प, उससे भी आगे व्यंग्यार्थ–उत्प्रेक्षार्थ का रूप दे देता है। इसलिए इसे रासायनिक गुण कहना इसके स्वरूप को समझने की असमर्थता प्रकट करना है। और यदि इसके स्वरूप का विवेक कर लिया जाय तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि किस की उत्पत्ति कब हुई- पहले अप्रकाशात्म सत् उत्पन्न हुआ या कि प्रकाश उत्पन्न हुआ ? ये "कब" और "अब" काल–वाचक पद हैं जो सत् को अवगत नहीं हो सकते और प्रकाश के लिए ये केवल निर्धारण और उपाधि हैं।

किंतु "सत्" और "प्रति–सत्" इन को दो मानने पर सर्वप्रथम समस्या इनके संबंध की होगी- क्या एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष है, याकि एक अपेक्षी और दूसरा निरपेक्ष है, याकि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं ? दर्शन के इतिहास में इस समस्या के समाधान के प्रयत्न निरंतर होते रहे हैं। यहाँ हम इन प्रयत्नों में कोई योगदान नहीं करेंगे, यहाँ हम केवल इस द्वैत की स्वीकृति से संबंधित एक दूसरी समस्या की ओर संकेत करेंगे। समस्या है कि हम सत् को कोई भी नाम कैसे दे सकते हैं ?– इसे "भौतिक" कहना इंद्रियोपाधि को मानदंड बनाना है और प्रत्यय–विषय कहना बुद्धयोपाधि को । किंतु जब हम इस निर्धारण पर विचार करते हैं तब पाते हैं कि ये दोनों विषयता के दो रूप मात्र हैं, और विषय उसी सीमा तक अपने स्वरूप की उत्तानता पाता है, जिस सीमा तक चैतन्य आत्मोन्मुख निवर्तन में उसे आत्मसात् कर पाता है। यह विज्ञान के इतिहास से देखा जा सकता है। विज्ञान की यात्रा निरंतर संश्लेषणात्मक (आगंतुक और बाह्यतः संबंधित से विश्लेषणात्मक) अर्थात् अनिवार्य और अंत:सम्बद्ध को सिद्ध करने की ओर रही है; इसीसे विज्ञान का आदर्श भौतिक विज्ञान रहा है जो अपने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय को उन सभी निर्धारणों से अधिकाधिक मुक्त करने में सफल हो सका है जो प्रत्यय की पारदर्शी विश्लेषणात्मकता और अनिवार्यता में अंतर्भूत नहीं किये जा सकते। इसीसे मनोविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान और प्राणिविज्ञान केवल इस अर्थ में ही विज्ञान हैं कि ये भी उसी आदर्श को लेकर अग्रसर हैं और अपनी विषय-वस्तु को इस प्रकार निर्धारित करने का प्रयत्न करते हैं कि वह उस आदर्श की कसौटी पर यथासंभव पूरी उतर सके। किंतु विज्ञान में चैतन्य की यह आत्मोन्मुखता आत्मार्थ नहीं हो कर परार्थ : विषयार्थ होती है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान में ज्ञान अपना अतिक्रमण विषय में करता है, जबकि दर्शन में ज्ञान अपना अतिक्रमण अपनी आत्मोन्मुख गति में ही करता है। इस प्रकार वह विज्ञान के विपरीत, विषय को उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं की उनकी मूलाग्र चिद्-वृत्तियों : चित् की उपाधियों में और इन उपाधियों को उनके मूलाग्र निरुपाधिक चैतन्य में से आविर्भूत होते देखता है। इस प्रकार दर्शन इस आरंभ-बिंदु पर प्रतिष्ठित हो कर सब लोकों : गोचर लोक, प्रत्यय-लोक, भावना-लोक (ललित कलाओं) और मनन-लोक: की सृष्टि होते देखता और उसका विमर्श तथा मनन करता है।

ऐसा नहीं है कि सभी दार्शनिकों में दर्शन के स्वरूप के संबंध में यह बोध समानरूप से स्पष्ट रहा है। भारत में उपनिषदों और औपनिषद् दर्शनों : वेदान्त, सांख्य, प्रत्यभिज्ञा, अंशतः शून्यवाद और विज्ञानवाद में तथा पश्चिम में सर्वाधिक प्रखर रूप से प्लेटो, डेकार्ट, स्पिनोज़ा, काण्ट, शिलर, फिख़्ते, हेगल और हुस्सर्ल आदि में और वस्तुवादी प्रवृत्तियों के बावजूद, अरस्तू में, दिखायी देता है। भारत में न्याय, वैशेषिक और मीमांसा तथा पश्चिम में भौतिकवादी, ऐंद्रिक प्रत्यक्षवादी (पाज़िटिविस्ट्स) और अनुभववादी दर्शन-संप्रदाय दर्शन के वास्तविक स्वरूप और प्रयोजन से अनभिज्ञ दिखायी देते हैं, (यद्यपि प्रत्ययवादी दार्शनिक भी बुद्धयोपाधि को ही चित् का स्वरूप मान कर इस उपाधि के स्वरूप को देखने में असमर्थ रहते हैं।) किंतु पूर्वोक्त ऐन्द्रिकतावादी संप्रदाय भी नीति, धर्म, कला सबके संबंध में प्रश्नों का उत्तर देने को, अपनी व्यवस्था में इनका आकलन करने को, अपना कर्तव्य स्वीकार करेंगे, वह उत्तर चाहे किसी भी प्रकार का हो। यह तथ्य दर्शन के संबंध में हमारी उपयुक्त स्थापना की पुष्टि करता है। दर्शन के विपरीत विज्ञान अपने नियत विषय के निर्धारण के बाहर नहीं जा सकता क्योंकि विज्ञान का संबंध ज्ञान के मूल से नहीं हो कर ज्ञान-विषय से होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याख्यान पर हुए प्रश्नोतरों का विवरण

डॉ. धर्मेन्द्र गोयल ने मेरे व्याख्यानों के क्रम में जो आपत्तियाँ उठायीं उनमें से तीन मुख्य निम्नलिखित थीं–

१. "आपने चैतन्य की ही बात की है, जब कि इसकी उत्पत्ति भौतिक तत्त्व में से बहुत पीछे हुई। मनुष्य की उत्पत्ति तो अभी बहुत थोड़ा समय पहले हुई। इसके अतिरिक्त, आपने मूर और रसल द्वारा प्रत्ययवाद के खण्डन में दी गई प्रबल युक्तियों का भी उत्तर नहीं दिया।

उत्तर–

वास्तव में मैं प्रत्ययवादी नहीं हूँ, जैसाकि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होना चाहिए। जहाँ तक भूत-तत्त्व और उसमें से चेतना के उत्पन्न होने का प्रश्न है, उसका कुछ और स्पष्टीकरण यहाँ स्थाने होगा– –पहले केवल भूत–तत्त्व था और जब भी उसीका व्यापकतर साम्राज्य है, और कि यह मेरा दायाँ हाथ है, यह बायाँ, दायें हाथ में पेन है आदि, इन सब का कौन निषेध करता है? किंतु यदि इसको स्वीकार करने की ही बात है तब और कोई बात ही क्या रह जाती है, और दर्शन के लिए कोई अवकाश कहाँ रह जाता है; किन्तु तब भी दार्शनिक चिंतन की प्रवृत्ति है, वह क्या है? मैं दार्शनिकों के समान इसका औचित्य यह कह कर नही दूंगा कि दर्शन का कार्य इनके ज्ञान का प्रामाण्य देखना है। इसलिए दर्शन का विचार्य चेतना है। स्वयं मूर और रसल भी दर्शन का कार्य यही मानते हैं। किन्तु यदि हाथ है और पेन है, और इनका हमें ज्ञान है, तब इसके प्रामाण्य में क्या दिक्कत है? इसकी न हाथ को अपेक्षा है और न ज्ञान की। सो, दर्शन का यह भी कार्य नहीं है। वस्तु में और उसके ज्ञान में प्रामाण्य का व्यवधान उत्पन्न करने में ही क्या दार्शनिक उपलब्धि है? वास्तव में न दर्शन का कार्य भूत-तत्त्व की व्याख्या करना है और न इसके ज्ञान के प्रामाण्य में संदेह करना। जब शंकर ने कहा कि केवल ब्रह्म ही सत् है, तब उसे इसमें कोई संदेह नहीं था कि घट और पट संसार में हैं। कम से कम मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु तब इस असन्दिग्धता का कोई अर्थ और महत्त्व भी नहीं है।

इसके स्पष्टीकरण में यहाँ एक उदाहरण देना चाहूँगा– –नीत्शे ने डारविन के विकासवाद के सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए तर्क दिया था कि बंदर और मनुष्य के बीच कोई तारतम्य नहीं है। मनुष्य का तत्त्व अपना अतिक्रमण करने (सेल्फ ओवरकमिंग) में है जबकि पशु अपनी प्रकृति में बंदी है। किन्तु साथ ही उसने कहा कि "पुच्छ–विषाण–हीन सब प्राणी मनुष्य नहीं हैं, ये सब बन्दर ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं, मनुष्य केवल वही है जो अपनी प्रकृति का अतिक्रमण करता है, जो पशु-परंपरा में असंभव है।"

स्पष्टतः नीत्शे यहाँ घटना-क्रम की बात नहीं कर रहा है, अर्थ की बात कर रहा है। यह अर्थ ही यहाँ दर्शन के लिए जिज्ञास्य है: प्रकृति-निबद्ध और प्रकृति का अतिक्रमण करनेवाले के बीच अर्थतः कोई तारतम्य नहीं हो सकता। इसी अन्तर को मैंने दूसरे ढंग से कहा-मैंने कहा- "पाशव चेतना विषयाविष्ट है, मानव-चेतना विषय-निर्वर्तित।" डारविन घटनाक्रम का विवरण दे रहा था, नीत्शे का और मेरा प्रतिपादन चैतन्य की संरचना का आशय उद्घाटन करने का प्रयत्न है। यह दूसरा प्रयत्न दर्शन का कार्य है, प्रथम का सत्यासत्य इसके कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत नहीं है। प्राणियों में भी कृमि-कीटों में और गाय, बंदर आदि में अंतर दिखाई देता है, जिसे हमने चैतन्य का विषय से मुक्ति के प्रयत्न के चरण कहा है। यह प्रतिपादन घटना-क्रम का विवरण नहीं देकर अर्थ की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। यही दर्शन का क्षेत्र है।

तब हम डा० गोयल की आपत्ति के इस घटनामूलक रूप का अर्थमूलक रूपांतरण कर इसे थोड़ा और गहराई से समझने का प्रयत्न करें। यह रूपांतरण इस प्रकार हो सकता है:

"इंद्रियगम्य विषय विषयि-निरपेक्ष वस्तुसत्-मूलक है और विषयी आगंतुक और इसपर आश्रित है। किंतु आप विषयी को मौलिक और विषयमूलक वस्तुसत् को आगंतुक तथा आश्रित बना रहे हैं।"

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि मूर इंद्रिय-विषय को ही वस्तुसत् और विषयि-निरपेक्ष मानते हैं। डा० गोयल इस संबंध में पूर्णतः निश्चित नहीं हैं, किन्तु उनके मूल प्रश्न में वस्तुसत्: भूत-तत्त्व: को विषय के आधार के रूप में स्वीकार किया गया प्रतीत होता है।

मेरा निवेदन है कि मैं किसी भी विषय को विषयिसापेक्ष नहीं मानता हूँ, जैसा कि लेख में स्पष्ट प्रतिपादित देखा जा सकता है। मैं विषयी का अतिक्रमण विषय के स्वरूप में मौलिक मानता हूँ। किन्तु तब वस्तु-सत् इंन्द्रियोपाधि-निरपेक्ष भी होगा और वैसा होने से वह रूप-देश-काल आदि से भी विशेष्य नहीं हो सकता। वास्तव में भौतिक विज्ञान भी जिस तत्त्व का निर्धारण करता है वह रूप-विरहित है, यद्यपि देश-काल-विरहित नहीं है। किन्तु तब वह उस सीमा तक विषयि-सापेक्ष भी है, केवल यह विषयी अब इंद्रियोपाधिक नहीं होकर बुद्ध्योपाधिक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मैं सब उपाधियों को आगंतुक मानता हूँ, और इस प्रकार न केवल व्यक्ति को बल्कि व्यक्त्योत्तर औपाधिकता को भी आगन्तुक मानता हूँ, जैसा कि ऊपर लेख में स्पष्ट है।

तब डा० गोयल का आग्रह हो सकता है कि सत् चिन्मय नहीं अचिन्मय : भौतिक : है। इसके संबंध में मेरा निवेदन है कि इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी यदि 'भौतिक' की अवधारणा की व्यापकता उसका भी आकलन कर सके जो चिद्रूप में प्रकाशित है, सत् को चिन्मय रूप में अवधारित करने पर उसका आकलन किया जा सकता है जो अचिन्मय : विषयमुलक : सत् है, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह आकलन कारण-कार्यात्मक या किसी और ऐसी ही विधि से नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह सब न केवल दार्शनिक पदावली में ही नहीं होगा बल्कि यह भी कि वह विषयी को अस्वीकार करते हुए भी विषयि-मूलक निर्धारण मात्र होगा।

२–दूसरी आपत्ति थी कि आप "चैतन्य" शब्द का प्रयोग वस्तु-नाम के रूप में कर रहे हैं, किन्तु चेतना कोई वस्तु नहीं है, यह मात्र एक प्रकार्य (फंक्शन) है।"

मेरा उत्तर था कि मैं 'चैतन्य' शब्द का प्रयोग इस प्रकार नहीं कर रहा हूँ, किन्तु तब मैं इसका प्रयोग प्रकार्य के अर्थ में भी नहीं कर रहा हूँ। प्रकार्य, 'प्रक्रिया', फलन आदि शब्द आजके आंग्ल-अमरीकी दर्शन के फैशन हैं जबकि वस्तूकरण भाषा का साधारण पूर्वाग्रह है। यह आंग्ल–अमरीकी फैशन विज्ञान के आधुनिक विकास से प्रभावित है। किंतु स्वयं आप 'मेज,' 'कुर्सी' आदि का प्रयोग वस्तु–नामों के रूप में कर रहे हैं।"

३–मूल्यों संबंधी चर्चा के प्रसंग मे डॉ. गोयल ने कहा– "आप मूल्यों को मेज, कुर्सी वन आदि के समान विषयनिष्ठ सत्ताएँ मान रहे हैं।" जबकि ये विषयि-निष्ठ धारणाएँ मात्र हैं।

इस आक्षेप का उत्तर लेख में विस्तार से दिया गया है। किन्तु चर्चा के प्रसंग में मैंने यह कहा था कि यदि कोई कांट और कबीर को जनसाधारण की तुलना में उत्कृष्ट देख सकने में असमर्थ हो और इनके भुवलेपन को दयनीय मान रहा हो तब उसे उसका भ्रम दिखाने का कोई उपाय नहीं है, किंतु इससे कांट और कबीर की उत्कृष्टता विषयिनिष्ठ आग्रहमूलक नहीं हो जाती। डॉ. गोयल ने यह युक्ति स्वीकार नहीं की।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके आगे नैतिक मूल्यों के संबंध में चर्चा के प्रसंग में डॉ. गोयल और डॉ. सत्यपाल गौतम ने जो कहा वह एक पुस्तक "दि इमेजस ऑफ नार्म्स" के विज्ञापन में बहुत स्पष्ट ढंग से कहा गया है। अतः यहाँ उसे ही उध्दृत करूंगा। उसके अनुसार "तर्क–युक्ति का अनुसरण करनेवाले (रॅशनल) प्राणियों के लिए कुछेक प्रकार की सामाजिक स्थितियों के निर्वाह के लिए कुछेक प्रकार के नियमों को स्वीकार करना आवश्यक होता है।" डॉ. गोयल और डॉ. गौतम के अनुसार, नैतिक मूल्य ऐसे नियमों का मनोनिवेश (इंटर्नलाइज़ेशन) मात्र होते हैं।

इसके विपरीत मेरा कहना था कि नैतिक मूल्यों का मूल नैतिक बोध में होता है : जिस बोध के स्वरूप का विवेचन पीछे मैंने "मनन" के प्रसंग में किया है।: 'सत्य बोलना चाहिए" इसमें "चाहिए" को इस बोध से पृथक् कोई अर्थ नहीं दिया जा सकता। इस पर डॉ. गौतम ने कहा- "नहीं, सत्य बोलना भाषा के सफल व्यवहार के लिए अनिवार्य है, क्योंकि असत्य भाषण कथन से कथ्य को हटा देना है।" इसके उत्तर में मैंने कहा कि यदि मैं दूसरों को अपने कथन की सत्यता में आश्वस्त रख सकता हूँ और दूसरों को सत्य बोलने के लिए प्रेरित कर सकता हूँ, तब भाषा के सफल निर्वाह में कोई कठिनाई नहीं आती। और जहाँ तक इस वाक्यविशेष का संबंध है, इसमें मेरा प्रयोजन ही यह था कि सुननेवाला मेरे कथन को असत्य होने पर भी सत्य समझे। कांट के नैतिक नियम की सार्वभौमता, जिसपर उपर्युक्त तर्क प्रतिष्ठत हैं, इस बात की परीक्षा के लिए है कि मेरा निर्णय नैतिक है या नहीं, किन्तु इस परीक्षा के झंझट में तो मैं तभी पड़ूंगा न, यदि मेरी नैतिकता के प्रति कोई आस्था होगी?

पीछे इसमें संशोधन करते हुए डॉ. गोयल ने कहा कि "मूल्य मनुष्य के सर्जन होते हैं, किंतु इनमें विषयनिष्ठता होती है कि किसी मूल्य को एकवार स्वीकार कर लेने पर हम उसे तोड़ने के लिए स्वतंत्र नहीं होते।" उनके इस कथन में एक सीमा तक रावल्स की पुस्तक थीयरी ऑफ जस्टिस में प्रतिपादित "प्रथम सामाजिक समझौते के सिद्धांत" की ध्वनि सुनाई पड़ती है। किन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि "मनुष्य" से क्या अभिप्राय है? यह वस्तुवाचक पद है या प्रकार्य वाचक? डॉ. गोयल अतर्कित रूप से मनुष्य को देह से अभिन्न मानते हुए उसे वस्तु–नाम देने में संभवतः कोई दोष नहीं देखते। किन्तु यदि वस्तुकरण (री–इफिकेशन) चैतन्य के लिए अयुक्त है तो वह इंद्रिय-गोचर के लिए और भी अधिक अयुक्त है। यहाँ मैं केवल बौद्धों के सर्वग्रासी नैरात्म्यवाद की ओर संकेत ही करूंगा। इसके अतिरिक्त, मूल्य-सर्जन से डॉ. गोयल का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है। निश्चय ही "मूल्य सर्जन" "व्यवहार-कौशल्य के नियम"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का पर्याय नहीं है। इसके अतिरिक्त, 'सृष्ट मूल्य' और 'प्रतिबद्धता' में क्या संबंध है ? निश्चय ही रात्स के समझौता-सिद्धांत पर आरोपित प्रतिबद्धता मूल्य-सर्जन' के साथ संबंधित नहीं की जा सकती। वास्तव में 'प्रतिबद्धता' स्वय मूल्य-चेतना-मूलक है और इस प्रकार एकबार मूल्य-सर्जन कर लेने पर उसके प्रति 'प्रतिबद्धता' इस पद का कोई संगत अर्थ नहीं लगता। वास्तव में यह तो कहा जा सकता है कि "एक बार किसी समाज की सदस्यता स्वीकार कर लेने पर उसके नियमों के प्रति प्रतिबद्धता आवश्यक है", क्योंकि 'सामाजिक नियम' जबकि मूल्यात्मक पद नहीं है, इसे मूल्यात्मकता देने के लिए इसे "प्रतिबद्धता" से संबंधित करना आवश्यक है, किन्तु मूल्य-सर्जन से नहीं, जो स्वयं "प्रतिबद्धता" का भी आधार है।

—यशदेव शल्य
डी—३१, बापूनगर, जयपुर-४

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकृतिवादी दोष के तार्किक महत्त्व की परीक्षा

प्रस्तुत निबंध का अभीष्ट बड़ा सीमित है : मूर द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिवादी दोष की तार्किक महत्ता की परीक्षा। पिछले पचास-साठ वर्षों से इस दोष की चर्चा नीतिशास्त्र, मूल्यशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि के विद्वान करते आ रहे हैं। बल्कि किसी सिद्धांत के विषय में यह सिद्ध करना कि उसमें प्रकृतिवादी दोष है बहुत दार्शनिकों की दृष्टि में, उसे अमान्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। किंतु मेरी समझ में जितनी महत्ता इस दोष को दी गई है, उसका वह कतई अधिकारी नहीं है। इसके तार्किक महत्त्व की परीक्षा कर मैंने अपने मत को सिद्ध करने की चेष्टा की है। मूर के मत की मेरी व्याख्या उनके सभी समर्थकों या आधुनिक दर्शन के सभी इतिहासकारों को मान्य होगी ही, ऐसा दावा मैं नहीं करता।

बीसवीं सदी के प्रथम दशक के प्रारंभ में ही जी. ए. मूर ने एक प्रकार के सभी नीति-शास्त्रीय सिद्धांतों को सदा के लिए असत्य सिद्ध करने का दावा किया। उनका तर्क यह था कि ये सिद्धांत एक तार्किक दोष से ग्रसित हैं, इसलिए दार्शनिक सिद्धांत के रूप में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। किसी भी दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना तर्क के आधार पर ही हो सकती हैं, और इन सिद्धांतों की स्थापना के निमित्त दिए गये तर्क में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक दोष विद्यमान है। इस दोष को उन्होंने 'प्रकृतिवादी दोष' की संज्ञा दी है।

'प्रकृतिवादी दोष' पद मूर का गढ़ा हुआ है। किंतु इधर के अनुसन्धानों ने यह भी सिद्ध किया है कि यद्यपि मूर के पहले किसी दार्शनिक ने इस पद का प्रयोग नहीं किया था, न किसी ने इस दोष को ठीक उनकी तरह परिभाषित ही किया था, फिर भी सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में राल्फ कडवर्थ और कई अन्य दार्शनिकों ने मूर के विवेचन से काफी मिलती-जुलती बातें कही थीं।[1] परंतु यह

---

१. देखिए, प्रायर, ए. एन., लाजिक ऐंड द बेसिस ऑफ एथिक्स (ऑक्सफोर्ड, १९६५), अध्याय ९।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी सत्य है कि इस दोष पर उँगली रखनेवाला पहला व्यक्ति मूर भले न हो, इसकी उन्हीं द्वारा दी गई परिभाषा और उसके विवेचन दर्शन के इतिहास में प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। अपितु, उनके विवेचन के बाद ही उनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों की रचनाओं में विद्यमान समान विचारों की तरफ शोध-कर्त्ताओं की दृष्टि पड़ी। इसलिए इस निबंध में मैं 'प्रकृतिवादी दोष' का प्रयोग व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में करूँगा, जिसका तात्पर्य है कि यह पद 'वह तार्किक दोष जिसे मूर ने प्रकृतिवादी दोष कहा है' का संक्षेप मात्र है। इसलिए, मेरे प्रयोग में, न तो यह कहना कि प्रकृतिवादी-दोष दोष नहीं है विरोधपूर्ण है, न यह कि प्रकृतिवादी दोष दोष है, पुनरुक्तिपूर्ण। बल्कि इस निबंध का तो यही निश्चित करना मुख्य लक्ष्य है कि यह वस्तुतः दोष है या नहीं, और है तो कितना महत्त्वपूर्ण। 'दोष' से मेरा मतलब तार्किक दोष ही है।

मूर की रचनाओं में 'प्रकृतिवादी दोष' सर्वप्रथम प्रिंसिपिया एथिका के दसवें पृष्ठ पर मिलता है। जिस अनुच्छेद में यह पद आता है वह इस प्रकार है:

...यह सत्य हो सकता है कि सारी चीजें जो अच्छी हैं कुछ और भी हैं, जैसे यह सत्य है कि सभी पीली चीजें प्रकाश में एक निश्चित प्रकार के प्रकंपन पैदा करती हैं। और यह तथ्य है कि नीतिशास्त्र यह पता लगाना चाहता है कि वे कौन से गुण हैं जो सभी अच्छी चीजों में रहते हैं। किंतु बहुत सारे दार्शनिकों ने यह समझ लिया है कि इन गुणों का नाम बतलाना वस्तुतः अच्छाई की परिभाषा करना है। वे गुण अच्छाई से वस्तुतः इतर नहीं हैं, बल्कि वे और अच्छाई निरपेक्षतः और पूर्णतः एक ही हैं। इस मत को मैं 'प्रकृतिवादी दोष' कहना चाहता हूँ।[2]

यह स्पष्ट है कि इस अनुच्छेद में मूर 'परिभाषा' पद का प्रयोग उस अर्थ से भिन्न रूप में करते हैं जिसमें उन्होंने उन सारे संदर्भों में किया है जिनमें वे 'अच्छाई'[3] की अपरिभाष्यता की चर्चा करते हैं। उन संदर्भों में परिभाषा करने से उनका मतलब विश्लेषण करना है, और इसी को वे 'परिभाषा' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ मानते हैं। किंतु ऊपर के उद्धरण में परिभाषा करने का अर्थ एक मानना, अभिन्न मानना, है। इस अर्थ में क को ख द्वारा परिभाषा करने का मतलब है क को ख से अभिन्न कहना, क और ख में तादात्म्य घोषित करना। अच्छाई को अच्छी चीजों के किसी अन्य गुण से अभिन्न मानने को ही मूर प्रकृतिवादी दोष कहते हैं।

---

२. मूर, जी. ए. प्रिंसिपिया एथिका (कैम्ब्रिज, १९०३), पृ. १०
३. अच्छाई से तात्पर्य अपने आप में अच्छा होने के गुण से है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मूर की ऊपर उद्धृत पंक्तियों से लगता है कि प्रकृतिवादी दोष तभी उत्पन्न होता है जब अच्छाई को किसी ऐसे गुण से अभिन्न कहा जाय जो सभी अच्छी चीजों में विद्यमान है। किंतु इस सम्बन्ध में वे आगे जो कहते हैं उससे यह धारणा गलत सिद्ध होती है। उनके अनुसार तो अच्छाई को किसी भी अन्य चीज से अभिन्न मानने से प्रकृतिवादी दोष होता है। वस्तुतः, इसी को ही नहीं बल्कि किसी भी चीज़ को किसी अन्य चीज़ से अभिन्न मानने को वे प्रकृतिवादी दोष कहते हैं। जैसे, यदि कोई आनंद को लाल रंग के संवेदन से, या उसके भोक्ता से, अभिन्न कहे तो उस तार्किक दोष और अच्छाई को अच्छी चीज़ों के किसी अन्य गुण से अभिन्न कहने से उत्पन्न दोष में कोई अंतर नहीं है। दोनों में दोष तो एक ही है, किंतु मूर का कहना है किसी प्राकृतिक चीज़ को किसी अन्य प्राकृतिक चीज से अभिन्न कहने के दोष के लिए 'प्रकृतिवादी दोष' की संज्ञा उपयुक्त नहीं है, जब कि किसी-न-किसी न-प्राकृतिक चीज़, जैसे अच्छाई, को किसी प्राकृतिक चीज़, जैसे आनंदानुभूति, से अभिन्न कहने के दोष के लिए उपयुक्त है।

जब कि दोनों स्थितियों में किया गया तार्किक दोष तत्त्वतः एक ही है, तो समझ में नहीं आता कि मूर क्यों 'प्रकृतिवादी दोष' संज्ञा को एक के लिए अनुपयुक्त और दूसरे के लिए उपयुक्त मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि कोई विचारक एक प्राकृतिक चीज़ को दूसरी प्राकृतिक चीज़ से अभिन्न मानता है ' तो कोई कारण नहीं कि उस दोष को प्रकृतिवादी कहा जाय। किंतु यदि वह अच्छाई को, जो उसी अर्थ में प्राकृतिक नहीं है, किसी प्राकृतिक चीज़ से अभिन्न मान लेता है, तो उसे प्राकृतिक दोष कहना युक्तियुक्त है; अच्छाई के विषय में इस दोष के किये जाने में कुछ विशिष्टता है, और यह विशिष्ट दोष एक नाम का अधिकारी है क्योंकि काफी प्रचलित है।"[४] यह स्पष्ट नहीं है कि अच्छाई के विषय में किये जाने पर प्रकृतिवादी दोष में क्यों कोई विशिष्टता आ जाती है और आनंद, या किसी अन्य प्राकृतिक चीज़ के विषय में किये जाने पर क्यों नहीं आती; न यही स्पष्ट है कि यह किस प्रकार की विशिष्टता है। यह भी सत्य नहीं है कि मूर 'प्रकृतिवादी दोष' संज्ञा का प्रयोग केवल किसी प्राकृतिक चीज़ के किसी अन्य प्राकृतिक चीज़ से अभिन्न मानने के दोष के लिए ही करते हैं। अच्छाई को तत्त्वशास्त्रीय गुणों से, जो न-प्राकृतिक हैं, अभिन्न मानने के दोष के लिए भी वे इसका निःसंकोच प्रयोग करते हैं। मैं मानता हूँ कि ये आक्षेप बहुत तात्त्विक नहीं हैं क्योंकि यदि दोष का उनका निदान ठीक है तो यह कोई बड़ी भूल नहीं है कि उसके लिये दिये गये नाम का प्रयोग वे संगतिपूर्ण ढंग से नहीं करते। जैसा कि

४. प्रिंसिपिया एथिका, पृ. १३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उन्होंने स्वयं कहा है, और ठीक ही कहा है, वे दोष के नामकरण के लिये नहीं, बल्कि उसके स्वरूप के विवेचन के लिये चिन्ताशील हैं।[५]

प्रकृतिवादी दोष से प्रकृतिवादी और न-प्रकृतिवादी[६] दोनों प्रकार के नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त दूषित हो सकते हैं। ऐसी बात नहीं है कि न-प्रकृतिवादी सिद्धान्त इससे दूषित हो ही नहीं सकते। यह सम्भव है कि न-प्रकृतिवाद को हम परिभाषा द्वारा इससे तर्कतः मुक्त कर दें, किन्तु ऐसी मुक्ति वास्तविक मुक्ति नहीं होगी। मूर का मत है कि प्रकृतिवाद अवश्य ही इससे दूषित रहेगा क्योंकि वह अच्छाई को प्राकृतिक गुण मानता है, जब कि वह न-प्राकृतिक है। इसलिये उसे प्राकृतिक गुण मानने मात्र से वह उसे उससे इतर गुण से अभिन्न मान बैठता है। किन्तु मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि यदि अच्छाई सचमुच प्राकृतिक गुण हो तो भी उसके विषय में प्रकृतिवादी दोष की सम्भावना ज्यों की त्यों बनी रहेगी, क्योंकि उस स्थिति में भी वह विचारक जो उसे किसी "अन्य" प्राकृतिक या किसी न-प्राकृतिक गुण से अभिन्न कहेगा, प्रकृतिवादी दोष का भागी बनेगा। चूँकि एक प्राकृतिक चीज को किसी अन्य प्राकृतिक चीज से अभिन्न कहने के दोष को प्रकृतिवादी दोष की संज्ञा देना मूर के लिये नामकरण की दृष्टि से उचित नहीं है, यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि उनके अनुसार किसी प्राकृतिक चीज को किसी न-प्राकृतिक चीज से अभिन्न कहने के दोष के लिए भी प्रकृतिवादी दोष की संज्ञा उपयुक्त न होगी। किन्तु तब तो इसे किसी एक न-प्रकृतिवादी चीज को किसी दूसरे न-प्रकृतिवादी चीज से अभिन्न कहने के दोष के लिये भी अनुपयुक्त मानना पड़ेगा। परन्तु मूर ऐसा नहीं सोचते; अच्छाई को, जो न-प्राकृतिक है किसी तत्त्वशास्त्रीय गुण से अभिन्न मानने के दोष को भी प्रकृतिवादी दोष की संज्ञा देने में वे कोई अनौचित्य नहीं देखते। तत्त्वशास्त्रीय गुण प्राकृतिक नहीं हैं। इसलिये वे न-प्राकृतिक ही होंगे, क्योंकि प्राकृतिक और न-प्राकृतिक चीजों से भिन्न कोई तीसरे प्रकार की चीजें भी हो सकती हैं, ऐसा मत मूर का नहीं जान पड़ता है। बल्कि जिस तरह वे 'प्राकृतिक' और 'न-प्राकृतिक' की परिभाषा करते हैं, उससे तो यही लगता है कि उनके अनुसार प्राकृतिक और न-प्राकृतिक के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

---

५ वहीं, पृ० १४।

६ विभिन्न प्रकार के नीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्गीकरण और विश्लेषण के लिये देखिये मेरा लेख 'Types of Meta-ethical theories', Indian Journal of Philosophy, Vol. III (1961), Pp. 102–119.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः यह कहा जा सकता है कि अच्छाई के न-प्राकृतिक होने में और इसके विषय में प्रकृतिवादी दोष किये जाने की सम्भावना में कोई तार्किक या संप्रत्ययात्मक सम्बन्ध नहीं है। न-प्रकृतिवादी भी इस दोष को करेगा यदि वह इसे (न प्राकृतिक मानते हुए) किसी 'अन्य' न-प्राकृतिक चीज से अभिन्न मान-बैठता है। उदाहरण के लिये यदि अच्छाई और औचित्य दो भिन्न न-प्राकृतिक गुण हैं तो अच्छाई की परिभाषा औचित्य द्वारा (या औचित्य की परिभाषा अच्छाई द्वारा) करने में प्रकृतिवादी दोष आ जायेगा। अतः अच्छाई प्राकृतिक गुण है या न-प्राकृतिक, इस विचार का कोई भी तार्किक सम्बन्ध इस प्रश्न से नहीं है कि प्रकृतिवादी दोष वस्तुतः दोष है या नहीं, या इससे कि अच्छाई के विषय में इसे किया जा सकता है या नहीं। यह सोचना बहुत बड़ा भ्रम है कि मूर के प्रकृतिवादी दोष के सिद्धांत का महत्त्व अच्छाई के न-प्रकृतिक होने पर ही आश्रित है।

मैं मूर से सहमत हूँ कि दर्शन ही नहीं बल्कि किसी विषय में किसी भी नाम को नहीं बल्कि जिसे वह अभिहित करता है उसको मुख्यतः देनी चाहिए। इसलिए मैं मानता हूँ कि उनके अनुसार प्रकृतिवादी दोष गलत तदात्मीकरण का दोष है, जो तादात्म्य नियम के उल्लंघन मात्र से उत्पन्न होता है। कोई भी चीज केवल अपने आप से अभिन्न है; "हर एक चीज वही है जो वह है और कोई अन्य चीज नहीं"[७]। अतः यह स्पष्ट है कि अच्छाई को अच्छी चीजों के किसी 'अन्य' गुण से या किसी भी अन्य चीज से, अभिन्न मानना गलत हैं। यहाँ यह प्रश्न उठाना कि इस गलती को तार्किक दोष कहना उचित है या नहीं, दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है, कुछ लोग तार्किक दोष के अंतर्गत केवल आनुमानिक दोषों को ही रखना चाहते हैं, किन्तु ऐसा करना व्यवहार-सम्मत नहीं है। परिभाषा, विभाजन, निरीक्षण आदि के दोषों को तार्किक दोष तो परंपरागत तर्कशास्त्र भी मानता है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ प्रकृतिवादी दोष तदात्मीकरण का दोष है और चूंकि तादात्म्य नियम तार्किक नियम है, इसके उल्लंघन से उत्पन्न दोष को 'तार्किक दोष' पद के प्रचलित व्यवहार की तनिक भी अवहेलना किए बिना तार्किक दोष कहा जा सकता है।

तदात्मीकरण दोष और आनुमानिक दोष में क्या अंतर है, या किस प्रकार का सम्बन्ध है, मूर इसे नहीं बतलाते हैं। बल्कि कुछ जगह तो उनकी भाषा से ऐसा लगता है कि प्रकृतिवादी दोष को वे आनुमानिक दोष भी मानते हैं। उदाहरण के लिए, 'प्रिंसिपिया एथिका' के पृ० ११४ पर वे लिखते हैं : "यह

७ मूर द्वारा प्रिंसिपिया एथिका के मुख पृष्ठ पर उद्धृत बटलर की पंक्ति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानना कि 'सत्ता की प्रकृति ऐसी है' व्यक्त करने वाली किसी प्रतिज्ञप्ति से 'यह अपने आप में अच्छा है', व्यक्त करने वाली किसी प्रतिज्ञप्ति को अनुमित करना या उसके लिए समर्थन प्राप्त करना प्रकृतिवादी दोष करना है।" अर्थात, यदि मैं 'क आनन्ददायक है, से 'क अच्छा है' को अनुमित करूँ, या पहले को दूसरे का समर्थक मानूं तो मैं प्रकृतिवादी दोष करूँगा।

यह स्पष्ट नहीं है कि 'अनुमित करने' या 'समर्थन प्राप्त करने' से मूर का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, न यही कि दोनों पदों को वे समानार्थी मानते हैं, या उन्हें आधार वाक्य और निष्कर्ष के बीच विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के या उनके सम्बन्ध की शक्ति की विभिन्न मात्राओं के, द्योतक मानते हैं। मुझे लगता है कि 'अनुमित करने' को जिस अर्थ में वे व्यवहृत करते हैं उसके अनुसार यह कहने का, कि प फ से अनुमित है अर्थ है कि प फ से तर्कतः निर्गमित या आपादित है। दो प्रतिज्ञप्तियों के बीच के आपादन सम्बन्ध उनमें वर्तमान, तार्किक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ पदों की समानार्थकता पर, या एक प्रतिज्ञप्ति के किसी महत्त्वपूर्ण पद के अर्थ का दूसरी प्रतिज्ञप्ति के किसी महत्त्वपूर्ण पद के अर्थ में समाविष्ट होने पर, आश्रित रहते हैं। 'क और ख एक ही माँ की संतान हैं' 'क ख सहोदर भाई हैं', से तर्कतः आपादित होता है क्योंकि 'सहोदर भाई' और एक ही माँ की संतान' पद समानार्थी हैं। उसी तरह 'क रंगीन है' 'क लाल है' से तर्कतः आपादित होता है क्योंकि 'लाल होने के अर्थ में रंगीन होने का अर्थ समाविष्ट है। 'लाल होने का अर्थ है एक विशेष प्रकार से रंगीन होना'। इसलिए यदि कोई यह कहता है कि 'क आनन्ददायक है' से 'क अच्छा है' आपादित होता है, तो या तो 'आनन्ददायक होना' और 'अच्छा होना' एकार्थक हैं, या 'अच्छे' होने का अर्थ 'आनन्ददायक होने' के अर्थ में सन्निविष्ट है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि मूर के लिए किसी पद का अर्थ उस पद का निर्देश्य, उससे संकेतित या निर्देशित पदार्थ, ही है। इसलिए पदों के अर्थों के तादात्म्य और उनके निर्देश्यों के तादात्म्य में कोई अन्तर नहीं है। इसी तर्क से यह भी कहा जा सकता है कि एक पद के अर्थ का दूसरे के अर्थ में सन्निविष्ट होने में और उसके निर्देश्य का दूसरे के निर्देश्य सन्निविष्ट होने में भी कोई अन्तर नहीं है। दोनों स्थितियों में दो पदों के निर्देश्यों में तादात्म्य माना जाता है; पहली स्थिति में एक पद का निर्देश्य दूसरे के सम्पूर्ण निर्देश्य से अभिन्न है, और दूसरी स्थिति में उसके किसी अंशविशेष से। इसलिए यदि 'क अच्छा है' 'क आनन्ददायक है' से आपादित होता है तो अच्छा होना ('अच्छे होने के' निर्देश्य) आनन्ददायक होने ('आनन्ददायक होने' के निर्देश्य)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से अभिन्न है, या उसमें उसी तरह समाविष्ट है जिस तरह कोई अंशविशेष उस सम्पूर्ण में समाविष्ट रहता है जिसका वह अंश है। इस प्रकार किसी वस्तु के अच्छे होने का अनुमान उसमें किसी अन्य गुण के होने से करने का तात्पर्य है उस गुण (या उसके किसी अंश विशेष) से अच्छेपन का तदात्मीकरण करना। ऐसा करना, मूर के अनुसार दोषपूर्ण है, और इसी दोष को वे प्रकृतिवादी दोष की संज्ञा देते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उसे आनुमानिक दोप मानने पर भी वह तदात्मीकरण का दोष ही रह जाता हैं।

'अनुमित करना' के वियुतक के रूप में मूर ने, उपर्यूक्त उद्धरण में समर्थन प्राप्त करना' वाक्यांश का प्रयोग किया है। इस वाक्यांश से उनका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है यह उन्होंने कहीं स्पष्टकरके नहीं बतलाया है। मेरी समझ में इसे दो अर्थो में लिया जा सकता है। या तो इसे हम 'अनुमित करना' का समानार्थी मान लें, या इसे उसके द्वारा व्यक्त संबंध से कमजोर संबंध का द्योतक मानें। दार्शनिक साहित्य एवं बोल-चाल की भाषा में 'समर्थन प्राप्त करना' वाक्यांश का प्रयोग न- निगमनात्मक अनुमान या वैसे निगमनात्मक अनुमान जिनमें आधारवाक्य निष्कर्ष की तर्कतः आपादित नहीं करते हैं, के लिए होता है। उदाहरण के लिए यदि प फ को आपादित नहीं करता है, किन्तु फ की सत्यता को संभाव्य प्रमाणित करता है, या उसे स्वीकार करने योग्य बतलाता हैं, तो मैं कहूँगा कि प फ का समर्थन करता है। यहाँ प के, या प के किसी महत्वपूर्ण पद के, फ से, या फ के किसी महत्वपूर्ण पद से, पूर्णतः या अंशतः समानार्थी होनेकी आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः ऐसे न-निगमानात्मक अनुमान उन्हीं स्थितियों में किए जाते है जहाँ ऐसी समानार्थकता का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ या अनपेक्षित है। मान लीजिए कोई यह तर्क प्रस्तुत करे कि क अच्छा है क्योंकि आनन्ददायक है और 'प्रायः' सभी आनन्द-दायक चीजें अच्छी होती हैं; और, अन्तिम आधारवाक्य ('प्रायः सभी आनन्दायक चीजें अच्छी होती हैं) को आगमनात्मक व्याप्ति माने। इस तर्क में आधार वाक्यों से निष्कर्ष तर्कतः निगमित या आपादित नहीं होता। बल्कि यही अनुमित होता हैं कि चूँकि अन्य आनन्ददायक चीजें अबतक अच्छी पाई गई हैं, इसलिए क के अच्छे पाए जाने की काफी सम्भावना है क्योंकि वह भी आनन्ददायक है। यदि यह निष्कर्ष वस्तुतः आगे चलकर, अनुभव द्वारा सत्य सिद्ध हो जाय, तो भी इसकी सत्यता इस तर्क से आपादित नहीं कही जाएगी। ऐसे अनुमान पूर्णतः चुस्त नहीं होते, फिर भी इन्हें दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऊपर के उदाहरण में दिया गया तर्क न तो इसलिए दोषपूर्ण है कि निष्कर्ष को उबके आधारवाक्य तर्कतः आपादित नहीं करते, क्योंकि उस हालत में सभी आगमनात्मक तर्क दोष-पूर्ण हो जाएंगे; न इसलिए कि दो भिन्न संप्रत्ययों या गुणों को एक मानने के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण यह प्रकृतिवादी दोष करता है। यदि इसे प्रकृतिवादी दोष से दूषित कहा जायगा तो अनुभवाश्रयी विज्ञानों के अनेक-अनेक, अन्यन्त ही प्रतिष्ठित, अनुमानों को गलत मानना पड़ेगा। स्वयं मूर भी उक्त तर्क को प्रकृतिवादी दोष से दूषित नहीं मानेंगे। इसलिए यदि प से फ के समर्थन प्राप्त करने का अर्थ है कि फ की सत्यता प की सत्यता से तर्कतः आपादित नहीं होती, बल्कि संभाव्य सिद्ध होती है, तो प से फ को अनुमित करने में प्रकृतिवादी दोष नहीं हैं। अतः यदि प्रकृतिवादी दोष अनुमानिक दोष है जो अवश्यंभावी रूप में उन सभी अनुमानों में चला आता है जिनमें किसी सत्त -विषयक वाक्य जैसे 'क आनन्ददायक हैं', से किसी मूल्यात्मक वाक्य, जैसे 'क अच्छा है', को अनुमित किया जाता है, या उसके लिए समर्थन प्राप्त किया जाता है, तो 'अनुमित करना' और 'समर्थन प्राप्त करना' दोनों पदों का अर्थ तर्कतः आपादित होना, निगमित होना, ही मानना पड़ेगा।

मूर की पहली परिभाषा के अनुसार प्रकृतिवादी दोष तदात्मीकरण का दोष है, और, जैसा कि मैंने ऊपर के विवेचन में दिखलाया है, अपनी आनुमानिक पोशाक में भी वह तत्त्वतः तदात्मीकरण का दोष ही रह जाता है। आनुमानिक दोष वह तभी हो पाता है जब 'अनुमित करने' या 'समर्थन प्राप्त करने' से 'तर्कतः निगमित होने' या 'तर्कतः आपादित होने' का अर्थ लिया जाय। किन्तु उस हालत में वह शुद्ध तदात्मीकरण का दोष बन जाता है। इसलिए मैं मानता हूं कि मूर द्वारा प्रतिपादित रूप में प्रकृतिवादी दोष वस्तुतः तदात्मीकरण का ही दोष है। सम्भवतः उसका ऐसा प्रतिपादन भी हो सकता है कि बिना तदात्मीकरण का दोष बनाए उसे किसी विशेष अर्थ में आनुमानिक दोष माना जाय। किन्तु यह दोष हमनाम होते हुए भी मूर के प्रकृतिवादी दोष से भिन्न होगा।

तदात्मीकरण का दोष होने के कारण प्रकृतिवादी दोष अच्छाई (या उसके संप्रत्यय) को सरल मान लेने पर भी उसके विषय में किया जा सकता है। किसी चीज़ की सरलता या जटिलता का उसके विषय में इस दोष के किए जाने से कोई तार्किक संबंध नहीं है। चूंकि किसी चीज़ को किसी दूसरी चीज़ से अभिन्न समझने से यह दोष होता है, किसी सरल चीज को किसी अन्य सरल या जटिल चीज़ से अभिन्न मानना उतना ही दोषपूर्ण है जितना किसी जटिल चीज को किसी अन्य जटिल या सरल चीज से अभिन्न मानना। मूर खुद अच्छाई को आनंद से अभिन्न मानने को दोषपूर्ण कहते हैं जबकि उनके अनुसार दोनों ही सरल हैं। बल्कि वे तो किसी गुण, जैसे आनन्दित होने, को किसी द्रव्य, जैसे आनंद के भोक्ता से, अभिन्न मानने को भी प्रकृतिवादी दोष कहने को तैयार हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह दोष अत्यन्त ही साधारण है जो जहाँ कहीं भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तादात्म्य नियम का उल्लंघन होगा विद्यमान रहेगा। इसलिए अच्छाई के सरल होने की कतई आवश्यकता नहीं है ताकि उसके विषय में इसे किया जा सके। जैसा कि कई विद्वानों ने (गलत) समझ लिया है, यह विश्लेषण या परिभाषा का दोष नहीं है जो किसी अविश्लेष्य (या अपरिभाष्य) के विश्लेषण करने के गलत प्रयत्न से, या किसी जटिल चीज के गलत ढंग से विश्लेषण करने से, होता है। अत: किसी विचारक के अच्छाई के विषय में इस दोष के करने से यह निकृष्ट नहीं होता कि वह उसे सरल नहीं मानता। और, यदि मूर के अच्छाई की सरलता के सिद्धान्त को असिद्ध ही माना जाय तो उससे यह निष्कृष्ट नहीं होता कि प्रकृतिवादी दोष दोष नहीं है। प्रकृतिवादी दोष के तार्किक महत्त्व की परीक्षा उसके अपने गुणदोष के आधार पर होनी चाहिए, न कि अच्छाई की सरलता के सिद्धांत के साथ उसे नत्थी कर।

अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृतिवादी दोष दोष है। इसकी दोषता पर शंका करने का अर्थ है तादात्म्य नियम पर शंका करना। तादात्म्य नियम पर शंका करने का अर्थ है कि हम यह मानने पर तैयार नहीं हैं कि कोई भी चीज कोई दूसरी चीज न होकर, वही है जो वह स्वयं है। मैं तादात्म्य नियम पर शंका नहीं करना चाहता हूँ; क्योंकि मैं उसे पुनरुक्ति या शाब्दिक सत्य मात्र मानता हूँ। इसलिए प्रकृतिवादी दोष की दोषता निर्विवाद हो जाती है; बल्कि इतना निर्विवाद है कि मूर ने जो गौरव इसे दिया है उसकी पात्रता इसमें नहीं रह जाती। यह कहना कि तादात्म्य नियम का उल्लंघन करने से तार्किक दोष होता है सत्य है, किन्तु अत्यन्त ही घिसा-पिटा, अत्यन्त ही तुच्छ। ऐसे सरल दोष को एक विशिष्ट नाम से संबोधित करने में भी कोई औचित्य नहीं दीखता। मूर के अतिरिक्त अनेक अन्य विचारकों ने भी, जिनमें उनके समर्थक और आलोचक दोनों ही सम्मिलित हैं, इसे बड़ा ही महत्वपूर्ण माना है। किन्तु मुझे लगता है कि इसकी (तथाकथित) गंभीरता और इसे दी गयी महत्ता में कोई अनुपात नहीं है।

यहाँ मूर का कोई समर्थक कह सकता है कि इस दोष की महत्ता बतलाकर वे तादात्म्य के उल्लंघन से उत्पन्न होने वाली साधारण-सी भूल की ओर नहीं, बल्कि उसके एक विशिष्ट दृष्टान्त की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। इस जगह यह विशिष्ट दृष्टान्त होगा अच्छाई को किसी अन्य गुण से एक या अभिन्न समझना। इस भूल को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है यदि (१) इसके उदाहरण नीतिशास्त्र के इतिहास में बहुत मिलते हों, या (२) इससे कुछ दूसरी महत्त्वपूर्ण भूलें उत्पन्न होती हों या हो सकती हों, या (३) अच्छाई के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य गुणों से भेद को पहचान पाना इतना कठिन हो कि बड़े-बड़े मनीषी भी धोखा खा सकते हों इत्यादि, इत्यादि। मूर के इसे महत्वपूर्ण मानने के पहले दो कारण ही हैं। तीसरे को तो वे स्वीकार नहीं ही कर सकते हैं क्योंकि उनके अनुसार अच्छाई और अन्य गुणों का भेद अत्यन्त ही सुस्पष्ट है जिसे कोई भी एकाग्र चित्त होकर देख सकता है। इसे स्वीकार करना उनके लिए आवश्यक भी नहीं है।

अतः मूर को यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि प्रकृतिवादी दोष दोष है। बल्कि उन्हें यह सिद्ध करना आवश्यक है कि अच्छाई एक विशिष्ट गुण है। यदि वह एक विशिष्ट गुण है तो अन्य गुणों से भिन्न होगा ही और उसे किसी भी अन्य चीज से अभिन्न मानना दोषपूर्ण होगा। ये सारी बातें तर्कतः सत्य हैं। किन्तु मूर यह सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं समझते कि वह एक विशिष्ट गुण है। वे इसे एक निर्विवाद सत्य मान लेते हैं कि 'अच्छा' शब्द एक विशिष्ट गुण की ओर, और अपने सारे प्रयोगों में उसी एक गुण की ओर, निर्देश करता है किन्तु यह कहने के लिए प्रमाण अनिवार्य है कि 'अच्छा' का निर्देश्य उन सारे पदों से, जो इसके पर्याय नहीं हैं, जैसे 'आनन्द', 'वांछित', 'ईश्वर द्वारा स्वीकृत', इत्यादि के निर्देश्यों से भिन्न है। उन्होंने खुला प्रश्नवाला तर्क यह सिद्ध करने के लिए ही दिया है, और उनका दावा है कि वह सदा के लिए, शुद्ध तार्किक आधार पर, इसे सिद्ध कर देता है। किन्तु खुला-प्रश्नवाला तर्क अच्छाई के सभी परिभाषिकों पर, उदाहरणास्वरूप उन पर जिनमें एक भी मूल्यात्मक पद है, लागू नहीं हो सकता। यह तो ठीक है कि यदि जिन परिभाषकों के लिए यह तर्क सत्य है उनके निर्देश्यों को 'अच्छा' के निर्देश्य से भिन्न सिद्ध करता है, तो उसी युक्ति से यह भी सिद्ध करेगा कि 'अच्छा' का कोई निर्देश्य है। किन्तु तिस पर भी इससे यह सिद्ध न हो पाएगा कि अपने सभी प्रयोगों में 'अच्छा' एक ही गुण की ओर निर्देश करता है। वस्तुतः खुला-प्रश्नवाला तर्क यह भी नहीं सिद्ध कर पाता कि अच्छा' का निर्देश्य परिभाषक के निर्देश्य से भिन्न है।[8]

जब अच्छाई की किसी प्रस्तावित परिभाषा पर उक्त तर्क लागू होता है तो यही दिखलाता है कि यह प्रश्न, कि परिभाष्य को परिभाषक के विधेय के रूप में

8. देखिए मेरा लेख A Critical Examination of Moor's Arguments for the Indefinability of goodness,' Presidential adress to the 19th Session of the Indian Philosophidal Association, Poona, 1969,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयुक्त किया जा सकता है या नहीं (जैसे, क्या आनन्ददायक पदार्थ अच्छे होते हैं?), उक्त परिभाषा के बावजूद, खुला का खुला रह जाता है। अर्थात इसका उत्तर 'हो' या 'नहीं' किसी के द्वारा करने में कोई तार्किक आपत्ति नहीं उठाई जा सकती क्योंकि न तो यह कहना कि आनन्ददायक पदार्थ अच्छे होते हैं पुनरुक्तिपूर्ण है, न यह कहना कि आनन्ददायक पदार्थ अच्छे नहीं होते व्याघातपूर्ण। किन्तु इससे स्पष्ट हो जाता है कि तब तो यही सिद्ध हो पाता है कि परिभाष्य और परिभाषिक भिन्न अर्थ वाले हैं, न कि भिन्न निर्देश्य वाले, जिसे मूर का अभीष्ट सिद्ध करने के लिए उनके तर्क को सिद्ध करना चाहिए था। दो पदों के भिन्नार्थक होने के लिए उनका भिन्न निर्देश्य-वाला होना जरूरी नहीं है बल्कि निर्देश्यहीन पद भी भिन्नार्थक हो सकते हैं। इसलिए खुला-प्रश्नवाला तर्क यह सिद्ध कर ही नहीं सकता कि 'अच्छा' का निर्देश्य अन्य पदों के निर्देश्य से भिन्न है। यही कारण है कि वह यह भी नहीं सिद्ध कर सकता कि 'अच्छा' का कोई निर्देश्य है भी। मूर को इस तर्क पर गर्व था, और उनके कई समर्थकों ने भी इसके लिए उनको दाद दी है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जिस कार्य के लिए इसे मूर ने दिया था उसे सिद्ध करने में यह पूर्णतः असमर्थ है।

दो भिन्न अर्थ वाले पदों के निर्देश्य एक भी हो सकते हैं। इसलिए दो पदों के निर्देश्यों को एक मानना सदा गलत ही होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः जब, तादात्म्य नियम के विशिष्ट उल्लंघन के रूप में, प्रकृतिवादी दोष को 'अच्छा' के निर्देश्य के किसी दूसरे पद के निर्देश्य से अभिन्न मानने का दोष कहा जाय, तो उस हालत में वह निर्विवाद या सीधी-सादी गलती नहीं रह जाता। बल्कि यह प्रमाणित करने के बाद ही कि ऐसा करना दोषपूर्ण है यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवादी दोष वस्तुतः (तार्किक) दोष है। और, तब मूर, जैसा कि वे करना चाहते हैं, अच्छाई की सभी परिभाषाओं को एक साथ, खुले प्रश्नवाले तर्क के द्वारा, प्रकृतिवादी दोष से दूषित प्रसिद्ध कर, त्याज्य घोषित नहीं कर सकते। यह तो भाषीय व्यवहार के विषय में अनुभवप्राप्त ज्ञान के आधार पर ही कहा जा सकता है कि किन्हीं दो पदों के निर्देश्य एक हैं या भिन्न-भिन्न। इसलिए अच्छाई की हरएक प्रस्तावित परिभाषा की वास्तविक परीक्षा कर, यह सिद्ध करने के बाद ही कि उसमें परिभाषिक और परिभाष्य निर्देश्यों के एक न रहते हुए भी एक माना गया है, वे कह सकते हैं उसमें प्रकृतिवादी दोष है। किन्तु तब तो, प्रकृतिवादी दोष के आधार पर कतिपय नीति-शास्त्रीय सिद्धांतों को अमान्य सिद्ध करने में निहित उनकी रणनीति ही बदल जायगी। अच्छाई की परिभाषा करने वाले सभी सिद्धांतों को एक ही झटके में, जैसा कि मूर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करना चाहते हैं, प्रकृतिवादी दोष से दूषित सिद्ध नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, बल्कि तब तो प्रकृतिवादी दोष कोई महत्वपूर्ण दोष भी नहीं रह जाएगा क्योंकि परिभाषक और परिभाष्य के निर्देश्यों के भिन्न होने पर भी कोई परिभाषा निर्दोष कही जा सकती है। और, चूंकि मूर इसे सिद्ध नहीं करते कि 'अच्छा' का निर्देश्य अन्य पदों के निर्देश्यों से बिलकुल भिन्न है, यह असिद्ध ही रह जाता है कि प्रकृतिवादी दोष, इस अर्थ में, दोष है।

मान लीजिए कि मूर के पक्ष में यह तर्क दिया जाय कि जिस की ओर वे इंगित कर रहे हैं वह यह है कि किसी नैतिक गुण (या संप्रत्यक्ष) को किसी न-नैतिक गुण (या संप्रत्यय) से एक मान लेना गलत है, और प्रकृतिवादी दोष से उनका ठीक-ठीक आशय ऐसी ही गलती से है। किन्तु इस रूप में भी यह नितांत हलका दोष बन जाता है। नैतिक और न-नैतिक निस्सदेह एक दूसरे से भिन्न हैं। प्रकृतिवादी दोष की गम्भीरता को बचाने के लिए, आधुनिक दार्शनिक शैली को अपनाने वाला कोई विचारक कह सकता है कि न-नैतिक से मूर का तात्पर्य है तथ्यात्मक। यदि इस सुझाव को मान लिया जाय तो किसी नैतिक गुण को किसी तथ्यात्मक गुन से मानने से उत्पन्न दोष को प्रकृतिवादी दोष कहा जाएगा। किन्तु ऐसा करने को दोष तभी कहा जा सकता है जब कि पहले यह प्रमाणित कर दिया जाय कि नैतिक और तथ्यात्मक को अभिन्न मानना, गलत है। और, इसे प्रमाणित करने के लिये ऐसा तर्क नहीं दिया जा सकता है कि दोनों को एक मानना गलत है, क्योंकि उन्हें एक मानने में प्रकृतिवादी दोष आ जाता है। यह तर्क चक्रक होगा। प्रकृतिवादी दोष का दोष होना अच्छाई के अन्य गुणों से, या नैतिक के तथ्यात्मक से, भिन्न होने पर आश्रित है; इसलिए इसके आधार पर उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता।

मूल्यात्मक और तथ्यात्मक गुणों की भिन्नता सिद्ध करने के लिये दो पद्धतियाँ अपनाई जा सकती है; (१) पहले हम दोनों के आवश्यक लक्षणों को अलग-अलग विवेचित करें और तब यदि वे भिन्न पाये जाएँ तो दोनों को भिन्न घोषित करें। (२) या, दोनों के तदात्मीकरण से उत्पन्न तार्किक परिणामों की परीक्षा करें, और यदि ये परिणाम तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण ठहरें तो दोनों को एक मानने को अनुचित कहें। दूसरी पद्धति परोक्ष प्रमाण का कार्य करती है। किसी भी पद्धती से यदि दोनों की भिन्नता सिद्ध कर दी जाती है तो उन्हें एक मानने को दोषपूर्ण कहना तर्कसंगत है। इस दोष को किस नाम से पुकारा जाय, यह कोई महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। यदि इसे प्रकृतिवादी दोष कहा जाय तो इसमें कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि नवीन, पारिभाषिक, पदों के गढने की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छूट तो हरएक विचारक को होती है और उसका प्रयोग भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है। किन्तु यदि कोई विचारक दूसरी पद्धति को अपनाता है तो मूल्यात्मक और तथ्यात्मक के तदात्मीकरण से उत्पन्न तार्किक दोषों में प्रकृतिवादी दोष को बिना अपने तर्क को चक्रक बनाये, नहीं सम्मिलित कर सकता हैं। यदि प्रकृति-वादी दोष की दोषता दोनों के तदात्मीकरण से उत्पन्न तार्किक दोषों के आधार पर करनी है तो उन दोषों में इसकी गिनती न होनी चाहिए। मुझे लगता है कि मूर ऐसी गलती करते हैं।

प्रकृतिवादी विचारकों की मूर आलोचना करते हैं कि जब कोई प्रकृतिवादी अच्छाई और आनंद को एक मानता है तो वह एक असंदिग्ध नैतिक वाक्य को मनोवैज्ञानिक वाक्य बना डालता है। 'क अच्छा है' 'क आनंददायक है' से, उसके मत को मानने पर अभिन्न हो जाता है, जब कि पहला वाक्य नैतिक है और दूसरा मनोवैज्ञानिक। नैतिक और मनोवैज्ञानिक का तदात्मीकरण गलत है। किन्तु मूर यह भूल जाते हैं कि ऐसा वे तभी कह सकते हैं जब कि पहले ही यह प्रमाणित कर दें कि नैतिक वाक्य (या गुण) मनोवैज्ञानिक वाक्यों (या गुणों) से भिन्न होते हैं। उनके और उनके द्वारा आयोजित विचारकों के बीच झगड़ा इस प्रश्न को लेकर नहीं है कि नैतिक गुणों का (न-नैतिक) तथ्यात्मक गुणों से तदात्मीकरण गलत है या नहीं, बल्कि इसको लेकर कि क्या नैतिक गुण तथ्यात्मक गुणों से सचमुच इतने भिन्न हैं कि उनकी परिभाषा तथ्यात्मक गुणों में नहीं हो सकती है ? उनके विरुद्ध दिया हुआ मूर का तर्क तथ्यात्मक गुणों से अच्छाई की भिन्नता को मानकर चलता है, उसे प्रमाणित नहीं करता। हो सकता है कि दोनों में अपरिहार्य भिन्नता है, किन्तु जब तक वे इसे सिद्ध नहीं करते, वे नहीं कह सकते कि दोनों को अभिन्न समझना गलत है। यह भी सभंव है कि लोक-व्यवहार में वे भिन्न माने जाते हों, किन्तु इससे भी यह निष्कृष्ट नहीं होता कि वे वस्तुतः भिन्न हैं।

परोक्ष प्रमाण की दिशा में मूर का एक और तर्क है। वे कहते हैं कि मान लीजिए एक विचारक 'अच्छाई' की परिभाषा 'वांछित' करता है और दूसरा 'आनंद'। अब यदि पहला यह प्रमाणित कर भी देता है कि आनन्द अच्छा नहीं होता है तो इससे नैतिक वाक्य 'आनन्द अच्छा नहीं होता है' प्रमाणित नहीं होता। इससे तो मनोवैज्ञानिक वाक्य 'आनन्द वाँछित नहीं होता है' प्रमाणित नहीं होता है क्योंकि उसकी परिभाषा के अनुसार अच्छे होने का अर्थ है वाँछित होना। किन्तु उसे तो नैतिक वाक्य 'आनंद अच्छा नहीं होता है' को प्रमाणित करना चाहिए था क्योंकि तभी ही वह अपने विरोधी के नैतिक वाक्य 'आनंद अच्छा होता है'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को असत्य सिद्ध कर सकता है। यह स्पष्ट है कि मूर का यह तर्क भी नैतिक और मनोवैज्ञानिक के भेद को मान लेने पर ही सार्थक हो सकता है; इससे उनके भेद को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि उन प्रकृतिवादियों के लिये, जिनके लिये यह भेद निर्विवाद नहीं है, इस तर्क में कोई बल नहीं है। वल्कि प्रत्युत्तर में प्रकृतिवादी कह सकते हैं कि मूर द्वारा प्रस्तुत प्रकृतिवाद की परिभाषा के अनुसार न तो 'आनंद अच्छा होता है, नैतिक वाक्य है, न 'आनंद अच्छा नहीं होता है', यदि, नैतिक' को इस अर्थ में लिया जाय जिस अर्थ में मूर 'नैतिक' और 'मनोवैज्ञानिक' के अर्थ-भेद को अपरिहार्य मानते हैं। इसलिए एक प्रकृतिवादी द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक वाक्य (आनन्द अच्छा होता है) को दूसरा प्रकृतिवादी, उसके व्याघाती या विरोधी ('आनन्द' अच्छा नहीं होता है) मनोवैज्ञानिक वाक्य को सत्य प्रमाणित कर असत्य सिद्ध करने का दावा न्यायपूर्वक कर सकता है।

सभी युगों के सभी प्रकृतिवादी सिद्धांतों को अमान्य करने का दावा मूर करते हैं जब वे कहते हैं कि अपनी ही भूल के कारण प्रकृतिवादी नीतिशास्त्र को इस अनर्थकारी परिणाम का भोगी होना पड़ता है कि एक प्रकृतिवादी सिद्धांत दूसरे को अमान्य नहीं सिद्ध कर सकता। "यदि अच्छाई को किसी अन्य वस्तु द्वारा परिभाषित किया जाता है, तो यह सिद्ध करना, कि कोई दूसरी परिभाषा गलत है, या ऐसी परिभाषा को अस्वीकार करना, असंभव है।"[९] किन्तु यह परिणाम अच्छाई को परिभाषित करने मात्र से नहीं होता है। यह तो उसे मनमाने ढंग से परिभाषित करने से होता है। बल्कि किसी भी पद की मनमानी या स्वनिर्मित परिभाषा का इसे स्वाभाविक परिणाम कहा जा सकता है। कोई भी मनमानी परिभाषा किसी भी चीज को प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं कर सकती। उद्धृत पंक्तियों में 'परिभाषित' शब्द से मूर का तात्पर्य 'मनमाने ढंग से परिभाषित करने' से ही है। यह उनके (गलत) ज्यामितीय परिभाषाओं के उदाहरणों से, जिनका प्रयोग वे उसी अनुच्छेद में करते हैं, स्पष्ट है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वे उदाहरण बड़े ही बेढंगे और कृत्रिम हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि अच्छाई की परिभाषाओं के विषय में मूर ने जो ऊपर के उद्धरण में आपत्ति उठाई है, वह यथार्थ परिभाषाओं पर लागू नहीं होती। मान लें कोई प्रकृतिवादी यथार्थ परिभाषा के रूप में कहता है कि 'केवल वांछित ही अच्छा होता है', जिसका अर्थ है कि उसके अनुसार, हम जिसे वांछित और जिसे अच्छा कहते हैं, वे यथार्थतः एक ही हैं। यह परिभाषा सत्य है

९ प्रिंसिपिया एथिका पृ. ११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(और यह सत्य या असत्य हो सकती है क्योंकि यथार्थ परिभाषाएँ सत्य-असत्य हो सकती हैं) तो इसे सिद्ध करने से वह यह भी सिद्ध कर लेगा कि आनन्द अच्छा नहीं होता, यदि यह सत्य है कि वांछित पदार्थ और आनन्ददायक पदार्थ एक ही नहीं हैं। इस प्रकार एक यथार्थ परिभाषा दूसरी को असत्य प्रमाणित कर सकती है।

ऊपर के विवेचन के उपसंहार के रूप में कहा जा सकता है कि यह कहने के पहले कि, जिन गुणों से अच्छाई को (अधिकांश) नीतिशास्त्रियों ने अभिन्न माना है, उनसे उसे अभिन्न मानने में प्रकृतिवादी दोष होता है, मूर के लिए यह प्रमाणित करना अनिवार्य है कि अच्छाई उन गुणों से वस्तुत: भिन्न है। मुझे लगता है कि इस प्रश्न को वे अच्छाई की अपरिभाष्यता के प्रश्न से भिन्न नहीं समझते; अर्थात यदि यह प्रमाणित कर दिया जाय कि वह अपरिभाष्य है तो, उनकी समझ में यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वह अद्वितीय, बिलकुल अनोखा, है अर्थात उन सभी गुणों से जिनसे उसे अभिन्न समझा गया (या जा सकता) है, भिन्न है।

अच्छाई की किसी भी परिभाषा को प्रकृतिवादी दोष से दूषित सिद्ध करने के लिए यह सिद्ध करना अनिवार्य है कि जिस गुण से अच्छाई का तादात्म्य बतलाती है 'उससे' वह भिन्न है। अत: अच्छाई के विषय में किसी सामान्य सत्य से उसकी किसी खास परिभाषा का प्रकृतिवादी दोष से दूषित होना अनुमित नहीं किया जा सकता। इसे तो उस परिभाषा की परीक्षा द्वारा स्वतंत्र रूप से प्रमाणित करने की आवश्यकता है। यहाँ यह भी याद रखना जरूरी है कि मूर यह नहीं कह सकते कि अच्छाई अपरिभाष्य है क्योंकि इसकी परिभाषा करने से प्रकृतिवादी दोष होता है; क्योंकि अपरिभाष्यता का प्रयोग वे प्रकृतिवादी दोष की दोषता सिद्ध करने में करते हैं। प्रकृतिवादी दोष को भिन्न प्रकार से परिभाषित कर वे ऐसा कर सकते हैं, किन्तु तब अपने नीति-शास्त्रीय सिद्धांत के गठन में उन्हें कुछ आधारिक परिवर्तन भी लाने पड़ेंगे।

मूर के लिए 'अपरिभाष्य' का अर्थ 'सरल या 'अविश्लेष्य' है। किसी जटिल पदार्थ की ही परिभाषा हो सकती है, और जो सरल है वह अवश्य ही अविश्लेष्य, अपरिभाष्य, होगा। यह कहा जा चुका है कि प्रकृतिवादी दोष सरल और जटिल, किसी के विषय में भी हो सकता हैं, किंतु मूर की विचारधारा में अच्छाई की सरलता में और उसके विषय में प्रकृतिवादी दोष होने की संभावना में अत्यंत ही निकट संबंध है। शायद वे सोचते हैं कि चूंकि अच्छाई सरल है, इसलिए किसी अन्य गुण से इसको अभिन्न मानना अधिक दोषपूर्ण है। वे शायद भूल जाते हैं कि किसी भी तार्किक दोष से दूषित होने में मात्रा का, कम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या अधिक का, प्रश्न नहीं उठता किसी तार्किक क्रिया में कोई दोष यदि है तो है; वह कम या अधिअ मात्रा में नहीं रह सकता है। इस दृष्टि से तार्किक दोष अन्य दोषों, जैसे सामाजिक अपराधों, से भिन्न हैं।

मूर के विरुद्ध मेरी आपत्ति केवल यही नहीं है। मेरा तो मत है कि अच्छाई को 'जिस ढंग से' सरल वे मानते हैं, उससे उसके विषय में किए जाने पर प्रकृतिवादी दोष में कोई विशिष्टता तो नहीं आ पाती है, बल्कि कई नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

अच्छाई को सरल गुण मानने से मूर का तात्पर्य है कि वह एक ऐसा विशिष्ट, अद्वितीय, अविश्लेष्य, गुण है जिसका ज्ञान हमें एक प्रकार के अनैन्द्रिय प्रत्यक्ष से होता है और जिसका वर्णन या विवेचन कुछ भी संभव नहीं है। अच्छाई अच्छाई है, इसके अतिररिक्त उसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि अच्छाई की सरलता इसी प्रकार की है तो प्रकृतिवादी दोष के सिद्धांत को वह अत्यंत हो कमजोर, करीब-करीब बेकार या अव्यवहार्य, बना डालती है। इसे मैं नीचे दिखलाऊँगा। तर्क के लिए मैं माप लूंगा कि अच्छाई (मूर के अर्थ में) सरल गुण है।

सरल होने के कारण, अच्छाई क्या है, या अन्य सरल गुणों से किस प्रकार भिन्न है, यह ज्ञान किसी न किसी प्रकार के प्रत्यक्ष (अनुभव) से ही मिल सकता है। इसलिए, किसी जटिल गुण से इसका अंतर भी उसी समय स्पष्ट हो जाना चाहिए जब यह पता लग जाय--अनुभव, विश्लेषण, या शब्द ज्ञान से-कि वह गुण जटिल है। दो जटिल गुणों के अन्तर के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष ही एक मात्र साधन नहीं है। अ और आ, दो भिन्न जटिल गुण होंगे यदि किसी एक में कोई ऐसा अवयव हो जो दूसरे में नहीं है, या यदि एक के अवयवों के बीच दूसरे के अवयवों के बीच वर्तमान संबधों से भिन्न प्रकार के सम्बध हों। ऐसे अंतर का ज्ञान विश्लेषण से हो सकता है, और कभी-कभी केवल प्रत्यक्ष से भी।

अच्छाई को किसी अन्य सरल गुण से कब अभिन्न कहा जा सकता है, और कब नहीं, इसकी परीक्षा मैं नीचे करूंगा।

मान लीजिए कि किसी वस्तु के दो सरल गुण हैं, अच्छाई (अ) और आनन्ददायकता (आ), और कोई विचारक अ को आ से अभिन्न समझता है। ऐसा कर वह, मूर के अनुसार, प्रकृतिवादी दोष करता है। अब, यदि वह अ और आ दोनों को दो भिन्न गुणों की तरह प्रत्यक्ष करता है, तो वह दोनों को अभिन्न नहीं मानेगा। इस लिए वह प्रकृतिवादी दोष नहीं कर पाएगा। ऐसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थिति किसी भी मन और शरीर से स्वस्थ व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है, क्योंकि किसी भी स्वस्थ व्यक्ति के लिए दो भिन्न चीजों को भिन्न चीजों की तरह देखना स्वाभाविक है।

दूसरी स्थिति वह होगी जिसमें कोई केवल अ या केवल आ का ही प्रत्यक्ष वह कर पाता है। इसमें अ को आ से अभिन्न मानने का कोई प्रश्न नहीं उठता। इस लिए यहाँ भी प्रकृतिवादी दोष नहीं हो पाएगा। यह संभव है कि वस्तुतः वह आ को प्रत्यक्ष करता है, किन्तु उसे अ कहता है। किन्तु यह भूल भाषा की, गलत संज्ञा के प्रयोग की, भूल होगी; दो भिन्न पदार्थों के तदात्मीकरण की नहीं। यह गलती वही कर सकता है जिसे या तो यह नहीं मालूम है कि अ और आ दो भिन्न गुणों के लिए दो भिन्न नाम 'अ' और 'आ' लभ्य हैं; या वह जिसे 'अ' और 'आ' दो भिन्न संज्ञाओं के आस्तिव का तो पता है किन्तु यह नहीं मालूम कि किस के लिए कौन-सी संज्ञा उपयुक्त है। संज्ञाओं के उचित प्रयोग की शिक्षा द्वारा उसके इस दोष को दूर किया जा सकता है। यहाँ गलती भी साधारण, कुछ शब्दों के प्रयोग की गलती हैं, और इसीलिए उसके निवारण का तरीका, उन शब्दों के उचित प्रयोग की शिक्षा, भी साधारण है। किन्तु प्रकृतिवादी दोष इतनी हलकी-फुलकी गलती नहीं है जिसके करने वाले साधारण, अल्पज्ञ, व्यक्ति हैं। मूर के अनुसार तो इस दोष के करने वाले कांट, मिल, प्रभृति प्रतिष्ठित विद्वान हैं।

तीसरी स्थिति वह होगी जिसमें कोई 'अ' और 'आ' दोनों का प्रत्यक्ष करता है, किन्तु उनकी भिन्नता को नहीं देख पाता है। इसका कारण या तो उसके अंदर विद्यमान कोई मानसिक या शारीरिक दोष हो सकता है, या प्रत्यक्ष करने के गलत तरीके का प्रयोग, या बाहरी वातावरण में विद्यमान कोई दोष। किन्तु इन तीनों में कोई भी क्यों न उसकी गलती का वास्तविक कारण हो, यहाँ उसकी गलती तदात्मीकरण की नहीं है। वह 'दो भिन्न' पदार्थों को 'एक' नहीं मान रहा है। वह यह कभी नहीं कह सकता है कि व 'आ' है, या 'आ' से अभिन्न है; वह तो कुछ-कुछ इस तरह की बातें कर सकता है : 'जिसे आप अ और आ कहते हैं, उनके बीच जिस भिन्नता को देखने का आप दावा करते हैं, वैसी भिन्नता मैं नहीं देखता। जिसे आप अ और आ कहते हैं वे दोनों मुझे एक-सा दीखते हैं, इसलिए उन्हें अ या आ किसी भी संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।' यह भाषा प्रकृतिवादी दोष करने वाले की नहीं है। वह केवल इतना ही नहीं कहता कि अ आ से अभिन्न है, बल्कि उसके लिए तर्क भी देता है।

ऊपर के विवेचन से जान पड़ता है कि प्रकृतिवादी दोष वही करेगा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जो 'दो भिन्न' गुणों, अ और आ, को देखता है, किन्तु उन्हें भिन्न कहने या मानने से अस्वीकार करता है। ऐसे व्यक्ति को दुष्ट कहा जाय, या जड़मति, यह तो मेरी समझ में नहीं आता, किन्तु यह स्पष्ट लगता है कि यह कोई तार्किक गलती नहीं कर रहा है यदि प्रकृतिवादी दोष दुष्ट या जड़मति लोग ही कर सकते हैं तो जितना गौरव और महत्त्व मूर ने इसे दिया हैं उसका कोई औचित्य नहीं दीखता।

किन्तु कठिनाइयों का अन्त यहीं नहीं होता। तर्क के लिए ही मान लें कि कोई अ को आ-जैसा देखता है। जब हम कैसे उसे विश्वास दिलाएँगे कि वह अ को आ-जैसा देखता है। और इसलिए गलती कर रहा है। ऐसा तभी हम कर सकते हैं जब उसे अ को जैसा दिखलाएँ या देखने में सफल बनाएँ। तब अपने दोनों अनुभवों की तुलना कर उसे विश्वास होगा कि उसका पहला अनुभव जिसमें अ आ की तरह लगता था, गलत था। किंतु अ को अ–जैसा देख सकने में उसे हम कैसे समर्थ कर सकते हैं? उसे किस प्रकार के निर्देशन या प्रशिक्षण दिये जाने चाहिए? चूँकि अ अत्यंत ही विलक्षण, अपरिभाष्य, न–प्राकृतिक इन्द्रियों की पकड़ से बाहर का गुण है ऐसे निर्देशनों या प्रशिक्षण को निर्दिष्ट करना, जो उसे उनका अ–जैसा देखने में समर्थ बना सकें, असम्भव सा ही लगता है। और, मान लीलिये कि मूर-जैसे असाधारण योग्यता वाले किसी शिक्षक के चमत्कारपूर्ण शिक्षण के उपरान्त वह कहता भी है कि अब वह अ की अ-जैसा देख रहा हैं। उस हालत में हम इसकी जाँच कैसे कर सकते हैं कि वह अ को अ–जैसा ही देख रहा है? हम कैसे जान सकते हैं कि अब वह पहले-जैसी (अ को आ–जैसा देखने की) गलती नहीं कर रहा है? वस्तुतः उसके व्यवहार के अतिरिक्त हमें अन्य कोई भी चीज उपलब्ध नहीं है, न हो सकती है, जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि वह गलती कर रहा है, या कि उसकी गलती दूर हो गयी है। वह अ को अ-जैसा, या आ-जैसा देखता है, हमारे ऐसा कहने का एकमात्र आधार उसका व्यवहार, भाषीय या न-भाषीय हो हो सकता है। किन्तु तब यह सम्भव होना चाहिए कि हम स्पष्ट रूप में बता सकें कि अ को अ-जैसा देखने वाले से किस प्रकार का। किन्तु यह भी आसान नहीं लगता है। और, यदि मनुष्यों का व्यवहार ही एकमात्र आधार हो सकता है हमारे यह कहने का कि कोई व्यक्ति अ को अ-जैसा देखता है, या आ-जैसा तो इस तथ्य से यह भी संकेत लिया जा सकता है कि नैतिक मूल्यांकन की व्याख्या के लिए अच्छाई को, जैसा मूर मानते हैं, एक विशिष्ट गुण मानने की आवश्यकता नहीं है।

अच्छाई को किसी अन्य 'सरल' गुण से अभिन्न मानकर उसके विषय में प्रकृतिवादी दोष करने की सम्भावना स्वीकार करने में उपर्युक्त कठिनाइयों के, जिनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिये कोई समाधान मूर के नीतिशास्त्र में नहीं हैं, होने का कारण है कि अच्छाई को जिस तरह से वे सरल मानते हैं, उससे उसे किसी अन्य सरल पदार्थ से अभिन्न समझने की गलती अनुभव या प्रत्यक्ष की गलती बन जाती है, तर्क की नहीं। प्रत्यक्ष की गलती की व्याख्या दो भिन्न पदार्थों को अभिन्न मानने के कारण बता कर नहीं की जा सकती है। ऐसा करने पर उपर्युक्त प्रकार की उलझनें पैदा होंगी ही। चूंकि प्रकृतिवादी दोष दो भिन्न पदार्थों को अभिन्न मानने का दोष है, अच्छाई को केवल प्रत्यक्ष से ज्ञेय मानने पर, उसी की तरह किसी दूसरे, केवल प्रत्यक्ष से ज्ञेय, पदार्थ से उसके भेद के विषय में होने वाल (प्रत्यक्ष की भूल को प्रकृतिवादी दोष के माध्यम से नहीं समझाया जा सकता है। प्रत्यक्ष की भूल को तादात्म्य नियम के उल्लंघन से उत्पन्न भूल नहीं कहा जा सकता है। प्रकृतिवादी दोष तार्किक दोष है, प्रत्यक्ष का नहीं। अतः प्रत्यक्ष की भूल को प्रकृतिवादी दोष कहने का मतलब होगा उसके स्वरूप को बदलना; अर्थात् उसे तर्क का नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष का दोष बनाना, और वह भी गलत ढंग से क्योंकि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रत्यक्ष की भूल की व्याख्या उसके द्वारा नहीं हो सकती।

दार्शनिक साहित्य में किसी तार्किक दोष को प्रतिष्ठा पाने के लिये आवश्यक है कि वह निम्नलिखित तीन शर्तों को पूरा करे। सम्भव होना चाहिये कि (१) वह दोष किया जा सके, (२) यदि कोई उसे करता है तो उसे विश्वास दिलाया जा सके कि वह गलती कर रहा है, और (३) गलती के सुधार का दावा करने पर दावे की जाँच हो सके। अच्छाई को किसी अन्य सरल पदार्थ से एक मानने की भूल को भी यदि प्रकृतिवादी दोष माना जाय, जैसा कि मूर करते हैं, तो इस रूप में वह ऊपर की तीन शर्तों में किसी को पूरा नहीं करता। इसलिये कहा जा सकता है कि कम-से कम उन सिद्धान्तों को, जो अच्छाई की परिभाषा किसी सरल पदार्थ द्वारा करते हैं, मूर प्रकृतिवादी दोष से दूषित नहीं कह सकते। ऐसा वे तभी कर सकते हैं जब वे अच्छाई की सरलता की, या प्रकृतिवादी दोष की अपनी परिभाषा बदलें।

किसी जटिल पदार्थ से अच्छाई को अभिन्न मानकर प्रकृतिवादी दोष करने की सम्भावना स्वीकार करने में उपर्युक्त प्रकार की कठनाइयाँ तो नहीं होंगी, किन्तु पिछले पृष्ठों में जो आपत्तियाँ उठायी गयी हैं उनसे कोई छुटकारा नहीं है। वे आपत्तियाँ ही प्रकृतिवादी दोष के सिद्धान्त को अमान्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं।

कहा जा सकता है कि तथ्यात्मक और मूल्यात्मक पदों या संप्रत्ययों के तार्किक व्यवहार में वर्तमान भेद को मूर ने देखा था, और उसे स्पष्ट करने तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उस पर बल देने के लिये प्रकृतिवादी दोष का प्रतिपादन किया था। दोनों में भेद तो अवश्य है, किन्तु उसे मूर ठीक-ठीक पकड़ नहीं पाये थे, और जो अन्तर्दृष्टि इस विषय में उन्हें थी उसका समुचित विकास भी वे नहीं कर सके। उनकी असफलता के कई कारण थे जिनमें प्रमुख हैं उनके निर्देशात्मक अर्थ-सिद्धान्त और संज्ञानवादी नीति-शास्त्र। वस्तुतः जिस दलदल में प्रकृतिवादी दोष का सिद्धांत हमें डालता है उससे निकलने के लिये हमें दोनों की—निर्देशात्मक अर्थ-सिद्धान्त और संज्ञानात्मक नीति–शास्त्र—परिधियों से बाहर आना पड़ेगा। इसके लिये भाषा विशेषकर नैतिक भाषा, के वास्तविक व्यवहार की छान-बीन अपेक्षित है। किन्तु यह एक स्वतन्त्र विषय है।

राजेन्द्र प्रसाद
भारतीय तकनीकी संस्थान,
कानपुर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कलाकृति के वस्तुपरक मूल्यांकन का प्रश्न

कलाकृति के वस्तुपरक मूल्यांकन का आग्रह समीक्षा में उसके वस्तु-पक्ष की अपेक्षा अथवा निषेध की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ है। समीक्षा कृति अनेक बार बहाना भर बन कर रह जाती है- उसकी चर्चा आरंभ कर समीक्षक अपने मन की बहक के साथ बह-निकलता है और इस बात की चिंता नहीं करता कि उसकी चर्चा में समीक्ष्य कृति कभी की पीछे छूट गई है। यदि ऐसा अतिवादी भटकाव न हो, तो भी अनेक बार समीक्षक ऐसी बातें करने लगता है जो कृति के इर्दगिर्द ही चक्कर काटती हैं, कृति के भीतर से कुछ नहीं निकालतीं। इस कोटि की समीक्षा भी वस्तुनिष्ठ समीक्षा नहीं कही जा सकती। इसलिए उसका निषेध करते हुए वस्तुनिष्ठ समीक्षा पर ज़ोर देने के लिए एफ्. ई. स्पारशॉट ने लिखा है; "किसी कृति की समीक्षा का अर्थ उसके विषय में समीक्षा होने से कुछ अधिक होता है।"[1] अपनी बात स्पष्ट करने के लिए उन्होंने उपन्यास और जीवनी के अन्तर का सहारा लिया है। उनका कहना है कि उपन्यास जिसके विषय में लिखा जाता है, उसे अपनी कल्पना के लिए लेखक के पास पूरा अवकाश रहता है; लेकिन जीवनकार जिसके जीवन को अपनी कृति में अंकित करता है, उसके जीवन-तथ्यों के प्रति उसे वफादार रहना होता है। तथ्यों से हटकर अथवा उन्हें गौण बनाकर अपनी ही बात कहने की छूट जीवनीकार नहीं ले सकता। उसी प्रकार समीक्षक भी समीक्ष्य कृति से हटकर या उसे गौण बनाकर कृतकार्य नहीं हो सकता।[2]

यदि स्पारशॉट के उक्त मत को स्वीकार कर लिया जाए तो समीक्ष्य कृति को 'अपने आप में महत्त्वपूर्ण' मानना होगा। इसके विपरीत मारग्रेट मेकडोनेल्ड ने इस विचार को स्पष्ट शब्दों में अग्राह्य ठहराया है कि 'अपने-आप में' कृति-

१. एफ्. ई. स्पारशॉट, द कन्सेप्ट आफ क्रिटिसिज्म, पृ. ५१
२. वही, पृ. ५६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसा कुछ होता है।"[1] मैकडोनेल्ड समीक्षा की वस्तुनिष्ठता के विरुद्ध निर्वचन के रूप में समीक्षक की आत्मनिष्ठता की पक्षधर हैं। उनके मत को अपने सामने रखकर कलाकृति के वस्तुपरक मूल्यांकन के प्रति आग्रह को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

उनके मत का आधार यह मान्यता है कि समीक्षा की प्रकृति सर्जनात्मक होती है-- प्रत्येक सच्ची समीक्षा कृति का नया निर्वचन होती है और समीक्षक अपने अर्थापन से समीक्ष्य कृति को अंशदान करता है।[2] उनका कहना है कि किसी निर्वचन के बिना भी कोई कृति हो सकती है, ऐसा नहीं जान पड़ता।[3] इसलिए वे कलाकृति को कोई एक निश्चित वस्तु न मानकर उसकी प्रतीतियों को महत्व देती हैं। उनके विचारानुसार कृति एकनिष्ठ विभिन्नताओं की समष्टि (सेट आफ वेरिएशन्स) रह जाती है।[4] ऐसी स्थिति में मूल्यांकन की वस्तुपरकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस अतिवादी आत्मपरक दृष्टिकोण की सबसे आपत्तिजनक बात कलाकृति की वस्तु सत्ता का नकार है। कलाकृति की पहचान को प्रतीतियों के भरोसे छोड़कर मेकनोल्ड ने समीक्षा को कृतिनिर्भर न रहने देकर कृति को समीक्षा पर आश्रित बना दिया है।

कृति की वस्तु सत्ता के निषेध के लिए मेकडोनेल्ड का मुख्य तर्क यह रहा है कि जब कोई कृति वस्तु (ऑब्जेक्ट) के रूप में पहचानी जाती है तो वस्तुतः भौतिक पदार्थ में कृति का भ्रम होता है जब कि कृति कोई भौतिक वस्तु नहीं हो सकती।[5] उदाहरण के लिए, कामायनी को वस्तु-रूप में लिया जाए तो छपे हुए और जिल्द बंधे कुछ कागजों को ही कामायनी समझने की भूल होगी, जबकि कामायनी नामक कृति इस शीर्षक से छपे ग्रंथ से अभिन्न नहीं मानी जा सकती।

इसके विपरीत सामान्य अनुभव भौतिक कलेवर में ही कृति को देखता आया है और कृति को भौतिक वस्तु से अलगाने में उसे असमंजस होता है। सामान्य अनुभव की बात छोड़ भी दी जाए और केवल कला-विदग्ध जन को ही कला-वस्तु

१ मॉरिस वाइल्ज द्वारा संपादित प्राब्लम्स इन ऍस्थेटिक्स में मारग्रेट मेकडोनेल्ड का लेख 'सेम डिस्टिंक्टिव आरग्यूमेण्ट्स यूज्ड इन क्रिटिसिज्म,' पृ. ८७२
२ वही पृ. ८७१; ३-वही, पृ. ८६०
४. वही, पृ. ८६२ ५- वही, पृ. ८५७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की पहचान का अधिकारी समझा जाए; तो भी यह कहना सरल नहीं रह जाता कि माध्यम के रूप में प्रयुक्त पदार्थ की कोई भूमिका कृति के सौन्दर्य के उत्कर्ष या अपकर्ष में नहीं है। ताजमहल अगर संगमरमर से न बनाया जाकर लाल पत्थर से बनाया जाता तो भी इतना ही सुंदर रहता और कला-मर्मज्ञ को उतना ही प्रभावित करता जितना अब करता है—यह बात आसानी से नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार किसी चित्र का सौन्दर्य प्रयुक्त रंगों की अपनी गुणात्मकता में सर्वथा निरपेक्ष है, यह भी ऐसे ही नहीं कहा जा सकता। कोई गीत अपने कलात्मक मूल्यांकन के लिए गायक या गायिका विशेष के कंठ का कतई आभारी नहीं है—यह कहना भी अविचारपूर्ण होगा।

यह तर्क कृति के भौतिक कलेवर और माध्यम की भौतिक पदार्थ-रूपता को एक मान लेने के भ्रम से उत्पन्न हुआ है। संगमरमर ताजमहल का माध्यम है, इस नाम की कलावस्तु को उपलब्ध कराने भर का साधन नहीं, जब कि छपे हुए कागज कामायनी को उपलब्ध कराने के साधन-मात्र हैं, काव्य-रचना के माध्यम नहीं। यही बात चित्र के रंगों और गायक की आवाज़ के संबंध में भी कही जा सकती है। गीत में गायक की आवाज़ का वही स्थान है जो काव्य-कृति में कवि की भाषा का। काव्य-स्मृति का पुस्तक से जैसा संबंध है वैसा गीत का संबंध ग्रामोफोन रिकार्ड या टेप से होता है। पुस्तक, ग्रामोफोन, रिकार्ड या टेप भौतिक वस्तुएँ ही हैं; कलावस्तु नहीं।

माध्यम और अंकन का साधन, दोनों में भौतिक पदार्थ कला-रचना के लिए अपेक्षित है, लेकिन स्थानग्राही कलाओं में माध्यम और अंकन का साधन एक ही होता है जबकि समयग्राही कलाओं में दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं। स्थापत्य मूर्ति और चित्र में कला-रचना जिस माध्यम में होती है, उसी में अंकित रहती है, जबकि काव्य और संगीत में माध्यम और अंकन का साधन भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए समयग्राही कलाओं में कलावस्तु को भौतिक वस्तु से अलगाना जितना सरल है उतना सरल स्थानग्राही कलाओं में नहीं। स्थानग्राही कलाओं मे अंकन का साधन माध्यम से अभिन्न होने के कारण कलावस्तु की प्रतीति भौतिक वस्तु के रूप में होने की संभावना अधिक रहती है।

स्थानग्राही और समयग्राही कलाओं में भौतिक वस्तु और कलावस्तु की भिन्नता के बोध में जो अंतर रहता है वह हमारे भाषिक व्यवहार में स्पष्ट रूप में लक्ष्य किया जा सकता है। जब कोई ऐसा कागज़ फट जाता है या खो जाता है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिस पर कोई चित्र बना होतो यही कहने में आता है कि चित्र फट गया। महमूद गजनवी ने मूर्तियाँ तोड़ी थीं– यह बात मध्यकालीन भारतीय इतिहास की पुस्तकों में लिखी मिलती है। आगरा में वातावरण के प्रदूषण से ताजमहल को खतरा है, यह बात भी 'ताजमहल' नामक कलाकृति को भौतिक वस्तु समझ कर ही कही जाती है। लेकिन, समयग्राही कलाओं के संबंध में ऐसा प्राय: नहीं होता। चलचित्र फिल्म में अंकित रहता है, लेकिन चलचित्र फिल्म नहीं है; यह बात हर कोई जानता है। फिल्म आग में जलकर नष्ट हो जाती है तो यह नहीं कहा जाता कि अमुक चलचित्र नष्ट हो गया।

इसका एक कारण तो यह है कि समयग्राही कलाओं की कृतियाँ पदार्थ में अंकित होती हैं तो अंकित वस्तु की अनेक प्रतियाँ होती हैं और प्रति कृति नहीं हो सकती। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि कलावस्तु भौतिक वस्तु अथवा अंकन से स्वतंत्र होती है। चलचित्र फिल्म में अंकित होता है और पर्दे पर उसका प्रदर्शन फिल्म के सही सलामत होने पर निर्भर है, फिर भी सिनेमा प्रदर्शन में है, फिल्म में नहीं। इसी प्रकार नाटक मंचन में नाटक होता है, आलेख उपलब्ध कराने वाली पुस्तक में नहीं। यह बात इस तथ्य से और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कभी-कभी अंकन के बिना भी कलाकृति या कलावस्तु का अस्तित्व बना रह सकता है। कबीर के संबंध में प्रसिद्ध है कि उन्होंने स्याही और कागज़ छुआ ही नहीं था। यह भी संभव है कि उनके किसी शिष्य ने भी उनकी रचनाओं को लिपिबद्ध न किया हो और काफी समय तक उनका अस्तित्व मौखिक रूप में रहने के बाद ही वे लिपिबद्ध की गई हों। मौखिक रूप में भी उन्हें कलावस्तु कहलाने का उतना ही अधिकार था जितना बाद में कागज़ पर स्याही में अंकित होने के बाद उन्हें मिला। इसके अलावा यह भी देखा जा सकता है कि कभी-कभी एक ही कलाकृति अनेक रूपों में अंकित होती है। ऐसा होने पर भौतिक वस्तुएँ भिन्न होती हैं, लेकिन कलावस्तु एक ही रहती है। उदाहरण के लिए, रामचरितमानस नामक काव्यकृति पुस्तक रूप में उपलब्ध है; उसका टेप भी हो सकता है। पुस्तक और टेप दो भौतिक वस्तुएँ हैं। जिनमें एक ही कलावस्तु उपलब्ध है।

यद्यपि स्थानग्राही कलाओं में ऐसा नहीं हो सकता, फिर भी यह कहना गलत होगा कि उनमें कलावस्तु भौतिकवस्तु ही होती है। माध्यम-रूप में प्रमुख भौतिक वस्तु से कला-वस्तु को अलग करके देखना कितना ही कठिन हो, भौतिक वस्तु और कलावस्तु दो भिन्न कोटियों की वस्तुएँ हैं। ताजमहल की भव्यता में संगमरमर का कितना ही हाथ हो; संगमरमर एक सामान्य वस्तु है जबकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ताजमहल विशिष्ट वस्तु है। संगमरमर का प्रयोग कितने ही स्थानों पर हुआ है, लेकिन ताजमहल एक ही है। ताजमहल, अन्य सभी कलाकृतियों की तरह ही, अद्वितीय है और उसकी यह अद्वितीयता संगमरमर की नहीं, रचना-कर्म की देन है। ताजमहल एक अनुपम कृति है तो इसका श्रेय संगमरमर को नहीं, उसके निर्माता की सर्जनात्मक क्षमता को है। स्थानग्राही कलाओं में यह कर्म अंकन में ही उपलब्ध होता है, इसलिए उसकी स्वतंत्र प्रतीति कठिन हो जाती है, जबकि, समयग्राही कलाओं में उसे अंकन से भिन्न रूप में पहिचानना कठिन नहीं रह जाता। गीत को रिकार्ड से और काव्य को छपे हुए पृष्ठों से स्वतंत्र रूप में सरलता से पहिचाना जा सकता है।

यह अंतर केवल दृष्टि के सधाव का है। सधी हुई दृष्टि ताजमहल में भी कलाकार के सर्जन-कर्म और उसकी उपलब्धियों को चीन्ह लेती है, कठिनाई उसे होती है जो दृष्टि सधीन होने से ताजमहल को संगमरमर में ही खोजता है। इससे जो बात निकलती है, वह यह कि कलावस्तु कर्ममूलक होती है, पदार्थमूलक नहीं। इसलिए जब किसी कलाकृति के नष्ट होने या उसे उध्वस्त किए जाने का प्रसंग आता है तो वास्तव में वह एक भौतिक वस्तु के नष्ट या उध्वस्त होने का प्रसंग होता है, कलावस्तु के नष्ट या उध्वस्त होने का नहीं। कलावस्तु के नष्ट या उध्वस्त होने की बात इसलिए भी कही जाती है कि नष्ट या ध्वस्त किया गया भौतिक पदार्थ माध्यम के रूप में उस कर्म को अपने भीतर समाये हुए था जो कलावस्तु कहलाने की अधिकारी थी। चूंकि उस भौतिक पदार्थ के अभाव में कलाकार के उस विशिष्ट कर्म को प्रत्यक्ष कराने का कोई उपाय शेष नहीं रह जाता जिसके नाते भौतिक पदार्थ में कलावस्तु की प्रतीति होती थी, इसलिए उसके नष्ट होने पर उपचार वश यही कहा जाता है कि अमुक कृति टूट गई या तोड़ दी गई।

क्रोचे ने भौतिक पदार्थ से कला को सर्वथा स्वतंत्र कहकर इस उपचार के रहस्य को अनदेखा कर दिया है। यह सही है कि कलावस्तु भौतिक वस्तु से भिन्न होती है, फिर भी वह भौतिक वस्तु में ही प्रायः उपलब्ध होती है। भौतिक कलेवर के अभाव में कलाकार का कृतित्व थोड़े समय ही जीवित रह सकता है, उसे चिरस्थायी बनाने के लिए भौतिक पदार्थ की आवश्यकता होती है। इसलिए यह कहना अधिक सही होगा, कि कलावस्तु भौतिक वस्तु नहीं होती, भौतिक वस्तु में होती है।

यही कारण है कि भौतिक वस्तु में उपलब्ध होते हुए भी वह प्रायः वास्तु नहीं, कृति कही जाती है। अँगरेजी में भी उसके लिए वर्क या वर्क आफ आर्ट का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयोग किया जाता है। यह अकारण नहीं है कि मम्मट ने कवि-भारती की वंदना निर्मिति के संबंध से की है :

नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्य परतंत्रतासताम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।[१]

'कृति' के लिए 'रचना' शब्द का प्रयोग भी कलावस्तु की कर्ममूलकता का द्योतक है।

दार्शनिक स्तर पर भी 'कला' का मूल कर्तृत्व माना गया है। कामायनी में प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन का आधार लेकर यह मत व्यक्त किया गया है कि शिव की कर्तृत्व शक्ति जब जीव को प्राप्त होती है तो वही 'कला' कहलाती है : "कर्तृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला।"[२] संभवतः इसी विचार-पद्धति के कारण हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की लालित्य योजना में 'लालित्य' की चर्चा सर्जन के कोण से की है और मानव-कलाकार को बार-बार विधाता के समान्तर आसन देकर लालित्य अथवा 'कला-सौन्दर्य को सर्जन में खोजने पर बल दिया है।[३] तत्त्वान्वेषी पाठक के विचारणीय विषयों के अन्तर्गत 'सौन्दर्य' से लालित्य को अलगाते हुए 'लालित्य-योजना' के लिए जो विशेषण प्रयोग किया है, उससे उनका यही अभिप्राय प्रकट होता है : "प्रकृति ने जिस सौन्दर्य का प्रसार किया है, उससे मनुष्य के प्रयत्न-साधित लालित्य-योजना का क्या संबंध है?[४] आगे चलकर उन्होंने निजी तौर पर मानव निर्मिति में लालित्य के अवस्थान की बात कही है : "मनुष्य-निर्मित सौन्दर्य ही, जिसे मैं लालित्य कहना पसंद करता हूँ, आज का अनुसंधेय विषय है।[५]

इससे यह समझ सकता हैं कि कला की वस्तुपरक समीक्षा किसी भी भौतिक वस्तु में उपलब्ध मानवीय सर्जन कर्म की समीक्षा है यहाँ यह समझ रखना आवश्यक है कि 'सर्जन-कर्म' का अभिप्राय 'निर्माण-कौशल' या 'रचना-चातुरी' भर नहीं है। केवल अभ्यास के बल पर की गई रचना में 'कारीगरी' हो सकती है,' कला' नहीं। 'कला' के लिए उद्भावना पहली शर्त है। 'उद्भावना के अभाव में प्रतिकृतियाँ, सिनेमा के पोस्टर और 'लोक प्रिय उपन्यास' संभव हैं, 'कलाकृति' नहीं।

---

१. काव्य-प्रकाश १।१, २. कामायनी, 'इड़ा' सर्ग
३. द्रष्टव्य-हजारीप्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य-योजना, ६९, ६८, ८३, ८५
४. वही, पृ. ६१, ५. वही. पृ. ६३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रत्येक उद्भावना अपने-आप में विशिष्ट और अद्वितीय होती है— वह न तो नियम-निर्दिष्ट हो सकती है न किसी पूर्ववर्ती उद्भावना की आवृत्ति। नियम निर्दिष्ट होना 'उद्भावना' का विलोम है। इसलिए प्रत्येक कलाकृति के सर्जनात्मक वैशिष्टय की पहिचान स्वयं उसके भीतर रहती है— समीक्षक का कार्य उसे उद्घटित करना है और इस उद्घाटन में उसे नियमों या सिद्धांतों के ज्ञान से कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। जहां कई कलाकृतियों के वैशिष्टय को आधार बनाकर कला-सौन्दर्य की सामान्य सरणियाँ निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता है, वहाँ समीक्षा-कर्म कलाधर्म की पहिचान में अपनी असमर्थता प्रकट करता है। यदि ऐसा कहना बहुत कठोर लगे तो कहना ही पड़ेगा कि सरणि-निर्धारण से सर्जनात्मक उन्मेष की अपूर्वता की पकड़ का मार्ग अवरूद्ध होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार-गुण आदि को परिभाषित किया जाना तथा वक्रोक्ति और रीति के भेदोपभेदों का परिगणन इसका ज्वलंत प्रमाण है। अलंकारों की परिमिति में अगणित कल्पना-व्यापारों को समेट लेने का प्रयत्न सर्जनात्मक उन्मेष की नित्यनूतनता को अस्वीकार करना है। यह दृष्टिकोण कला के जीवन्त विकास के विरुद्ध परिपाटीबद्धता और रीतिवाद को बढावा देता है। इससे यह प्रकट होता है कि कलाकृति का वस्तुपरक मूल्यांकन समीक्ष्य कृति के अपने सर्जनात्मक वैशिष्टय में निहित है, कला-समीक्षा के पूर्वनिर्धारित और तथाकथित वस्तुपरक प्रतिमानों की सामान्यता में नहीं।

जैसे कल्पना-वंचित उद्भावना की बात नहीं सोची जा सकती, वैसे ही मात्र कल्पना में उद्भावना को सीमित कर देना असंगत है। डेविट एच. पार्कर ने राफेल की चित्र-सर्जना से सम्बन्धित एक प्रवाद की चर्चा करते हुए माध्यम में कल्पना का अवतरण सर्जना के लिए आवश्यक बतलाया है। उनका कहना है राफेल के सम्बन्ध में कहा जाता था कि वह अपने हाथों से नहीं, मन से चित्र बनाता था। इस उलटबाँसी में सत्य जितना भी हो, सभी उलटबाँसियों के समान इसमें झूठ भी समानमात्रा में विद्यमान है। प्रत्येक चित्रकार यह जानता है कि उसकी संदृष्टि जब तक उसकी उँगलियों में नहीं आजाती तब तक वह उसके मन में भी नहीं रह सकती।"[1] मारग्रेट मेकडोंनेल्ड ने इस तर्क को और आगे बढ़ाते हुए यहाँ तक कह दिया है "कलाकृति कोई मनः स्थिति नहीं है। माध्यम के उपयोग की शिल्प-विषयक क्षमता से जुड़कर कलाकार की मनःस्थिति का प्रभाव भी कलाकृति नहीं होता।"[2] निश्चय ही, कलाकृति रचनाकार की मनः स्थिति

१. मॉरिस वाइल्ज द्वारा सम्पादित प्राब्लम्सइन अॅस्थेटिक्स में डी. एच. पार्कर का लेख 'द नेचर आफ आर्ट' शीर्षक लेख, पृ. ७२

२. उपर्युक्त पुस्तक में मारग्रेट मेकडोनेल्ड का संदर्भित लेख, पृ. ८५३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और माध्यम के उपयोग की क्षमता का जोड़ नहीं हैं, फिर भी माध्यम में कलाकार की कल्पना का अवतार ही कलाकृति के रूप में सामने आता है। इस दृष्टि से माध्यम और कल्पना की अन्तः क्रिया का विश्लेषण कृति के वस्तुपरक मूल्यांकन की प्राथमिक आवश्यकता है।

कलाकृति की वस्तु-सत्ता के प्रति अवधान का अतिरेक कभी-कभी एकांगिता में परिणत होकर समीक्षा–दृष्टि को विपथित कर देता है। वस्तु-बोध की अति-रंजना के फलस्वरूप अनेक बार कृति माध्यम के उपयोग के रूप में ही विवेच्य रह जाती है। जब ऐसा होता है तो साहित्यिक कृति की हैसियत 'एक भाषिक संरचना की रह जाती है। और उसका भाषिक विश्लेषण ही प्रासंगिक मान लिया जाता है। यह तर्क भुला दिया जाता है कि उसका 'कृति' होना भाषा प्रयोग के साथ सर्जनात्मक कल्पना की अंतःक्रिया में निहित है। साहित्य–सर्जना की इस आधार भूत सचाई की अवहेलना होने पर समीक्षा के लिए भाषा व्याकरण के जड़ ढाँचे के रूप में विवेचन का विषय बनती है। लेकिन साहित्य का अनुशीलन करते हुए उसमें अन्तर्निहित चेतना को दृष्टि पथ में न आने देने के लिए जिस निर्मम यांत्रिक मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है, साहित्य का सहृदय अध्येता उससे प्राय मुक्त रहता है। इसलिए साहित्य समीक्षक 'शैली वैज्ञानिक अध्ययन' क संकल्प करके भी प्रायः चेतना की अभिव्यक्ति के संधान से अपने–आप को रोक नहीं पाता। जब वह ऐसा करने में सफल होता है तो हमार सामने निराला की साहित्य-साधना, भाग २ (डॉ. रामविलास शर्मा) किये गये कलाविवेचन जैसा अध्ययन आता है। जब समीक्षक को उसकी सहृदयता चेतना के संधान की ओर धकेल देती है तो रीतिविज्ञान (डॉ. विद्यानिवास मिश्रा) में की गई काव्य-व्याख्याओं के ढंग की चीज़ हमें मिलती है।

जिस प्रकार शैलीविज्ञान में साहित्यिक कृति का भौतिक पक्ष— भाषा — ही अवधान का विषय रह जाता है, उसी प्रकार अन्याय कलाओं में कलाकृति को माध्यम के उपयोग के रूप में ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति मिलती है। डेविट एच. पार्कर ने संगीत और चित्रकला में इन्द्रियग्राह्य पक्ष पर सामग्री के मध्य संतुलन की आवश्यकता प्रतिपादित की है : " जहाँ यह सच हैं कि नंदतिक अनुभव में ऐन्द्रिय सामग्री भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कल्पनाप्रसूत सामग्री वहीं यह भी सच है कि इस प्रकार के अनुभव में सभी सामग्री सृष्टि की हैसियत से ही सामने आती है अर्थात माध्यम भी वहाँ भौतिक विश्व के कामकाजीपन से मुक्त हो जाता है।"[१]

१.— डेविट एच. पार्कर का पूर्वसंदर्भित लेख, पृ. ६६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'यह मत सही दिशा की ओर उन्मुख प्रतीत होता है, लेकिन कलावस्तु के साथ नंदतिक अनुभव की बात उठने पर एक नई शंका सिर उठाती दिखलाई देती है। यदि कलाकृति के मूल्यांकन का आधार नंदितिक अनुभव है तो कलाकृति के उत्कर्ष का विवेचन उसके आस्वाद के विवेचन से भिन्न कैसे हो सकता है? यदि कलाकृति की समीक्षा आस्वाद का विश्लेषण है तो मूल्यांकन की वस्तुपरकता का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इस प्रकार की समीक्षा आस्वादक के अपने अन्तर्दर्शन से उद्भूत होने के कारण आत्मपरक ही होगी।

इस संबंध में विचार करते समय साहित्य-समीक्षा में भारतीय काव्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त के विनियोग पर दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि 'रस' शब्द से ही प्रकट है, इस सिद्धान्त का आधार काव्यास्वाद है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्यास्वाद की प्रक्रिया एवं उसका स्वरूप ही मुख्यतः विवेच्य रहा है। लेकिन, जब किसी कृति का विचार इस सिद्धान्त के आधार पर किया गया है तो रस की खोज 'आस्वाद' में नहीं कृति में की गई है। —आस्वाद के कारण रूप में कृति का विश्लेषण करते हुए रस-निष्पत्ति के वस्तुगत स्रोतों को लक्ष्य किया गया है।

वास्तविकता यह है कि कृति आस्वाद्य होती है और आस्वाद कृतिका होता है। 'उपजहिं' अनत अनत छवि लहहीं' का सिद्धांन्त आस्वाद पर लागू होने के वाद मूल्यांकन के पर भी घटित होता है। सर्जन से आस्वाद, फिर आस्वाद से मूल्यांकन के क्रम में हम अंततः वहीं लौट जाते हैं जहाँ से कलानुशीलन की यात्रा आरंभ होती है।

कृति के आस्वाद के बाद जैसे ही हम उसका (आस्वादका) विश्लेषण करने लगते हैं, हमारा ध्यान आस्वाद पर केन्द्रित हो जाता है। अपने नंदतिक अनुभव के उत्तेजक के रूप में कलाकृति का विवेचन ही मूल्यांकन का पथ प्रशस्त करता है। इस प्रकार मूल्यांकन आस्वाद को अंतर्दर्शन के स्थान पर वस्तुगत विवेचन की दिशा में ले जाता है।

संतायना ने सौन्दर्य की जो परिभाषा की है, उससे भी इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। सौन्दर्य आनंद का वस्तुगत रूपांतरण —प्लेज़र ऑब्जेक्टिफाइड'[1]

---

[1] द सेन्स आफ ब्यूटी, पृ. ८३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, तो मूल्यांकन भले ही आनंद की अनुभूति से उद्भूत हो, उसका आलम्बन वस्तु-कला-वस्तु- ही हो सकती है। जिस प्रकार कोई कलाकार अपने अनुभव से दूरी उत्पन्न किए बिना रचना नहीं कर सकता; उसी प्रकार कोई समीक्षक आस्वाद से दूरी रखे बिना मूल्यांकन नहीं कर सकता। आस्वाद से दूरी स्थापित करने में सभी समीक्षक समान रूप से सफल नहीं होते, लेकिन इतना निश्चित है कि समीक्षक आस्वाद की आत्मनिमग्न मन: स्थिति से जितना उबर सकेगा और कला के संबंध में उसकी समझ अपने मन की सनक से हट कर जितना अधिक वस्तुबोध संपन्न होगी, कलाकृति के संबंध में उसका मूल्यांकन उतना ही निर्भ्रान्त होगा।

जगदीश शर्मा
५५, गोल्फकोर्स
जोधपुर-१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य और दर्शन—परस्परावलम्बन

'साहित्य' जीवन का कलात्मक उद्रेखण है और 'जीवन' वही जीवन है जो 'दृष्टि' पूर्वक जिया जाय। मानवेतर चेतना की अपेक्षा मानव चेतना में संभावित अतिरिक्त लोक मांगलिक विशेषताओं की उपलब्धि ही (मानव) जीवन की चरितार्थता है, अन्यथा वह अचरितार्थ फलत: निरर्थक है। संभावनाएँ उपलब्धि कैसे बने– इसके लिए 'दृष्टि' चाहिए। 'दृष्टि' हीन मानव के लिए उपलब्धि का पथ अंधकाराच्छन्न है। इस प्रकार 'दृष्टि' जीवन के माध्यम से 'साहित्य' के लिए अनिवार्य रूप से संबद्ध है और 'दृष्टि' ही 'दर्शन' है। इस प्रकार दर्शन और साहित्य का अनिवार्य संबंध है।

'दृष्टिदर्शनम्' –भाव व्युत्पत्ति का सहारा लिया जाय, तो दृष्टि दर्शनात्मक क्रिया का ही दूसरा नाम है इस अर्थ में 'दर्शन' शब्द 'दर्श' धातु से 'ल्युट' प्रत्यय का विधान होने पर बना है। प्रयोगों के साक्ष्य पर देखा जाय तो 'दर्शन' शब्द प्रत्यक्ष तथा 'अनुभव' के अर्थ में भी मिलता है। कश्मीरी शैवाचार्य जब ऐसा ही न सांख्यीया, न 'वैदान्ति की दृक्'[1] कहते हैं तब वे निश्चय ही 'दर्शन' के ही अर्थ में 'दृक्'[1] शब्द का प्रयोग करते हैं। 'कश्मीर 'शैविज्म' के प्रणेता डॉ. जगदीश चटर्जी ने भी कहा है—

'The technical term दर्शन now meaning a system of philosopy, no doubt originlly meant a 'view' of things a certain way of looking at things in general and in this sense was certainly interchangeable with the 'दृष्टि,'[2]

कुछ दार्शनिकों ने अनुभव, प्रत्यक्ष तथा दर्शन तीनों को परस्पर पर्याय मानते में आपत्ति खड़ी की है। उदाहरणार्थ नैयायिकों को लीजिए– इन लोगों ने अनुभव की परिधि में ही प्रत्यक्ष के साथ परोक्ष को भी लिया है। इस प्रकार

१– परात्रिंशिका, पृष्ठ १२५।

२– Kashmir Shavism pags 18.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इनकी दृष्टि में यद्यापि अनुभव एंव प्रत्यक्ष को परस्पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, फिर भी यह मानना होगा कि इनके पक्ष में न तो लोक व्यवहार ही है और न ही है और न ही उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक ही उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक ही। लोकव्यवहार में यह प्रायः सुना जाता है- 'हमारा अनुभव इसे नहीं स्वीकार करता' उस वैद्य का अनुभव अच्छा है। इन प्रयोगों में अनुभव शब्द ग्रथज (परोक्ष) ज्ञान को नहीं बनाता। इसी प्रकार जब दार्शनिक कहते हैं — परमात्मा अनुभव से वेद्य हैं-स्वानुभूत्यैकमानाम[१] .... इत्यादि, तब उसका भी अभिप्राय यही होता है कि वह प्रत्यक्ष वेद्य है- अनुमान, उपमान एंव शब्द प्रमाण से उसका साक्षात् वेदन नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त (शांकर) परमतत्व को अनुभवात्मक ही मानता है— श्रुति कहती है- 'यत् साक्षात् अपरोक्षात्ब्रह्म'- ब्रह्म साक्षात् (करण निरपेक्ष) प्रत्यक्ष ही है – अनुभव ही है। श्री हर्ष ने भी प्रत्यक्ष के ही अर्थ में 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया है।

अनुभवं (प्रत्यक्षं) वचसा (परोक्षज्ञानेन) साखे। लुम्पसि-(नेषधीय चरित्र) अथवा 'आहुचेदनुभवः परमाप्तः।' इन प्रयोगों से 'अनुभव शब्द सहज और स्वाभाविक रूप में जो अर्थ देता है- वह 'प्रत्यक्ष' ही है। निष्कर्ष यह नैयायिकों की दृष्टि से 'अनुभव' को प्रत्यक्ष- परोक्षात्मक उभयविध मानना संगत नहीं है। उसे 'प्रत्यक्ष' का ही पर्याय मानना चाहिए। प्रकृत प्रसंग में इसका निष्कर्ष यह हुआ 'दर्शन' 'अनुभव' या प्रत्यक्ष ज्ञान – तीनों परस्पर पर्याय ही हुए।

भाव व्युत्पत्ति के अतिरिक्त करण या अधिकरण व्युत्पत्ति भी 'दर्शन' शब्द की संभव है- जो क्रमशः दर्शन साधन (विचार) तथा दर्शनाधार (ग्रंथ) की ओर हमें ले जायेंगे। इन दोनों व्युत्पत्तियों में गौरव दोष हैं, अतः प्रथम व्युत्पत्ति ही संगत और समुचित है।

'दर्शना' शब्द का व्यापक अर्थ 'प्रत्यक्षज्ञान' ही हुआ। अर्थ निर्णय करने में व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्ति निमित्त दोनों को देखना चाहिए। अर्थात् व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ से प्रयोग सम्मत अर्थ की संगति बिठाई जानी चाहिए। व्यवहार में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में नहीं होता। सभी प्रकार के 'प्रत्यक्षज्ञान', 'दर्शन' से अभिहित नहीं होते, अपितु वह ज्ञान दर्शन शब्द का मुख्य अर्थ है। जिसका विषय परम, अतिमुख्य, अनवगत एवं अभ्रान्त हो। उपचार वश उसका अन्य अर्थों में भी प्रयोग होता है —उदाहरणार्थ तथोक्त ज्ञान ही नहीं, उसका साधन भी 'दर्शन' है। यह साधन विचार भी है और 'ग्रंथ'। परम एवं अति मुख्य से तात्पर्य सृष्टि के मूल तत्व से है। वह मूलतत्व तो 'दर्शन' शब्द का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुख्य अर्थ है ही, अमुख्य रूप से उसका ज्ञान के साधन सभी 'दर्शन' शब्द से समझे जाते हैं आचार्य शंकर ने इसी प्रकार 'उपनिषद्' शब्द का मुख्य अर्थ परतत्व को तथा अमुख्य अर्थ विचार और ग्रंथ को कहा है।

कुछ लोग किसी भी 'शासन' या 'शास्त्र' को 'दर्शन' समझते हैं – यह ठीक नहीं है। शास्त्र सौज्यौतिष भी है, विचार तो वहाँ भी है, पर व्यवहार में उसे 'दर्शन' नहीं कहा जाता। दर्शन के लिए आवश्यक है विचार या ग्रंथ का सृष्टि के 'मूलतत्व' से जुड़ना, उसकी सृष्टयात्मक परिणति से जुड़ना। स्वर्गीय श्री. दामोदरलाल जी गोस्वामी ने भी एक स्थान पर यह कहा है, 'सृष्टि चेतन तथा अचेतन इन दो तत्वों का मिश्रण है – चेतन पर विचार करने वाला वाङ्मय 'विज्ञान' है। कहा जा सकता है कि 'काव्य' में भी परमतत्व की चर्चा कहीं न कहीं मिल जाती है– तो क्या उसे भी 'दर्शन' कहा जाय ? नहीं, काव्य 'दर्शन' नहीं है– वहाँ किसी 'दर्शन' की बात हो सकती है–स्वयं वह 'दर्शन' नहीं है। जो लोग काव्य का अन्तस्तत्व 'रस' को मानते हैं और रस को परतत्व से एकाकार कर देते हैं – उनकी दृष्टि से रस विषयक चिन्तन या विचार 'दर्शन' के भीतर आ सकता है – अतः 'साहित्य दर्शन' शब्द का उपलब्ध प्रयोग सार्थक और संगत माना जाता है। निष्कर्ष यह कि 'दर्शन' शब्द के तीन अर्थ हुए —

मुख्य अर्थ – (१) परतत्व विषयक अपरोक्षानुभव,

अमुख्य अर्थ – (२) (साधनात्मक) विचार
(३) तत्प्रतिपादक ग्रंथ।

जीवन, जिसका कलात्मक उद्रेखण साहित्य– के माध्यम से दर्शन का संबंध 'साहित्य' से अविच्छेद्य है– यद्यपि यह बात ऊपर प्रतिज्ञा के रूप में कही जा चुकी है– तथापि कतिपय विपक्षियों का पक्ष है कि 'दर्शन' भले जीवन के मूल में हो– पर काव्य का लक्ष्य केवल जीवन का प्रभावी उद्रेखण है, 'प्रबोधी' नहीं। 'प्रभाव' में भावोत्तेजन पर या भावविशेष में रमण पर बल है 'प्रबोधी' में बोधवृत्ति के उत्तेजन पर। दार्शनिक का उपस्थान 'प्रबोध' पर्यवसायी होता है, पर साहित्यिक का 'भाव' या सौन्दर्य पर्यवसायी। व्यवहार में यही, सर्वसम्मत तथ्य है कि साहित्य को प्रभावी होना चाहिए। स्पष्ट ही इस लोकमत के विश्लेषण से साहित्य का संबंध मुख्यतः भाव पक्ष से ही सिद्ध होता है। साहित्य के प्रयोजन या लक्ष्य को लेकर पौरस्त्य तथा पाश्चात्य मनीषियों के बीच पर्याप्त लंबा विवाद रहा है और आज भी वह शांत नहीं है। उभयदेशीय विचारधारा साहित्य के प्रयोजन रूप में कर्म, व्युत्पत्ति या विवेक संवर्धन को प्रामुख्य देती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और कभी 'आनंद' को। मनोविज्ञान के आलोक में रिचर्ड्स इन सबसे हटकर 'संवेगों' के संतुलन में काव्य की सार्थकता निरूपित करता है। रामचंद्र शुक्ल पाठक की अन्त: सत्ता के शेष विश्वव्यापिनी सत्ता से सामंजस्य में काव्य की सोद्देश्यता समर्थित करते हैं। उनकी दृष्टि में यदि हमारी अन्त: विश्वसत्ता के साथ रागात्मक सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाती, तो इसमें उसी का कहीं दोष है। हमारे मन में ही कहीं कोई खोट है कि जिससे अविशिष्ट विश्वसत्ता के साथ सार्वत्मना सामजस्य नहीं हो पाता। साहित्य वह माध्यम है जिससे पाठक शेष विश्व के साथ अपना रागात्माक संबंध स्थापित कर लेता है– और समस्त भेद विगलित हो जाता है। उनकी दृष्टि में मानवता की यही सर्वोच्च भूमि है। यहीं पहुँचना काव्य का भी लक्ष्य है। विचार इस प्रक्रिया में सहायक हो सकते हैं – साध्य या प्रमुख नहीं। हमारे रीतिकाल के स्वच्छंद कविवर घनानंद ने भी कहा है: 'रीझि सुजान सची पटरानी वची बुधि बावरी वै करि दासी।" रीझ मनोवृत्ति–काव्य में पटरानी है जिसके सामने विचारी बुद्धि दासी बनी रहती है। इस प्रकार एक लम्बी परंपरा काव्य में "भाव" को ही प्रामुख्य देती है, विचार या "दर्शन" को नहीं। जो भी हो, "विचार" को प्रामुख्य न देना एक बात है, "विचार" को काव्य–वहिर्भूत बनाना दूसरी। "विचार" या "दृष्टि" को काव्य से वहिर्भूत ये लोग भी नहीं करते– हां, उसे जीवन चित्रण के माध्यम से संकेतित होना चाहिए– न कि एक दार्शनिक की भांति अभिहित अभिधा में उपस्थापित। काव्य का अन्तस्तत्व सर्जनात्मक अनुभूति है और उसके स्वरूप में कहीं– न कहीं "विचार" भी घटक है– इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

एक बात और भी है। वह क्या है कि जिससे किसी कलाकार और लेखक को साहित्यिक मान्यता मिलती है और किसी को नहीं? क्या कारण था कि काफी समय तक साहित्य के समर्थ समीक्षकों ने चतुरसेन शास्त्री तक को साहित्यिक मान्यता नहीं दी? क्या कारण है कि गुलशन नन्दा और गुरुदत्त जैसे कई एक जीवन के कलात्मक उद्रेकों को अद्यावधि न साहित्यिक मान्यता मिली है और न मिलने की संभावना है? क्यों देवकीनंदन खत्री को वह स्थान नहीं मिला जो प्रेमचंद को शीघ्र ही मिल गया? इसका उत्तर एक ही दिया जा सकता है कि "दृष्टि" पूर्वक जो लेखक जीवन का प्रभावी चित्रण करता है– उसे साहित्यिक मान्यता मिलती है और जो ऐसा नहीं करता उसे साहित्यिक मान्यता नहीं मिलती। यह कहना कि "दृष्टि" से बंध जाने पर कलात्मक संभावनाओं का उत्कर्ष या उभार मर जाता है। यह बात असमर्थ लोगों के लिए ही कही जा सकती है। कला का कोई लक्ष्य नहीं है अर्थात् जिस जीवन का चित्रण किया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है- वह लक्ष्य होता है- इससे सभी लोग सम्मत नहीं हो सकते। लक्षहीन गतिहीन है- उसका पैर कहीं पड़ेगा ही नहीं। मनुष्य निर्णीत भूमि पर पैर रखता है और अगले चिंतन के लिए पैर उठाता है—ऐसी होती है—उसकी जीवनयात्रा। हाँ, यह अवश्य है कि यह सोद्देश्यता प्रचार के स्तर पर यदि उदग्र हो जायगी तो काव्य नारेबाजी का पर्याय बनकर अपना कलात्मक रूप खो देगा। जायसी अपवाद ही हो सकते हैं कि प्रचार भावना से प्रेरित होकर भी उनका साहित्य अपना कलात्मक रूप खो नहीं सका। काव्य के शाश्वत मूल उपादानों से उनका रोम-रोम इतना सिक्त है कि उनका प्रकाशन अद्भुत प्रभावी हो गया है, पर जहाँ विशुद्ध सिद्धांत निरूपण है- वहाँ कवित्व निःशेष हो गया है।

कई सर्जक तो ऐसे भी मान्यता प्राप्त हैं जो मानते हैं कि साहित्य चिंतन की अभिव्यक्ति का एक कलात्मक माध्यम है। जैनेन्द्र ने अपने कथासाहित्य के विषय में यही कहा है। जीवन मूल्यों के प्रति उपेक्षा करने वाला जीवनयापनोपयोगी साधना में रत "सभ्यता" का यह परिवेश "भाव" के साथ संबंद्ध रूप और व्यापारों को जटिल जटिलतर बनाता जा रहा है और साहित्यिक अभिव्यक्ति में "बुद्धि" जगह घेरती जा रही है- "भावरस" की जगह "बुद्धि रस" लेता जा रहा है- ऐसी स्थिति में तो विचार या दर्शन काफी उभरकर साहित्य में अपनी जगह बना रहा है। आज का तो सारा साहित्य ही पक्ष प्रतिपक्ष बनकर अभिव्यक्ति के रूप में सामने आ रहा है—मतलब सबल हो या निर्बल साहित्यिक शैली में सपक्ष विपक्ष के विचार ही बाहर आ रहे हैं। यह साहित्य के स्वरूप के अनुरूप हो रहा है या प्रतिरूप यह एक अलग बात है।

निष्कर्ष यह कि जहाँ तक साहित्य के रचनात्मक पक्ष की बात है- उसमें चाहे "भाव" का प्रामुख्य हो या "विचार" का- विचार या "दृष्टि" किसी न किसी रूप में सर्वत्र स्थिर है। हाँ, जब वह जीवन से जुड़कर आता है तब तो काव्योपयोगी होता है, पर जब विशुद्ध चिंतन के ही स्तर पर जाता है- तब वह अकाव्यात्मक हो जाता है और पाठक को एक बौद्धिक खुरचन की भाँति प्रतीत प्रतीत होने लगता है :

साहित्य का एक और पक्ष है- आलोचनात्मक, जो साहित्य का शास्त्र कहा जाता है, वहाँ अनुभूति की विभिन्न दृष्टियों से व्याख्या ही तो की जाती है। साहित्य के विभिन्न उपादानों- शब्द, अर्थ, प्रतिमा कल्पना, सौन्दर्य, आनंद, रचना प्रक्रिया तथा परिणति पर सैद्धांतिक समीक्षकों ने न जाने कितने दर्शनों के आलोक में उन्हें स्पष्ट करना चाहा है। शब्द और शब्दबोध" दार्शनिकों का बौद्धिक अखाड़ा है। प्रतिभा और कल्पना की व्याख्या पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दर्शनों के आलोक में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनेकधा किया गया है। सौन्दर्य तो स्वयम् दर्शन की ही वस्तु थी-- बाद में साहित्यिकों ने उसे केन्द्र बनाकर सौन्दर्य शास्त्र का निर्माण किया। भारतीय आचार्यों ने "रस" को समझने के लिए अनेक दर्शनों की सहायता ली और अंततः कश्मीरी दार्शनिकों ने उस पर अपना अधिकार कर लिया।

आलोचना का एक दूसरा पक्ष है– व्यावहारिक आलोचना। व्यावहारिक समीक्षा समीक्ष्य कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार पूर्वक किया गया सर्जनात्मक पुनराख्यान है। उसकी दृष्टि "तत्वार्थ दर्शिनी" होती है समीक्षक तत्वार्थ का उद्घाटन कर अपनी "दृष्टि" से उसका विश्लेषण करता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान विज्ञान "दर्शन" के मूल उत्स "मूलतत्व" से जितना जुड़ा रहेगा– विश्लेषण उतना ही गहरा, उपादेय और स्पष्ट होगा।

निष्कर्ष यह कि साहित्य अपने रचनात्मक तथा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचनात्मक दोनों पक्षों में "दर्शन" से घनिष्ट रूप में जुड़ा हुआ है।

साहित्य को दर्शन की कहाँ तक और किस रूप में अपेक्षा है यह देख लेने के बाद यह कह देना फिर भी शेष रह गया कि "दर्शन" को "साहित्य" की क्या अपेक्षा है। 'दर्शन' अपने उद्भव और विकास में 'साहित्य' को कहाँ तक मुखापेक्षिता करता है? परस्परावलंबन के परीक्षण का यह दूसरा पक्ष है। वैसे तो यह विराट विश्व ही एक विराट काव्य है– "पश्यदेवस्य काव्यं न संसार न जीयेति"– दर्शन इसी को समझाने की एक विराट् वैचारिक चेष्टा है। विश्व के अधिकांश दर्शन पवित्र पुस्तकों पर आधारित हैं और ये पवित्रपुस्तकें "सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति हैं– श्री अरविंद की तो धारणा ही है कि सर्वाधिक कवित्व का प्रस्फुटन जहाँ होता है वे मंत्र हैं– ऋचा हैं। इनको आधार बनाकर भारत में नैगमिक दर्शनों का उद्भव हुआ। आगम भी ऐसी ही अभिव्यक्ति है जिन पर आगमिक दर्शन खड़े हैं। बुद्ध और तीर्थंकरों के वचनों-काव्यात्मक अभिव्यक्तियों को मूल में रखकर गैर-वैदिक भारतीय दर्शन आविष्कृत हुए हैं। इस्लामी, सूफी, क्रिश्चियन सभी दर्शन ऐसे ही अनुभूति जन्य काव्यात्मक उद्गारों पर आधारित हैं। यह भी सही है दर्शन इन घेरों को तोड़कर भी उभरा है और उसने साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और उसका कारण जीवन को प्रभावित करना है। फ्राइड, मार्क्स तथा डार्विन ने विश्व की क्रमागत चिंता धाराओं पर प्रश्न वाचक चिन्ह लगाकर या तो हिला दिया अथवा उसके दृढ़ीकरण के निमित्त आगे सोचने को बाध्य किया। किसी भी देश की किसी भी दार्शनिक धारा को उसकी ऐतिहासिक पीठिका पर ही ठीक ठीक पकड़ा जा सकता है, अतः नई से चिंता धारा का सम्यक् आकलन क्रमागत धारा के संदर्भ में ही संभव है। इस क्रम में दर्शन, जीवन और साहित्य एक दूसरे को समझने के लिए परस्परावलंबन की अपेक्षा रखते ही हैं।

राममूर्ति त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
विक्रम विश्व विद्यालय, उज्जैन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दार्शनिक दृष्टि और साहित्य

दर्शन का साहित्य पर युगयुग से संस्कार होता रहा है। इसका अनुभव किसी भी भाषा के साहित्य के अवलोकन से हो सकता है। हिंदी भाषा का यदि उदाहरण लिया जाय तो तुलसीदास और कबीर के साहित्य पर अपरोक्ष या परोक्ष रीति से भारतीय दर्शनों का प्रभाव पड़ा है यह निश्चित हो जाता है। हिंदी काव्य में भी छायावाद तथा रहस्यवाद की जो छटा दिखायी देती है वह भी दर्शन के प्रभाव के परिणामस्वरूप है। हिन्दी टीका तथा समीक्षा में भी प्राचीन तथा अर्वाचीन दर्शन का प्रभाव दृग्गोचर है, यह रामचंद्र शुक्ल जैसे युगप्रवर्तक समीक्षाकारों की समीक्षाओं से ज्ञात होता है। दर्शन का साहित्य पर प्रभाव पड़ना केवल यह इच्छा की बात नहीं है। भट्टलोल्लट, भट्टनायक, अभिनव गुप्त आदि संस्कृत साहित्य शास्त्र के आचार्य तथा कोलरिज आय. ए. रीचर्डस्, ईलियट, हंगरलेंड, आदि आश्चात्य समीक्षक दार्शनिक भी थे। और दार्शनिक होने के ही कारण उन्होंने समीक्षा कार एक ढाँचा तैय्यार किया। जिसे समीक्षा की दार्शनिक प्रणाली नाम दिया जा सकता हैं। साहित्य और दर्शन का संबंध मुझे इसलिए अनिवार्य मालूम होता है कि एक दृष्टि से साहित्य जीवन का चित्र है। यद्यपि साहित्य में जीवन के सभी पहलुओं का संक्षेप किया किया जाता है तथापि, साहित्य में जीवन के सभी पहलू सजीव और मूर्त मौजूद रहते हैं और दर्शन में यद्यपि इन पहलुओं का मूर्तिकरण नहीं दिखायी देता तथापि इनका सामान्यीकरण वहाँ होता है। अतः साहित्य और दर्शन का संबंध आशय तथा आकार जैसा है। साहित्य और दर्शन दोनों भाषाविधा होने से, दर्शन को भी हम साहित्य का एक प्रकार समझ सकते हैं। और यदि यह माना गया तो साहित्य और दर्शन का परस्पर संबध, आशय और आकार का ही न रहेगा, किंतु उससे भी निपटकर हो जाएगा।

आधुनिक युग में दर्शन का स्वरूप दार्शनिक कुछ भिन्न ढंग से सोचते हैं। विज्ञान की प्रगति के बाद सृष्टि का विकास कैसे हुआ, अथवा सृष्टिका मूल तत्त्व कौनसा है, इसके प्रति सामान्य मानव, विज्ञान पर निर्भर रहेगा, दर्शन पर नहीं। अतः दर्शन के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाना अनिवार्य था। विज्ञान से हमें जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान मिलता है वह केवल निजी संपत्ति रूप में रखना नहीं है, बल्कि उसका संप्रेषण करना जरूरी हो जाता है। और इसीसे इस संप्रेषण का स्वरूप क्या है, भिन्न भिन्न माध्यम के पीछे वह स्वरूप बदलता है या नहीं, उस विज्ञान की विचार प्रणाली (Methodlogy) क्या हैं, तथा, उस विज्ञान के पूर्वाग्रह क्या हैं, इसका भी विचार अनिवार्य होता है। और यह सभी दर्शन की कक्षा में आता हैं। प्राचीन काल में यद्यपि दर्शन की कई प्रणालियाँ थीं, तथापि दर्शन का क्षेत्र एकही है ऐसा समझा जाता है। किंतु आधुनिक युग में दर्शन एक ही शास्त्र का नाम है, यह समझना कठिन होगा। गणित की विचार प्रणाली तथा पूर्वग्रह और नीतीशास्त्र की विचार प्रणाली तथा पूर्वाग्रह एक जैसे ही होने चाहिए ऐसा मुझे नहीं लगता। अत: दर्शन का स्वरूप एक परिवार जैसा है। और उसमें एकही विषय, एकही आशय, अथवा एकही प्रवाह है, ऐसा नहीं। तथापि, जैसे कपास का रेशा एक दूसरे में मिलता है, दूसरा तीसरे में और यद्यपि पहिला, तीसरा या पाँचवा, इनका प्रत्यक्ष संबंध न होने पर भी उन सभी रेशों का एक धागा बन जाता है उसी प्रकार विज्ञान संबंधी भिन्न भिन्न दर्शनों का एक परिवार बन जाता है। साहित्य का जब हम विचार करते हैं तो उसमें दर्शन के केवल एकही अंग का संबंध नहीं होता बल्कि दर्शन के इन सभी अंगों से उसका ताल्लुक होता है।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है दर्शनीकरण मानव के अनुभव के सामान्यीकरण की अभिव्यक्ति है, अत: मानव के अनुभव में जैसे जैसे बदल होते जाते हैं उसी प्रकार दर्शन के स्वरूप में भी बदल होते हैं, और इसी प्रकार का बदल सर्जनशील साहित्य में भी होना अनिवार्य है। अत: साहित्य के संदर्भ में जब हम दार्शनिक दृष्टि से सोचने लगते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे सर्जनशील साहित्य का स्वरूप उस युग के दर्शन ही अभिव्यक्ति होती है, और उस युग के दर्शन का स्वरूप उस युग के साहित्य के नियम जैसा, अथवा फॉर्म जैसा होता है। यदि खेल का दृष्टांन्त लिया जाय, तो, उस खेल का दर्शन है. और उस खेलका प्रस्तुतिकरण उसकी कला है। वह खेल और उसके नियम ये दोनो हमारे (मानवनिर्मित) विज्ञान के आधार हैं। विज्ञान की प्रणाली के अनुसार जो दार्शनिक मानदण्ड हम निर्माण करते हैं वे एक प्रकार खेल की या उसके नियम की ही परीक्षा है। यही समीक्षा या आलोचना है।

आधुनिक जगत में जो साहित्य या समीक्षा का विकास हुआ है वह या तो दार्शनिक परिकल्पना की (Speculation) ही एक मूर्त अभिव्यक्ति है, अथवा विश्लेषक दर्शन का प्रयोग (Application) है, द्वितीय महायुद्ध के बाद मनुष्य के दृष्टिकोण में जो उलट पलट हुई इससे एक बात स्पष्ट हो गयी कि जिसको

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हम नीति, मूल्य, तत्व आदि शब्दों से संबोधित करते हैं, उससे मनुष्य का अस्तित्व अधिक महत्वपूर्ण है। न वह केवल उसे अधिक प्रिय है बल्कि वह उसकी सभी क्रियाओं का तथा संस्कृति का अधिष्ठान भी है। हवा में पतंग उडाने के लिए उसे अस्तित्व के अधिष्ठान की जमीन पर खड़ा रहने की आवश्यकता है। न्याय मानवता, मूल्य आदि संकल्पनाओं का विचार करने में यद्यपि मनुष्य रुचि लेता है, तथापि इस प्रकार की अस्तित्वरहित रुचि केवल रिक्त होगी। आधुनिक मानव को अनुभव द्वारा यह ज्ञात होनेसे वह अस्तित्व के विशेष पहलू उवकी घबराहट, उसकी भीरुता, उसका सचमुच और संपूर्ण जीवन, आदि प्रवृत्ति के प्रति पहले से अधिक ध्यान देने लगा। और इस दृष्टि से उसका साहित्य तथा दर्शन ये दोनों भी फलित हुए।

यूरोप में इस प्रकार का साहित्य और इस प्रकार का दर्शन सच्चे अनुभव के कारण प्राप्त हुआ। उससे उसकी आदर्श की तसवीर टूट गयी। एक दृष्टि से यह दार्शनिक चीज थी, किंतु इभीसे एक नया जीवंत साहित्य आधुनिक मानव को प्राप्त हुआ। जब साहित्य का अधिष्ठान अनुभव पर होता है तो उसका अनुभव, उसका कलानुभव समाज के अंगप्रत्यंग तक पहुंचता है। इसीलिए साहित्यकार को केवल, काल्पनिक, दार्शनिक, किताबी दृष्टि अपनाने से काम नहीं चलेगा। दार्शनिक जिस प्रकार अनुभवसे दर्शन को निचोडता है, उसी प्रकार साहित्यकार को भी अनुभव को निचोड़कर साहित्य निर्मिति करनी चाहिए। उसका साहित्य, उसकी स्वतंत्र कृति होनी चाहिए, न कि उसके दर्शन की छाया, यद्यपि साहित्य की स्वतंत्र कृति, और उस युग का दर्शन ये बिंब प्रतिबिंब के समान दिखाई देंगे : दुर्भाग्य से भारत में आधुनिक युग में जिस प्रकार का साहित्य निर्माण हो रहा है, वह केवल युरोपीय दर्शन के स्वप्नरंजनात्मक भ्रष्ट अनुकरण से हो रहा है। उसमें अनुभव की पृष्ठभूमि नहीं है। यद्यपि साहित्य में दार्शनिक दृष्टि आवश्यक है, तथापि प्रत्यक्ष अनुभूति साहित्य की जीवंतता के लिए, आत्मा के लिए, अधिक आवश्यक है। जब मनुष्य की बोध सीमा छोटी होती है तब वह ग्रंथों का कीड़ा होता है। उधार ली हुई दार्शनिक दृष्टि केवल ग्रंथों के कीडों की दृष्टि होगी। साहित्य सर्जन के लिए सहज दार्शनिक दृष्टि जरूरी है। न केवल दर्शन से उधार ली हुई दृष्टि। यदि दार्शनिक दृष्टि अर्थात् दर्शन के अध्ययन से मिलनेवाली दृष्टि आवश्यक है तो वह निर्मित साहित्य किस मूल्य का है उसके मूल्यांकन के तत्त्व कौनसे होने चाहिए, यह जानने के लिए। अनुभव को निचोडकर उससे उसके सामान्य नियम निकालना दर्शन का एक कार्य है, उसी प्रकार साहित्य के मूल्यांकन में साहित्य के भिन्न भिन्न भावों को कौन से सामान्य नियमों का आधार है, यह देखना मूल्यांकन अथवा समीक्षा का कार्य है।

सुरेंद्र बारलिंगे
संपादक, परामर्श
पुणे विद्यापीठ, पुणे.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कविता का होना

A Poem should not mean But be

—आर्चिबाल्ड मक्लीश, 'आर्ज पोएटिका'

— १ —

अब आप कहेंगे, भई 'कविता का होना' शीर्षक क्यों? 'कविता का अस्तित्व' या उससे भी अधिक अच्छा 'कविता की सत्ता' या इसी प्रकार का शीर्षक अधिक गरिमामय नहीं दिखाई देता? उत्तर यह होगा कि यह लेख उस शीर्षक के लिए शोभा न देता, क्योंकि उस प्रकार के गहन दर्शन में हमें घुसपैंठ नहीं करनी है। हमें अपने ही से कुछ पहेलियाँ बुझानी हैं। ऐसी पहेलियाँ जो प्राचीन काल के ग्रीक लोगों को पसंद थीं— तत्त्वस्पर्शी पहेलियों की भाँति। उदाहरण के लिए- एक नगर-राज्य में इतिहास में प्रख्यात एक जहाज़ था। हर साल उसकी एक-एक तख्ती बड़े समारोहपूर्वक निकाल दिया करते थे और उसके स्थान पर दूसरी लगाया करते थे। इस प्रकार यथावकाश ऐसी स्थिति आए कि उस जहाज़ की समस्त पुरानी लकड़ी के स्थान पर नयी लकड़ी आ जाए अब बताइए कि यह सब होने पर वह जहाज़ वही जहाज़ रह गया? अगर नहीं तो नये जहाज़ का 'होना' कबसे शुरू हो गया? 'यह प्रश्न बचकाना है', 'इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट ही है' इस प्रकार के गरिष्ठ और/या आलसी भागने के बहाने बंद करके हमें खिलाड़ी की जिद से समरभूमि में उतरना है और कविता के होने को लेकर माथापच्ची करनी है। यह करते समय हमारा उद्देश्य सत्तामीमांसा का (ऑन्टोलाजिकल) प्रमेय प्रस्थापित करना नहीं होगा— अर्थात् हमारी इस कोशिश से सत्तामीमांसक को कुछ बोध मिला या उसके मन में हमें कुछ बोध देने की इच्छा पैदा हुई तो हम ना नहीं करेंगे। हमारा उद्देश्य इतने तक ही सीमित है कि साहित्य विमर्शक के रास्ते से कुछ अड़चनें दूर की जा सकें और उसके कूट प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए वैचारिक बैठक तैयार की जा सकें। यह सही है कि इतने भर के लिए साहित्य विमर्शक के कूट प्रश्न एवं उसकी जोखिम हम गोद ले रहे हैं। फिर अगर कोई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस सीमित वैचारिक कार्य को बच्चे जनने की प्रक्रिया में दाई की सहायता या ऐसा ही कुछ कहकर कोई चिढ़ाए तो उसमें खेद मानने का कोई कारण नहीं है।

जब हम यह कथन करते हैं कि 'यह कविता है' तो सुननेवाले को स्थूल रूप में तीन प्रकार से उलझन में डालते हैं :

१. कौन-सी कसौटियाँ लगाकर हम यह पहचानते हैं कि 'क्ष' जो कविता है वही 'य' भी है ? अमुक कविता वही है यह कैसे तय होता है ? इसे हम कविता के स्व-त्व का प्रश्न ही कहेंगे।

२. कविता होती है वह खोजने पर कहाँ मिलती है ? आखिर कविता है किस गाँव की ? अमुक कविता अस्तित्व में है, मतलब निश्चित क्या है ? कविता का अंत होता है क्या ? इसे हम कविता के अस्ति-त्व का या अस्तित्व-कक्षा का प्रश्न कहेंगे।

३. हमें जो भावित करती है वह कविता ही है, यह हम किस आधार पर कहते हैं ? एक ओर क्ष को कविता की कोटि में रखना, क्ष का कविता के रूप में वर्गीकरण करना और दूसरी ओर क्ष को कविता के रूप में परखना, मूल्यांकित करना ये क्या दो भिन्न कार्य हैं ? इसे हम धर्मि-त्व का प्रश्न कहेंगे।

कविता के 'होतापन' के प्रश्न में इन तीन प्रश्नों की मालिका छिपी हुई है।

— २ —

कविता-प्रतीति की घटना

आरंभ में ही एक स्पष्टीकरण करके फिर आगे बढ़ना उचित होगा। कोई कविता और उसकी प्रतीति इन में फर्क करना ज़रूरी है। प्रतीति स्थलकालविशिष्ट घटना है— कविता की प्रतीति का अर्थ है वह कविता अमुक व्यक्ति को अमुक समय पर भावित हुई। अब यह सहज संभव है कि अनेक लोगों को यह प्रतीति कभी होती ही नहीं है— उनके बारे में फिलहाल हमें कुछ करना—धरना नहीं है हमारे लिए मुद्दे की बात यह है कि कविताप्रतीति की घटना जब किसी के बारे में घटित होती है वह निश्चित किस बात की प्रतीति होती है? व्यक्ति निश्चित रूप में किसका सामना करता है ? हमें इसका पता लगाना है। यह पता लगाते समय सहज ध्यान में आनेवाली बात है— मेरे जीवन में जो अनेक कविताप्रतीति की घटनाएँ घटित हुई हैं उनकी मैं मालिका गूँथ सकता हूँ— क्ष कविता की प्रतीति इतनी बार हुई, या कि इस समय हुई, इस तरह मैं हिसाब रख सकता हूँ। मतलब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह कि जिस तरह विशिष्ट सिक्का पुनः पुनः हमारे हाथ से गुजर जाए, विशिष्ट छाता समय-समय पर खोल दिया जाए, विशिष्ट प्रेयसी के साथ बीच-बीच में मुलाकात हो जाए, विशिष्ट दंडसंहिता का पुनः पुनः आधार लिया जाए, उस प्रकार विशिष्ट कविता पुनः पुनः हमें प्रतीत होती है। ऐसी घटनाओं का रूप चायपान, धूम्रपान, लड़ाई, पत्रलेखन जैसी घटनाओं से अलग होता है। कैसे अलग है? वही विशिष्ट कविता मुझे अनेक बार प्रतीत हो सकती है या मेरे अलावा अन्य व्यक्तियों को भी प्रतीत हो सकती है– कविता प्रतीति की घटनाएँ अनेक होती हैं लेकिन कविता एक ही। प्रत्युत् हम यह कह नहीं सकते कि चायपान अनेक बार हुआ लेकिन चाय वही थी। और तो और, चाय के एक के बाद एक लिये गये दो घूँट भी भिन्न चाय के होते हैं। चिट्ठी-लेखन की हर घटना नयी चिट्ठी को जन्म देती है। इनमें से कुछ चिट्ठियाँ पेटी में डाल दी जाएँगी, कुछ सीधे कचेरे की पेटी में जाएँगी। अब तक उल्लिखित घटनाओं में– फिर वे कविता प्रतीति की हों या चायपान जैसी हों– एक समान धर्म है। वह यह है कि ये सब घटनाएँ मानवीय घटनाएँ हैं। उनके मानवीय संदर्भ को बिना समझे उन घटनाओं का प्राथमिक परिचय तक नहीं हो सकता। इस हर घटना में मानवी पात्र हैं और वे अपनी मानवीय भूमिकाएँ अदा कर रहे हैं। मोटर के साथ टकराना, धूप में बैठना, या बरसात में भीगना हो या इन जैसी घटनाओं में भी मानवी पात्रों का आना संभव है लेकिन उनके स्थान पर बिल्ली या लौंदे भी चल सकते हैं।

मानवीय भूमिका

जिनको हम कविता की प्रतीति कह सकते हैं ऐसी घटनाओं में कौन-सी खास मानवीय भूमिकाएँ अदा करनी पड़ती हैं? हमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए– एक तो यह कि यहाँ जो गिनती चल रही है वह आदमियों की न होकर बिल्लों की है। दूसरी बात यह कि हमारे विश्लेषण का विषय कविता-निर्मिति न होकर कविता-प्रतीति की घटना है। इस साल के बाद एक भी नयी कविता नहीं निर्मित की जाय तो भी कविता-प्रतीति की घटनाओं का जारी रहना शक्य है। कविता-प्रतीति के लिए केवल कविता की उपस्थिति मात्र से काम नहीं चलता। कवि, प्रस्तुतकर्ता, पाठक (या श्रोता), और विमर्शक– इतने लोग आवश्यक होते हैं। किसी कविता के हिस्से में यह भाग्य बार-बार आएगा। किसी साल यह भाग्य बार-बार आएगा, कोई ऐसा समय भी आएगा कि कोई उसकी ओर झाँककर भी नहीं देखेगा। ऐसी चरम स्थिति आने के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह कविता जिस भाषा में लिखी गयी है वह भाषा बोलनेवाले पृथ्वी पर से एकबारगी नष्ट ही हो जाएँ। विशिष्ट कविता की प्रतीति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की बात छोड़ दीजिए, कुल मिलाकर किसी समाज में कविता को कितना कितना सम्मान दिया जाता है इसके बारे में भी बार-बार आरोह-अवरोह हो सकते हैं। 'दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम' जैसी स्थिति कम-अज़-कम कविता के बारे में सही नहीं। पूर्वोल्लिखित चार भूमिकाओं के बारे में बारीकी से विचार किया जाय तो ध्यान में आएगा कि ये चारों भूमिकाएँ अर्थात चार व्यक्ति मानकर चलने का कोई कारण नहीं है। अलग-अलग पर्याय हो सकते हैं और प्रत्यक्ष में दिखाई भी देंगे। कवि स्वयं पाठक होगा, प्रस्तुतिकरण का कार्य स्वयं पाठक करेगा, इ.। लेकिन ऐसा निश्चित होगा ही और एक व्यक्ति के पास दो या अधिक भूमिकाएँ आ जाएँगी ही, ऐसा भी नहीं है। उदाहरणार्थ, किसी प्रूफ पढ़नेवाले के पास भी कोई कविता आ सकती है। लेकिन इस पाठक को कविता की प्रतीति शायद नहीं होगी। और यह स्थिति उस बेचारे प्रूफरीडर की ही नहीं, प्राध्यापक-महोदय की भी हो सकती है। कुछ खास लोग विमर्शक के रूप में विशेष अभिज्ञता प्राप्त कर सकते हैं परंतु अन्यों को भी शायद अपने लिये विनम्र भाव से ही क्यों न हो, विमर्शक के आसन पर बैठना ही पड़ता है। अगर वे विमर्शक नहीं हुए तो उनका कविता-पठन पठन ही होगा, कविता की प्रतीति के स्तर को वह छू नहीं सकेगा। कविता-प्रतीति की घटना सिद्ध होने के लिए आवश्यक भूमिकाओं में मैं ने विमर्शक की गिनती क्यों की इसका रहस्य अब खुलेगा। (जाते जाते यह भी कहना चाहिए कि कविता-निर्मिति की घटना के घटित होने की प्रक्रिया में कवि को अपना ही विमर्शक होना पड़ता है। उस समय प्रस्तुतिकर्ता और पाठक ये दो भूमिकाएँ कवि नहीं अपना सकता। क्यों कि कविता सम्प्रेषित होने में अभी देर है- जो होती हैं वे केवल रिहिर्सलें।) एकाध कविता के प्रस्तुति-कर्तृत्व, पाठकत्व, विमर्शकत्व पर अधिकार बतानेवाले अनेक हो सकते हैं परंतु उसके जनकत्व का सम्मान प्राय: किसी एक को ही मिलेगा। अधिक निश्चित बताना हो तो अमुक कविता का जनक, यह भूमिका केवल एक ही हो सकती है- फिर वह कविता लोक-कविता भी हो तो भी हर्ज नहीं। एकाध कविता की निर्मिति में एक से अधिक व्यक्ति भाग ले सकते हैं। लेकिन उसके पाठक-विमर्शक को यह मालूम होने का कोई कारण नहीं है। और मान लीजिए कि मालूम है तो भी पाठक-विमर्शक के लिए कविता एक ही कविता-जनक का आविष्कार है। उसके सामने एक ही कवि होता है। भारत के लोग अपने लिए राष्ट्रगीत या संविधान स्वीकार कर सकते हैं लेकिन कविता निर्मिति नहीं कर सकेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कविता का वाहन

कविता और कविता-प्रतीति में अंतर है, यह ध्यान में लेनेपर एक अन्य अंतर भी दिखता है। वह है कविता और कविता के वाहन के बीच का अंतर। इन दोनों का कविता-प्रतीति की घटना में स्थान है। कविता-निर्मिति की घटना यद्यपि कविता-प्रतीति से अलग है फिर भी कविता का वाहन वैसे अलग नहीं पड़ता। कविता-वाहन की बात करने से मुख्यतः इंगित होता है– प्रस्तुति कर्ता के द्वारा प्रस्तुत कविता का एक प्रयोग– यह प्रयोग मुँह के द्वारा सुनायी पड़ेगा या मूक होगा। उसी तरह मूक वा प्रस्फुट प्रयोग स्मृति पर निर्भर होकर किया जाएगा या किसी आलेख की सहायता से। कविता-वाहन में आलेख का भी समावेश होता है– आलेख से मतलब है कागज़ पर स्याही के चिन्हों द्वारा अंकित कविता का नोटेशन या फिर रेकार्ड पर ध्वनि-मुद्रण। लेकिन यह आलेख– यह मानवनिर्मित जड़ वस्तु कविता नहीं होती– कविता की सभी लिखित वा मुद्रित प्रतियाँ नष्ट कर दी जाएँ तो भी कविता का कुछ बिगड़ेगा ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत, इस प्रकार के बिना आलेख की सहायता के भी एकाध कँठगत कविता सैकडों वर्षों तक श्रोताओं को प्रतीत होती रहेगी, भावित करती रहेगी। जो बात आलेख की वही प्रयोग की। प्रयोग और प्रतीति का सम्बध अटूट नहीं होता। कभी कविता प्रस्तुत किये जानेपर भी प्रतीत नहीं होगी– कविता के सभी प्रयोग सफल नहीं होते। उलटे बिना प्रयोग के भी कविता-प्रतीति हो सकती है। अब यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एकाध पाठक को वह प्रतीति होती है तो उसके सामने एकाध बार तो कविता प्रस्तुत होना आवश्यक है और इस प्रस्तुतिकरण की आवृत्ति पुनःप्रत्यय के लिए कभी कभी करनी पड़ेगी। लेकिन यह प्रतीति केवल उस सफल प्रयोग में सुरक्षित है ऐसा नहीं, प्रयोग के बाद जो कुछ प्राप्त होता है उसका भी बड़ा हाथ उसमें रहता है। क्यों कि एक पाठक के कविता पढ़नेपर पीछे मुड़कर उसका चिंतन किये बिना, उसको मन में संजोये बिना, उसकी प्रतीति की पूर्णता सचमुच नहीं होती। फिर कविता का मूक प्रयोग तक न होने पर उसका पुनः प्रत्यय मिलता है–ऐसा होने पर हम कहते हैं, कविता ने हमें पागल कर दिया। (संस्कृत साहित्यमीमांसा में जिसे चर्वण कहते हैं वह यही अनुभव तो नहीं है?) "हमें साहित्य का आकलन होता है, हम साहित्य को आत्मसात करते हैं, अपनाते हैं वह केवल उसी अवधि में नहीं जब कि हमारे सामने 'पन्नों पर लिखे हुए शब्द' होते हैं–बाद में भी, जब कि हम किसी बात में उलझे हुए होते हैं कोई भाषण सुनते हैं (या कान पर से गुजरने देते हैं), मित्र के साथ वार्तालाप करते हैं– संक्षेप में जब जब पढ़ी हुई कविता को हम मन में जागृत कर सँजोते रहते हैं उस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवधि में भी।"[१] संक्षेप में कविता और कविता का वाहन ये एक बात नहीं है।

वाहन के संदर्भ में साहित्येतर कलाओं के सम्बन्ध में क्या स्थिति है यह तुलना के लिए देखना लाभदायी होगा। चित्र, शिल्पाकृति, वास्तुकृति– ये वाहन-वस्तु से बहुत जुड़ी हुई हैं– कलाकार द्वारा निर्मित ये जड वस्तुएँ नष्ट हो जाएँ तो सब खतम हो जाता है। किसी चित्र की प्रतिकृति कलात्मक ढंगसे की जाय तो वह नकलची प्रशंसा का भागी बन जाता है– वह नाहक नहीं है। प्रतिकृति बनाने की क्रिया आंशिक रूप में मूल निर्मिति की क्रिया का गुण लेकर आती है। लेकिन कविता–आलेख की प्रतिकृति करने पर, मतलब कि कविता किसी के द्वारा उतारी जाने पर, उस नकलची में कोई कवित्व-शक्ति का गुण नहीं देखेगा। अधिक से अधिक हम उसे वाङ्मय चौर्य का श्रेय दे सकते हैं! संगीतादि जो प्रयोगजीवी कलाएँ हैं वे प्रयोग से सम्बद्ध होती हैं। इस प्रकार की कलाकृतियों के प्रस्तुतिकरण में भी कम-अधिक सीढ़ियाँ हो सकती हैं। किसी बजवय्ये का त्यागराज या मोत्सार्ट जैसे रचनाकार द्वारा निर्मित रचना या बंदिश प्रस्तुत करना और किसी बजवय्ये का किसी एक राग का विस्तार कर दिखाना दो अलग बातें हैं। दूसरे प्रयोग में निर्मिति के साथ निकटता बहुत अधिक है।

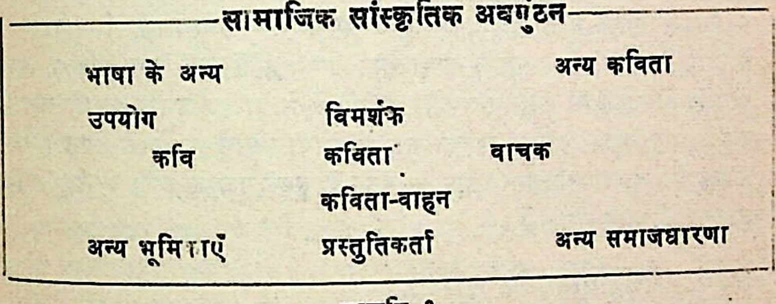

आकृति १

कविता निर्मिति और कविता-प्रतीति

सामाजिक–सांस्कृतिक अवगुंठन

हमने देखा कि कविता-प्रतीति की कोई घटना लें तो उसमें कविता, पूर्वोक्त चार मानवीय भूमिकाएँ, और कविता-वाहन (जो कि कविता-प्रस्तुतिकरण और अगर आवश्यक हो तो कविता-आलेख मिलकर बनता है) इतनी चीजें समाविष्ट रहती हैं। एक और घटक के उल्लेख के बिना यह चित्र पूरा नहीं होगा। वह घटक

१. एल. सी. नाइट्स् १९५९, प्रस्तावना, पूरे संदर्भ निबंध के अंत में दिये हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है उस प्रतीति को घेरनेवाली सामाजिक सांस्कृतिक अवगुंठन। इस में सब आ जाता है–समाज का जीवनप्रवाह, विशिष्ट ऐतिहासिक कालखण्ड में प्रचलित विविध सामाजिक भूमिकाओं और सांस्कृतिक संकेतों का उस प्रतीति को मिला हुआ पुट (देखिए आकृति १), यह समस्त अवगुंठन कविता प्रतीति की घटना में विशेषत: दो प्रकार से अपना परिचय देता है– कविता की भाषाके रूपमें और समाज की साहित्यविषयक धारणा के रूप में :

अवगुंठन–कविता की भाषा

किसी ने कहा है कि मूर्ति बनाना क्या है ? ऊबड़खाबड़ शिला में पहले से ही वर्तमान शिल्पाकृति के आसपास का फालतू पत्थर फोड़कर हौलेसे उसे बाहर निकालना। अॅरिस्टाटल के 'मेटाफिजिक्स' के एक वाक्य में इस कल्पना का उद्गम दिखता है (मेटाफिजिक्स, १०१७ बी ७)। अगर इसको कविता पर हूबहू लागू करना हो तो इस प्रकार कहना पड़ेगा– अमुक एक भाषा की अमुक कविता क्या है ? उस भाषा में व्याकरणिक व्यवस्था के अनुसार सिद्ध अनगिनत वाक्यों में से चुना गया एक महावाक्य। जिस तरह विशिष्ट गठन के उस शिलाखंड से अवगुंठित वह मूर्ति या शिल्पाकृति पहले से ही वर्तमान थी, उसी प्रकार कविता की भाषा उस कविता को पहले से ही ही धारण किये हुए थी। मुझे आशा है कि कलाकृतियों के द्रव्य के बारेमें किए गये ये कथन कोई परमार्थ में नहीं लेगा–कविता, मूर्तियां इत्यादि कलाकृतियों की रचना और प्रतीति में भाषा एवं प्रसार इत्यादि कलाद्रव्यों का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसको कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धति से स्पष्ट करने का प्रयास है। इतना सूचित कर हम अवगुंठन के दूसरे पक्षकी ओर अर्थात् साहित्य-धारणा की ओर चलते हैं।

अवगुंठनसाहित्यविषयक धारणा :

समाज की साहित्यविषयक धारणा समाज की संस्कृति एवं संचित का एक भाग होती है। उसका महत्त्व प्रस्तुत संदर्भ में अनन्यसाधारण है। साहित्यधारणा ललितकलाविषयक धारणा का भाग है, कला-धारणा आस्वाद-धारणा का भाग है, आस्वाद-धारणा कुल संस्कृति का भाग है। संस्कृति के कोश में समाज के घटकों के आचरण का नियमन होता है। यह नियमन संकेतों के आधार से होता है। इन संकेतों के छोटे-बडे बंध, उपबंध होते हैं। आस्वाद-धारणा जिसका अभी उल्लेख किया, वह भी इसी प्रकार संकेतों का बंध होता है-विशिष्ट समाज में कुछ चीजें आस्वाद्य-वस्तुएं (एस्थेटिक ऑब्जेक्ट्स्) मानी जाती हैं। इन आस्वाद-वस्तुओं का आस्वाद किन पद्धतियों से लिया जाय यह उस समाज की आस्वाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'विषयक धारणाओं से निश्चित होता है ।[१] आस्वाद्य-वस्तुओं में जो ललितकृतियाँ सिद्ध हो जाती हैं उनके आकलन को कला-धारणा कहते हैं । कलाकृतियों में जो साहित्य-कृतियाँ सिद्ध हो जाती हैं उनके आकलन को साहित्य-धारणा कहते हैं । यह विवेचन कुछ उदाहरणों के साथ स्पष्ट करना आवश्यक है ।

एक स्थूल-सा उदाहरण ले लें । जापानी समाज का एक आस्वादविषयक संकेत लें । जापान में एक प्रकृति–सौंदर्य से समृद्ध प्रख्यात स्थान पर अगर आप जाएँगे तो आपको यह बताया जायगा कि दृश्य का पूरापूरा आनंद लूटना हो तो उसकी ओर पीठ फेर कर नीचे झुको और अपने फैले हुए पैरों के बीचसे देखो । अमेरिकन समाज को कलाकृतियों की खुली चर्चा पसन्द नहीं । वहाँ का सभ्य संकेत यह कहना है, "मुझे कला के बारे में कुछ नहीं मालूम, लेकिन मुझे क्या पसन्द है, यह अच्छी तरह मालूम है ।" किसी समाज में हस्ताक्षर के बारे में विशेष अपेक्षा होती है– अगर आपको कुछ लिखेंगे तो इस तरह लिखिए कि उसमें से एक अस्वाद्य-वस्तु पैदा हो जाय । अच्छे अंकन की आशंसा होती है और सब पढेलिखे लोग उसका अनुकरण करते हैं । रुआला नामक भटकनेवाली अरब जमात में काफी के बीजों को कूटने की प्रक्रिया को प्रतिष्ठित कला माना जाता है । घर का गुलाम जब यह काम करता है तब उसके खरल के नीचे वाले तल पर और बाजुओं पर बट्टे के तालबद्ध आघात किस तरह होते हैं, यह सुनकर पडोसी उसकी संगीत की क्षमता का अन्दाज करते हैं । ग्यारहवीं शताब्दी में एक चीनी ग्रंथ में कलाओं की सूची इसप्रकार दी गयी है : विधिसंस्कार, संगीत, धनुर्विद्या, रथविद्या, चित्रकला (लेखनकला इसीमें समाविष्ट है और पद्यरचना । विशिष्ट कालखंड में एवं सामाजिक परिसर में जो आस्वाद–धारणा प्रचलित होती है उसका देशकाल के आस्वाद–जीवन में निर्णायक स्थान रहता है । इन प्राथमिक बातों को हम इधर भूल गये हैं । इसके दो कारण हैं। एक, पाश्चात्यों ने सप्त कलाओं का जो परिगणन किया है (वास्तु, शिल्प, चित्र, संगीत, नृत्य, नाटच, साहित्य) उसका धीरे धीरे होनेवाला सार्वत्रिक स्वीकार ।[३] दूसरे, बीसवीं सदी में

२ 'आस्वाद्य' एक सर्वसमावेशक विशेषण मान लिया जाय–सुंदर, भव्य, सुगठित-हास्यास्पद इत्यादि एवं उनके विपरीत कुरूप इत्यादि सभी विशेषण उसमें समाविष्ट होते हैं । आस्वादधारणा के ही दो महत्त्वपूर्ण आयाम हैं– कलापरंपरा और अभिरुचि । एस्थेटिक्स के लिए सौंदर्यशास्त्र जैसा संकरा शब्द न इस्तेमाल कर 'आस्वाद्यवस्तुमीमांसा' कहा जाय । कलामीमांसा (थिअरी ऑव आर्ट) आस्वाद्यवस्तुमीमांसा का ही एक महत्त्वपूर्ण उपांग है ।

३. सुनता हूँ कि फाईन आर्टस् शब्द के लिए प्रतिशब्द के रूप में 'ललितकला' कम–अज–कम मराठी में सर्वप्रथम श्री कृ. कोल्हटकर ने इस्तेमाल किया । चित्रपट यह प्रयोगजीवी ललितकला पारंपरिक सूची में समाविष्ट नहीं थी ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कलाजीवन में होनेवाला वैश्विक आवागमन। पहली एलिज़ाबेद रानी के समय किसी अंग्रेज द्वारा लिखे नाटकों का आज के भारतीय रसिक बिना हिचकिचाहट के आस्वाद लेते हैं। कोई भारतीय बजवैय्या भारतीय संगीत पाश्चात्यों को सुनाकर मुग्ध करता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये घटनाएं मानवी इतिहास में हाल ही की हैं। इस नयी प्रवृत्ति को आंद्रे माल्रो नामक फ्रेंच विचारक ने संग्रहालयलक्षी प्रवृत्ति (म्यूझिअम अप्रोच) कहा है। किसी कविता की निर्मिति जिस सामाजिक कोश में या कालखंड में होती है, सामान्यतः उसी कोश एवं कालखंड में उसकी प्रतीति भी होती है। बहुसंख्यक कविताओं के बारे में 'सामान्यतः' न कह कर 'हमेशा के लिये' कहना अनुचित नहीं होगा। किसी कविता को वैश्विक कवितासंग्रहालय में रखकर उसकी ओर देखना यह शौक की बात है। किसी कविता को उत्साह में चैनसे खिलने के लिए दूसरी कविताओं का सान्निध्य पर्याप्त होता है। इसका अनुभव हमें साहित्य पढाते समय होता है– अगर किसी छात्र ने विशेष कविताओं का पठन किया ही नहीं है तो इस स्थिति में उसके द्वारा पढ़ी गयी एकाध कविता के बारे में पूछना कि तुम्हें इसमें क्या अच्छा लग रहा है, नासमझी का काम होगा।

जब कभी कवि (याने जनक–विमर्शक) की भूमिका अदा करनेवाला व्यक्ति और रसिक (याने पाठक–विमर्शक) की भूमिका अदा करनेवाला व्यक्ति दोनों ऐतिहासिक या भौगोलिक या सामाजिक दृष्टि से भिन्न कोश में होंगे तब कविता की प्रतीति होना न केवल कठिन है अपितु एक अर्थ में गौण भी है। कोई भारतीय प्राध्यापक शेक्सपिअर के किसी नाटक का मूल संहिता के आधार से आस्वाद लेता है तो यह बात उसी प्रकार होती जिस प्रकार किसी समय किसी एक देश में जन्मे कवि और उसके रसिकों के बीच जमी बेहतरीन महफिल में किसी बाहरी व्यक्ति का चुपचाप जाकर शामिल हो जाना। तिसपर अगर वह यह भी अभिमान से कहता हो कि, "आजकल के देशी साहित्य में मुझे कुछ आस्था नहीं है–" तो समझ लीजिए वह आत्मवंचना कर रहा है। उसका शेक्सपिअर का आस्वाद अगर सच्चा है तो वह आस्वाद मुख्य फसल पैदा होने के बाद निकाली गयी फुटकर फसल होगी।

साहित्य के क्षेत्र में परंपरा का महत्त्व बताते समय कहा जाता है कि सभी पुरानी कविताओं का मिलकर कालखंड को लाँघनेवाली एक समष्टि होती है; एक एक नयी कविता उसमें आकर मिल जाती है, इसके मिलने पर पूर्ववर्ती समष्टि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में कुछ बदल होकर सूक्ष्म ही क्यों न हो परिवर्तन घटित होता है,[४] यहां 'सभी पुरानी कविताएँ' ये शब्द भी तरतमभाव से ग्रहण करने चाहिए— सभी पुरानी कविताएँ याने जिस साहित्य-धारणा से वह नयी कविता जन्म लेकर प्रतीत हो रही है, उस समकालीन धारणा में जो पुरानी कविताएँ अब भी पढ़ी जाती हैं और पाठकों को भावित होती हैं बस वे और उतनी ही कविताएँ। जिनका कविता-रूप भुला दिया गया है उन्हें उस पीढ़ी के साहित्यिक धरोहर में स्थान नहीं है। हर पीढी को अपनी 'गोल्डन ट्रेज़री' नये ढंग से संपादित करनी पडती है। म्युज़िअम-लक्षी परंपरा किसी समाज में उत्पन्न होना अब तक सामने रखे गये विचार का अपवाद नहीं है। क्योंकि, विशिष्ट समाजकोश में जितना ऐतिहासिक और अन्तर्राष्ट्रीय एहसास घुला हुआ होगा केवल उतनी ही सार्वदेशिक या सार्वकालिक परंपरा अंकुरित होती है। सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता को विशिष्ट कोश में अगर स्थान मिले तो ही वे रसिक को भावित करने की क्षमता रखती है। नहीं तो वे खोखली बातें जान पडती हैं।

काल और परिवर्तन का परिमाण

कविता के भुला दिये जाने की बात निकली ही है तो हमारे दार्शनिक मित्रों के मन में सहज झाँकनेवाला प्रश्न यहीं उपस्थित करें। वह है—क्या कविता का होना काल और परिवर्तन के परिमाण से घिरा हुआ रहता है? या कविता इन बातों से परे है? कविता की निर्मिति, प्रस्तुतिकरण, प्रतीति ये देशकालविशिष्ट घटनाएँ हैं, इसे मान्य करने में कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए—पानीपत की लड़ाई जैसी घटनाओं की भाँति उसका जातक बनाया जा सकता है। इन क्षणिक घटनाओं के बीच जो स्थिर रहती है वह कविता—इस अर्थ में उसे कालनिरपेक्ष कहा जा सकता है। गोएटे 'शाकुंतल' को लेकर नाचने लगा, यह घटित अमुक देश में अमुक स्थान में घटित हुआ लेकिन 'शाकुंतल' कालातीत है। परतु त्रिकोण की संकल्पना जिस अर्थ में कालातीत कही जाती है उस अर्थ में वह कालातीत नहीं है। असल में कविता की अवस्था भाषा जैसी ही होती है। कोई

४." What happens when a new work of art is created is something that happens simultaneously to all the works of art which preceded it. The existing monuments form an ideal order among themselves, which is modified by the introduction of the new (the really new) work of art among them." टी. एस्. एलियट 1918. आधुनिक साहित्यमीमांसा में एक बहुचर्चित कथन।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषा उसी समय तक जीवन्त होती है जब तक उसे बोलनेवाले कम-से-कम दो व्यक्ति जीवित हैं। भाषाएँ नष्ट होती हैं और बहुत सारी कविताएँ भी काल के प्रवाह में नष्ट हो जाती हैं। लेकिन कविता या भाषा की 'मृत्यु' सदा के लिए नहीं होती, उनका पुनरुज्जीवन हो सकता है। प्राचीन इजिप्शियन भाषा की कविता सैंकडों वर्षों तक अनछुई रह गयी थीं। आज हम उन्हें पढ़ सकते हैं, पढ़ते भी हैं। कविता के जन्म और भाषा के 'जन्म' में फर्क है-कविता का 'जन्मकाल' निश्चित किया जा सकता है, भाषा का नहीं। अगर भाषा एक आदतों की बुनावट भी मानें तो वह न केवल काल प्रवाह में टिकी रहती है अपितु बदलती भी है-आखिर वह इतनी बदलती है कि उसकी पहचान ही नहीं होती। (याने ग्रीकों के जहाज की भाँति भाषा के सत्त्व का प्रश्न उपस्थित होता है। खैर) भाषा की तरह कविता में 'परिवर्तन' हो सकता है क्या? समाज की साहित्यविषयक धारणाओं का निश्चय ही इतिहास होता है, उन धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है—एकाध कविता का ऐसा इतिहास होता है क्या? बाह्यतः वह निश्चित ही होता है। हम देखते हैं कि कविता के अच्छे बुरे दिन होते हैं। वह भुलायी जाती है, आशंसित होता है, रौंदी जाती है, तालसुर में बाँध दी जाती है, उद्धृत की जाती है, राष्ट्रगीत के स्थान पर विराजित की जाती है, पाठचक्रम में शामिल की जाती हैं, मन की राहत के लिए काम में लायी जाती है इ.। लेकिन क्या वह कविता आन्तरिक रूप में बदल जाती है? अगर हम आग्रहपूर्वक मानें कि वह परिवर्तनशील है तो इस कथन का यह अर्थ निष्पन्न होता है कि एक कविता दो प्रतीतियों के बीच से गुजरती है तब उन दो कविता-प्रतीतियों के प्रसंगों में जो जो फर्क दिखाई देंगे उन्हें उस कविता में स्थान ही नहीं होता-- ये सभी फर्क प्रतीति की घटना में अन्तर्भूत प्रस्तुतिकर्ता, वाहन इत्यादि अन्य घटकों के खाते में ही रखने पडेंगे। इसके आगे चलकर हम यह भी मानते हैं कि हर कविता का एक ही ठीक अन्वयार्थ होता है। उस योग्य या उचित अर्थ के सिवा अगर कोई दूसरे अर्थ निकाले जायँ तो वे कविता में अन्तर्भूत नहीं होतें। वह 'योग्य अर्थ' किस पद्धति से निश्चित करें इसके सम्बन्ध में भी हमें नक्शे बनाने पडेंगे— योग्य अर्थ वह है जो कवि की समसामयिक साहित्य-धारणा की कक्षा में लगाया जायगा और परवर्ती पाठकों को उसे ऐतिहासिक अध्ययन की सहायता से ही पुनः उपलब्ध करना पड़ेगा। एक बार कविता को अपरिवर्तनीय कहा जाय तो इस सिद्धांत के पीछे इस तरह के गृहीतकृत्यों की मालिका खोज निकाली जा सकती है। क्या इस मालिका को हम मोल लें?

कुछ उदाहरण लेकर देखें। रामदासस्वामी की कविता-पंक्तियाँ देखिए (सतरहवीं सदी के मराठी संत-कवि)-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अखंड ऐशी घालमेली। पूर्वापार होत गेला।
आताहि तैशीच चालिली। उत्पत्ति स्थिती॥ २४॥

वनावरी वनचरांची सत्ता। जळावरी जळचरांची सत्ता।
भूमंडळी भूपाळांची सत्ता। येणेंचि न्यायें॥ २५॥

सामर्थ्य आहे चळवळेचें। जो जी करील तयाचें।
परंतु येथें भगवंताचें। अधिष्ठान पाहिजे॥ २६॥

—(नवा) 'दासबोध' गुरुशिष्य संवादरूप ग्रंथ दशक १०, समास ४ 'शिवशक्तिनिरूपण'

इसमें 'चळवळेचें' पद का अर्थ कवि एवं उसके समसामयिकों के सामने इतना भर था– 'हिलने-डोलने के कारण, सिद्ध होनेवाला, हिलने-डोलने में होनेवाला' 'घालमेली', और 'करील' इन पीछे के और आगे के पदों से बँधा वह अर्थ है। यह पूरी ओवी (छंदविशेष) बाद में प्रसिद्ध हो गयी तब 'चळवळेचे' पद का परिवर्तन हुआ 'चळवळीचे' में और विशेष बात यह है कि मराठी में 'चळवळ' शब्द को वह अर्थ चिपक गया जो सामाजिक राजनैतिक अर्थ 'अेजिटेशन' या 'मूव्हमेंट' को अंग्रेजी राज्य में प्राप्त हुआ था। आजकल के अनभिज्ञ पाठक के मन में इस ओवी को पढ़ते समय यही अर्थ उत्पन्न होता है। अभिज्ञ पाठक के बारे में यह शक्यता है कि तत्कालीन और सद्यःकालीन दोनों अर्थ वह मन में रखेगा और उनका परस्पर-अनुप्रवेश होगा, विश्व की अजस्त्र हड़बड़ाहट का चित्र जो कवि ने खींचा है उस में और एक बात उदाहरण के रूप में प्रविष्ट होगी। इसका क्या यह नतीजा निकाला जाय कि कविता में परिवर्तन हुआ है और वह हानिकर न होकर लाभकर है? और अगर इनके सम्बन्ध में कवि शिकायत करेगा तो? कवि रॉबर्ट फ्रॉस्ट को इस में खेद नहीं होता। उलटे वह साफ कहता है "कविता में जितने भी अर्थ निष्पन्न हो सकते हैं उन सबका लाभ कवि को मिलना चाहिए!"

हाँ, कालविपर्यास के फलस्वरूप घुसेड़ दिये गये अर्थ के कारण कविता में हानिकारक परिवर्तन हुआ है, ऐसे कवियों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। टेनिसन की 'एड्विन मॉरिस; ऑ द लेक', (१८५१) शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए।

Then said the fat-faced curate Edward Bull
I take it, God made the woman for the man,
And for the good and increase of the world,
A pretty face is well, and this is well,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

To have a dame indoors that trims us up,
And keeps us tight.

उद्धरण का अंतिम पद देखिए–" घर में होने के कारण जो बंधन रहता है वह ठीक बात है।" –कुछ ऐसा अर्थ फ़ादर बुल को अभिप्रेत है। आज के अंग्रेजी पाठक की दृष्टि से उस पर पानी फिरता है, क्योंकि 'टाईट' शब्द के साथ मनुष्य वाचक विशेष्य है तो शराब की नशा में धुत्त अर्थ भी निकलता है!

कविता की परिवर्तनशीलता की खोज करते समय शब्दार्थ के स्तर पर ही विचार करने का कारण नहीं है। कहा जाता है कि हर युग शेक्सपिअर का नया भाष्य देना चाहता है या ऐसा उसे लगना भी चाहिए। इसका भी इस संदर्भ में विचार करना होगा।

कविता और भाषा दोनों की तुलना करते हुए हम यहाँतक आये कि दोनों बदल सकते हैं। 'जायते', 'अस्ति', 'विनश्यति', 'पुनर्जायते' की तरह 'विपरिणमते' भी दोनों पर लागू है। कविता प्रतीति की घटना का स्वरूप निश्चित करते समय उसमें सामाजिक-संस्कृति के अवगुंठन का हिस्सा आ जाता है और उस घटना में जनक-विमर्शक कवि की भूमिका जितनी ही, पाठक-विमर्शक रसिक की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों को स्वीकार करने पर इस बात को मानने में अडचन नहीं होनी चाहिए कि कविता बदलती है। लेकिन एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि भाषा और कविता दोनों के सम्बन्ध में परिवर्तनशीलता के सिद्धांत में मरोड़ पडती है। भाषा में समय पर बदल होते रहते हैं परंतु एक विशिष्ट काल-बिंदु पर भाषा को देखा जाए तो महसूस होगा कि भाषा स्थिर ही है। उसके सामने निश्चित एवं स्वयंपूर्ण नियमों का पुंज होता है और उनके अनुसार हमें निश्चित कर सकते हैं कि व्याकरण-शुद्ध हिंदी वाक्य कौन-से और हिंदी जैसे या व्याज-हिंदी वाक्य कौन-से। यही अवस्था कविता की ओर विशिष्ट काल-बिंदु पर रहकर देखा जाय तो प्रतीत होती है; तत्कालीन प्रस्तुतिकर्ता, पाठकों, रसिकों के सामने वह निश्चित और स्वयंपूर्ण अभीष्टों का पुंज रखती है और इन अभीष्टों में भी जो अधिक स्थिर होते हैं, उन्हें टालना मुश्किल हो जाता है। मतलब यह है कि कविता केवल अभीष्टों का पुंज नहीं होती–कम अधिक स्थिरपद अभीष्टों का वह सोपान होती है। इस सोपान के सिरे में कविता का कुल विषय और गठन निश्चित होती है और नींव में पंक्ति–पंक्ति की गढन कैसी है, यह तय होता है। किसी प्रेम–कविता में काल-प्रकार में परिवर्तन हो जाए, उसपर नये भाष्य हो जाएँ, तो भी उसका क्रोध–कविता में रूपांतर नहीं होगा। कितनी ही बंदरकूद करने पर भी यह दिखाना संभव नहीं है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि 'टाईट' शब्द को प्राप्त नये अर्थ से टेनिसन की पंक्तियों की हानि न होकर उसमें गहराई आयी है। कविता का तात्कालिक स्वरूप निश्चित और स्वयंपूर्ण होता है। यही विवेक वर्ड्‌ज्वर्थ-संपादकों के सामने था। इस विवेक के अनुसार वर्ड्‌ज्वर्थ की कुछ कविताओं के बारेमें प्रारंभिक पाठों को हम स्वीकार करते हैं और उनके जनक के द्वारा बाद में किये गये संशोधनों को बुढापे का पागलपन मानकर उपेक्षित करते हैं। इससे वे कविताएँ अपरिवर्तित रहती हैं।

किसी कविता के इतिहास मैं जो अच्छी बुरी बातें घटित होती हैं उनमें इस बात का बड़ा महत्त्व है कि वह कविता अलग अलग लोगों को अलग अलग प्रसंगों में भावित होती रहती है। उसका आंतरिक इतिहास प्रतीति की इन घटनाओं के माध्यम से घटित होता रहता है और उसका अस्तित्व, धर्मित्व, स्वत्व उन्हींके माध्यम से उभरता है।

अब हम यहाँ सत्तामीमांसा के क्षेत्र में परोक्ष तत्त्वों की समस्या के पास (द प्रॉब्लेम ऑव ऍब्स्ट्रॅक्शन्स) आ धमके। सामान्यतः हम तीन प्रकार के परोक्ष-अपरोक्ष भाव कल्पित कर सकते हैं: (१) सामान्य-विशेष अथवा धर्म-धर्मी-भाव (और उसी के समान वर्ग-वर्गीय-भाव); (२) समुच्चय-घटक-भाव (उदाहरणार्थ, राष्ट्र और नागरिक, जीव और पेशियाँ) और (३) अभीष्ट-व्यक्त भाव (उदाहरणार्थ भाषा और उसका प्रयोग)। कविता तीसरे प्रकार का परोक्ष-तत्त्व (ऍब्स्ट्रॅक्शन) है, एक समय समय पर व्यक्त होनेवाला अभीष्ट है, अधिक बारीकी से कहना हो तो व्यक्त हो सकनेवाले अभीष्टों का समुच्चय है। इससे अधिक गहराई में जाना दर्शन के जानकारों का काम है- वह उन्हीं के लिए यहीं छोड़ देना उचित होगा।

(क्रमशः)

अशोक रा. केळकर
प्रोफेसर, भाषाविज्ञान विभाग,
डेक्कन कॉलेज, पुणे

अनुवादक : चंद्रकांत बांदिवडेकर
रीडर, हिंदी विभाग, पुणे विद्यापीठ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य और दर्शन

(एक व्यक्तिगत दस्तावेज)

मैं दर्शनशास्त्र का और साहित्यों का (विविध भाषाओं के) विद्यार्थी, इसी क्रम से, रहा हूँ। सत्रह वर्ष का था तब इंदौर क्रिश्चियन कालेज में दर्शन में गांधी और नीट्ज़शे विशेष अध्ययन के विषय थे; योरपीय इतिहास पढ़ानेवाले मेरे प्रोफेसर सब दर्शनों को शंका से देखते थे। नाम से बंगाली ब्राह्मण लगते थे, पर थे ईसाई। धर्मसाधना के विविध रूपों के बारे में संदेह तभी से पैदा हो गया-फिर उसमें अनेक नास्तिक दर्शन पढ़े, बुद्ध और मार्क्स, रसेल और सार्त्र, एम. एन राय और राहुल सांकृत्यायन...

१९३४ से ४३ तक जब हमारा मन इस तरह गोड़ा जा रहा था, जिस भाषा को मैंने अपनी अभिव्यंजना के लिए चुना, उस हिंदी में छायावाद-प्रगतिवाद का द्वंद्व चल रहा था। परवर्ती 'निराला', जैनेंद्र और अज्ञेय, प्रगतिवादी से अरविंदवादी बनते जाते पंत हम लोगों के विशेष प्रिय लेखक थे। यशपाल ने 'विप्लव' चलाया, नरोत्तम नागर ने 'उच्छृंखल', 'उग्र' तो अनेक 'घंटे' बजा चुके थे। काफी चहल-पहल थी, हलचल थी, जिसमें विविध, परस्परविरोधी विचार-धाराओं की कशमकश हमें उद्वेलित कर रही थी। मैंने राष्ट्रीय मज़दूर संघ, इंदौर का मंत्रित्व छोड़कर– अहमदाबाद में मजूर-महाजन में गुलजारीलाल नंदा, खंडूभाई देसाई आदि के निकट जाने पर भी– राजनैतिक 'करीयर' छोड़कर माधव कालेज उज्जैन में मैं तर्कशास्त्र और शिक्षा-मनोविज्ञान पढ़ाने लगा। दर्शन मेरी रोटी बन गई। गांधी के संपर्क में आया, वहीं सेवाग्राम में सन ४० में विवाह हुआ। किशोरलाल मश्रूवाला से भी बहुत तर्क किया। तब तक सन ३७ में 'जैनेंद्र के विचार' मैं संपादित कर चुका था। पर साहित्य? उसमें गांधी बहुत कम नजर आ रहे थे। हिंदी में ही लें, तो जैनेंद्र और सियारामशरण गुप्त को छोड़कर गांधी-दर्शन और किसके साहित्य में सृजनात्मक-कलात्मक रूप लेकर प्रभावी बना है? जो बात गांधी-दर्शन के बारे में सही है, वही अन्य दर्शनों के बारे में सही है नाम तो मार्क्स और अरविंद का अनेकों ने लिया, पर सचमुच जिनके साहित्य में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पूरी तरह मार्क्सवाद अंतर्वाह्य रूप से रचा-पचा और प्रक्षेपित हुआ ऐसे 'क्रिस्टल' बहुत कम हैं। भाष्यकार हैं, मार्क्स को 'माडेल' मानकर गढ़नेवाले कई सुतार हैं, पर वह उनके साहित्य का सर्वस्व हुआ हो ऐसे विशिष्टाद्वैती कौन हैं? न यशपाल, न नागार्जुन; मुक्तिबोध तो नहीं ही और आगे सब नाम धूमिल हैं... वैसे फैशन-बेल 'वादियों' से हर भाषा का साहित्यप्रांत हरा-भरा, गुंजित है!

इतना दीबाचा काफी होगा। क्योंकि और अधिक लिखना आत्म-विज्ञापन में आ जाएगा। तो मैं कह यह रहा था कि १९०९ में क्रोचे ने 'एस्थेटिका' में लिख दिया था कि ये अधकचरे लोग कला की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने लगते हैं, 'दर्शन' का इतिहास बताते हैं, जब वे यह नहीं जानते कि 'दर्शन' होता क्या है, और इतिहास क्या? दर्शन आरोपित भावधाराएं या मनमाने अर्थ निकालना नहीं है। एक साहब तुलसीदास की एक चौपाई के सत्ताईस अर्थ निकालते हैं। दूसरे एक साहब 'कामायनी' में षड्दर्शन खोज निकालते हैं। ये सब नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। तुलसी या 'प्रसाद' की उदार आत्मा उन्हें माफ कर देगी। वही हाल मार्क्स के नवांध अनुयायियों का है। एक प्रगतिशीला ने मीराबाई को विद्रोहिणी नारी-मुक्ति आंदोलन की समर्थक बताया। तो दूसरे एक सज्जन चूंकि रामचंद्र शुक्ल 'लोकमंगल' शब्द का प्रयोग करते थे, इसलिए उन्हें महान लोकशाही-समर्थक बताते हैं!

हमारे समीक्षकों का अन्य साहित्यों का ज्ञान अत्यंत अधूरा है। और दर्शन का तो और भी कम गहराई से विचार उन्होंने किया है। इसलिए तीन तरह की गड़बड़ियां मुझे हिंदी साहित्य की वर्तमान समीक्षा में दिखाई देती हैं: एक तो भयानक रूप से 'सर्व संग्रहवाद' (एक्लेक्टिसिज़्म) है। उसमें तरतमता, दर्शन के लिए आवश्यक 'नित्यानित्य वस्तुविवेक' एकदम नहीं है। कोई भी चीज किसी भी चीज के साथ रख दी जाती है। नीट्ज़्शे ने कहा था कि 'और' अव्यय का इतना दुरुपयोग शायद ही कोई बौद्धिक करते होंगे। हिंदी में तो उसके लिए 'एवम्', 'तथा' आदि पर्याय भी हैं। जो थीसिस हिंदी में छपे हैं, गये दस-बीस वर्षों में, उठाकर देख लीजिए। दो सौ में पांच अपवाद होंगे। अधिकतर इसी तरह की धांधली से भरे पड़े हैं।

दूसरी बड़ी गड़बड़ी यह है कि दर्शन के दो रूप होते हैं: निरपेक्ष और सापेक्ष, एक शाश्वत और एक देश-काल से आबद्ध। इन दोनों में हमारे समीक्षक बहुत गड़बड़ घोटाला करते हैं। अपनी मर्जी से चाहे जहां 'कूटस्थम्, अचलम्, ध्रुवम्' का प्रश्रय ले लेते हैं; और जहां अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो वहां बुद्ध के 'सब्बा संखारा अनिच्चा', 'सब्बम् क्षणिकम्, क्षणिकम्, क्षणिकम्' का सहारा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ले लेते हैं। यह ऐसा वे जान-बूझकर नहीं करते हैं। शब्दों के बहुत ढुलमुल बेपेंदी के प्रयोग के कारण ऐसा होता है। संस्कृत शब्दावलि हज़ारों वर्षों से ज़बान पर घिसती-घिसती काफी रीढ़-हीन हो चुकी है। हमारे समीक्षक शब्दों का– विशेषतः दार्शनिक शब्दों का प्रयोग, ठीक अर्थों में करना नहीं जानते। इसलिए बेचारे रसदशा और रस-पाश में, मन और आत्मा में, भाव और संवेग में, विचार और अवधारणा में भेद ही नहीं कर पाते। उनकी समीक्षा में इसीलिए मौलिक विचार नहीं मिलते, पिष्टपेषण और भयानक रूप से परस्पर-विरोधी बातें मिलती हैं।

तीसरी बड़ी कमी यह है कि हमारे साहित्य के पढ़ानेवाले और समीक्षा लिखनेवाले जैसे अपने प्राचीन दर्शनशास्त्र से पूर्णतयः परिचित नहीं होते, वैसे ही परिश्रम से आपातित शब्दों का प्रयोग भी 'अड़मसूड़' (मालवी में, मराठी में जिसे 'भरमसाट' कहते हैं) या उर्दू में 'बिला-उसूल' या बाँगला में 'दिशा-हारा' कहते हैं, ऐसा प्रयोग करते है। इसलिए चाहे जिस नौसिखिये कथाकार को 'अस्तित्ववादी' कह देना, या चाहे जिस आरामतलब कवि को 'क्रांतिकारी, विद्रोही, सर्वहारा, जनवादी' वगैरह वगैरह कह देना इन समीक्षक-पुंगवों का बाँए हाथ का खेल है। ऐसे ही दिग्भ्रमित चिंतन में से हिंदी में कई तरह के अर्थशून्य प्रयोग नई समीक्षा में चल पड़े हैं। 'आम आदमी की तलाश' जैसे कोई बड़ा नायाब रतन खोज के निकाला गया हो, समुद्रमंथन के बाद। कबीर और तुलसी, प्रेमचंद और 'निराला' किस दीवाने 'खास' के आदमी के लिए लिखते थे? प्रतिबद्धता, प्रतिश्रुति, पक्षधरता, विचार-कविता इत्यादि अनेक शब्द बिना प्रयोजन, आधे-पचे, अधकचरे ढंग से पश्चिम से लेकर यहाँ चिपका दिये गये हैं।

मैं पुनः कहना चाहता हूँ, सारे सात्त्विक रोष और आक्रोश के साथ कि हिंदी में दर्शन के नाम पर शब्द-बहुलता को हम ने प्रश्रय दिया, पंत की परवर्ती कविता में कौन-सा दर्शन है? पर अरविंद के दो-चार शब्दों की बघार से हम संतुष्ट हो गये! मैं जीवित लेखकों के उदादरण नहीं देना चाहता– क्योंकि उससे कटुता बढ़ती है– पर मेरे जाने हुए, पहचाने हुए, माने हुए ऐसे कई छद्म दार्शनिक कवि, कथाकर, उपन्यासकार, नाटककार हैं– जिनका असल में सिवा नाम और नाम कमाने के कोई दर्शन नहीं– सबकुछ आत्म-प्रदर्शन है– पर उन्हें हिंदी में बड़ी गंभीर चिंतनमय 'पोज़' में, मुद्रांकित छायाचित्रों सहित लोग छापते हैं। गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले ये हमारे छोटे-छोटे सार्त्र और छोटे-छोटे कार्ल मार्क्स के कार्टून घूम रहे हैं। उनको चेले और अनुयायी और प्रशंसक भी मिल जाते। जब कि सत्य यह है कि हिंदी में आज एक भी मौलिक दार्शनिक नहीं है, जिसके दर्शन को पढ़ने के लिए अन्य भाषावाले उसकी रचनाओं के अनुवाद माँगे। जिस अर्थ में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

…क दार्शनिक थे, गांधी थे, या अरविंद थे, या रवींद्रनाथ थे या एम. एन. राय …। (देखिए, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी पटना से प्रकाशित आधुनिक भारतीय …चारक की भूमिका)

साहित्य और दर्शन का रिश्ता यों द्वंद्वात्मक होता है। देश में कोई दार्शनिक …हीं है तो साहित्य में भी कहाँ से आयेगा ? यदि देश को हिलानेवाला, झक-…रोरनेवाला कोई साहित्यकार नहीं है, तो दार्शनिक क्या करेगा ? क्या रूखे तर्क से …म चल चल सकेगा ? या निरी रस-वृष्टि में देश सदा नहाता रहेगा ? दिल और …दिमाग, हृदय और मस्तिष्क का ऐसा विवेकयुक्त सम्मिलन जिसमें से साहित्य-…र्शन और दर्शन-साहित्य निःसृत हो देश को कब मिलेगा ?

मुझे साफ दिखाई दे रहा है एक सृजनशील लेखक के नाते कि देश दो …आत्यंतिक 'हिंसा' ओं के ध्रुवीकरण में फंसता जा रहा। नक्सलवादी आदर्शवादी …परवाने हजारों में इस बंगाल में वलिदान चढ़ गये। मैं रहता हूं उस पार्क में कल …विजयादशमी को बारह छोकड़े नेकी पहने 'भगवे ध्वज' के आगे 'नमस्ते …महकंगले मातृभूमि !' गा गये। वाम और दक्षिण उग्रताओं में युवक ठिलते जा …रहे हैं। इस देश की महान परंपरा मज्झिमनिकाय, सुवर्णमव्य, स्थितप्रज्ञता की …बात करनेवाला कोई विवेकानंद आज देश में नहीं है। साहित्य तो सनसनी का …दास बन गया है। मध्यमवर्ग भगवान रजनीश के कॅसेट सुनता है। और उसीको …दर्शन मान सोता है। नुसरुद्दीन के चुटकुले ब्रह्मसूत्रों का स्थान लेते जा रहे हैं। …असंग और वसुबंध की योगाजारभूमि विश्वविद्यालय के नामांतर पर नवबौद्ध-…हिंसाचार में परिणत हो रही है। जैनियों के अकलंक और अणुव्रत कहाँ लुप्त हो …गये हैं ? श्वेतांबर-दिगंबरों में, अब तो सुना आचार्य तुलसी के चेलों में भी वही …सब हो रहा है। जो राजनीति के पक्ष एक के बँटवारे के दो, दो से बने चार… …टुकड़ों-टुकड़ों में बँट गया संसारवाला हाल है।

दर्शन का अर्थ केवल शब्दों की वाल की खाल निकालना नहीं है। विटिंगेन-…स्टाइन का गंडा बाँधकर कुछ लोग अखाड़े में उतरते हैं; कुछ लोग केवल विज्ञान …को ही दर्शन मानने लग गये हैं। ठीक है, पश्चिम में कम्प्यूटर और साइबरनैटिक्स …महत्वपूर्ण हों, यहाँ का हाल दूसरा है। सारी तीसरी दुनिया का हाल दूसरा है–…यहाँ साहित्य और दर्शन विकराल भूख की छाया में मुरझा रहा है। वह तेल-…आपूर्ति करनेवाले देशों की रहम-करम पर जिंदा है। वह तानाशाही से बचने के …लिए चाहे जैसी 'शाही' स्वीकारने लग गया है। व्यक्ति कुंठित और नगण्य हो …गया है। साहित्य व्यक्ति से शुरू होकर फिर व्यक्ति पर आकर रुकता है। कहाँ …है वह व्यक्ति ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्ति नहीं तो अभिव्यक्ति के क्या मानी हैं ? क्या मानी हैं दर्शन के जब देखनेवाले की आँखों में पुतली ही न हो ? दृष्टि पथरा गई है। कान बधिर हो चुके हैं– लाउडस्पीकरों पर सस्ती धुनों में भगवती जागरण के स्वर रत जगा करा रहे हैं। और आप 'साहित्य और दर्शन' के संबंध चाहते हैं ?

पर मैं निराश नहीं हूं। क्योंकि मेरे भीतर कहीं गहरे में कोई प्रणव-ॐकार गूंज रहा है। सूने मंदिर में, खंडित देवता के आगे भी वह गर्जना करेगा, दिशाएँ गूंजेगी, अँधेरा छँटेगा, पौ फटेगी, प्राची का धर्म है वह अलोक देगी। दर्शन फैलेगा। किसी की करुणा विगलित होगी, शोक श्लोक बनेगा। फिर से सृष्टि होगी। दृष्टि और सृष्टि का अनन्य संबंध मुझे उपनिषद ने सिखाया है। यह संबंध मुझे शिव और शक्ति के स्रोतों में मिलता है। जिस चिच्छक्ति की स्तुति में शंकर 'ललाटे काश्मीर' से 'स्फुरित्कांची शाटी' तक उत्तर और दक्षिण को मिला देते थे वही मेरी प्रेरणा है। मेरा दर्शन वही मेरे आँगन में शुरू होता है। मेरी माँ, मेरी बहन, मेरी पत्नी, मेरी कन्या, मेरी नातिनें–यह सब कौन हैं ? यही मेरी तीसरी दृष्टि हैं। साहित्य की 'सहितता' और 'स- हित' ता उन्हीं में निहित है। मैं एक सामान्य आलोक हूँ अपनी भूमि से प्यार करता हूँ। क्या इतना काफी नहीं है ?

हम लोग बड़े सहज ढंगों से कह देंगे पूरब और पच्छिम। पर पूरब के देशों में भी सबकी दार्शनिक वृत्तियाँ एक हो नहीं हैं चीन और भारत के प्राचीन काल में संप्रेषण पर १९७१ में सिरावयूज युनिव्हर्सिटी प्रेस (अमेरिका) से छपी राबर्ट टी. ऑलीवर की पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें ये अंतर दिये है :

एशिया	पश्चिम
१. प्रवचन का उद्देश्य सामंजस्य बढ़ाना निर्वेयक्तिक	१. प्रवचन का उद्देश्य व्यक्तिगत वक्ता और श्रोता का कल्याण
२. प्रवचन अपेक्षा के अनुबंधानुसार, मौलिकता की अपेक्षा परंपरा पर अधिक बल	२. प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट शैली और पद्धति को प्रोत्साहन; मौलिकता पर बल
३. तर्क, खंडल-मंडन कम और अपनी बात दूसरे को प्रेम से समझाना 'कांतासंमित तयोपदेशयुजे'	३. धर्मोतर करानेवाले का उत्साह 'या तो तू रहेगा या मैं'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एशिया	पश्चिम
४. भावुकता का प्रदर्शन नियमों के अंदर, संयमित रूप से	४. मतभेद कभी दूर नहीं किये जा सकते ('वी एग्री टु डिफर')
५. वक्ता और श्रोता की दी भूमिकाएँ परस्परस्वलंबित और अदल-बदल सकती हैं	५. वक्ता श्रोता की भूमिकाए भिन्न परस्पर परिवर्तनीय नहीं
६. प्रमाण का स्रोत श्रुति (समझ) और उपमान	६. प्रमाण सदा ग्रंथ ही नहीं, साम्य भी नहीं
७. करनी से अधिक कथनी पर जोर	७. कथनी से अधिक करनीं पर जोर
८. मौन की महत्ता शब्द से बढ़कर	८. मौन अटपटा और लज्जानक
९. जो वयस्क और प्रौढ़ हैं, वे ही मत बनाने का अधिकार रखते हैं और उन्हीं का वह उत्तर दायित्व है	९. हर व्यक्ति को, उसकी उम्र या लिंग चाहे जो हो, अपनी राय व्यक्त करने का अधिकार

इस प्रकार से एशियाई देशों में भी भारत का 'रेटरिक' अलग है, 'चीन का या अरब देशों का अलग। सौन्दर्य के संबंध में धारणाएं भूगोल और जलवायु से, जैविक और शारीरिक कारणों से भिन्न हो सकती हैं, यह पश्चिम का मानना है। वहाँ कहते हैं 'पोर्नोग्राफी इज मैटर आफ जियाग्राफी'। पर हमारे यहाँ विश्व-त्मकता की बात सौन्दर्य भावना के चिंतन में बहुत की जातीं है। सौन्दर्य को 'शिवम्' या नीतितत्त्व से भी पूर्व के चिंतक अलग नहीं कर पाते— तोल्स्तोय और गांधी इसके उत्तम उदाहरण हैं। दर्शन को 'शुद्ध' दर्शन, केवल तर्क या विवेकाश्रित मानने की प्रतिष्ठा पूर्व के देशों में नहीं— यहाँ दर्शन से जीवन अधिक महान है। दर्शन केवल सोपान है, जैसे साहित्य भी केवल एक साधन है। साध्य या चरम कुछ और है — वह आदर्शवादी पुट हमारे दर्शन और साहित्य को परंपरित रूपसे संपुटित संरक्षित संचलित किये हुए है। इस कारण से केवल ऐसे विचार, ऐसे-दिन केवल नयिका-भेद मनोविकृति मानी गई। वैसे ही रात-दिन केवल 'भूख, भूख, भूख' का विचार भी दूसरी तरह की विकृति है। मार्क्स और फ्रायड की इतनी चर्चा के बाद भी हमारी भाषाओं के साहित्य में गत आधी सदी में जो अधिक टिकाऊ अंश है, वह केवल क्षुधा-काम सीमित नहीं। मैं अगर बीसवीं सदी की बारह श्रेष्ठ भारतीय किताबें (साहित्य की) चुनूंगा तो उनसे यह बात स्पष्ट होगी। मैंने जान-बूझकर केवल उन लेखकों की रचनाएं चुनी हैं जो अब जीवित नहीं हैं। मेरे चुनाव में आप सब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सहमत हों यह जरूरी नहीं है : रवींद्रनाथ 'गीतांजलि', इकबाल 'असरारे खु
प्रेमचंद 'गोदान', विभूतिभूषण बंदोपाध्याय 'पथेर पांचाली', सुब्रह्मण्य भा
की 'चुनी हुई कविताएँ', वल्लतोल की चुनी हुई कविताएँ; मर्ढेकर की कवि
'निराला' की 'अनामिका'; साने गुरुजी की 'शामची आई', वि. स. खांडे
का 'ययाति', शरच्चंद्र का 'शेष प्रश्न', राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन

इन रचनाओं को मैं बार-बार पढ़ना चाहूंगा। उनसे अघाऊँगा नहीं।
सकता है कि ये सब मेरे अन्दर किसी दर्शन की कमी का संकेत करती हों, जि
पूर्ति इनसे होती है। हो सकता है मैंने और भाषाओं की और अच्छी पुस्तकें
नहीं हैं, सिवा उनके जो अनुवाद में उपलब्ध हुईं। हो सकता है कि मेरा मन
पीढ़ी में बना वह गांधीवाद-नेहरूवाद के बीच की पीढ़ी थी, जो इसी तर
साहित्य और दर्शन से अधिक प्रभावित हुई।

यह चर्चा अन्तहीन है। लेख के पृष्ठों की सीमा है। मेरे मुक्त चिंत
लिए मुझे क्षमा किया जाए। यह फूटनोटों से अलंकृत, कठिन भाषा युक्त आतं
करनेवाला नामफेंकू लेख नहीं है। वैसे मारकूज़ा और इुरखाइए, लुकांच
न चॉम्स्की हमने भी पढ़े हैं।

— प्रभाकर मा

निदेशक, भारतीय समाज प
३६, शेक्सपीअर स
कलकत्ता ७०००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुस्तक समीक्षा

डॉ. सुरेन्द्र वर्मा (संपा); भारतीय दर्शन कुछ आयाम; दर्शन मंडल, इंदौर (म. प्र.); १९७७; पृ. ११५; मूल्य आठ रुपए

प्रस्तुत छोटी सी पुस्तक में पांच शोध–प्रबंधों का सारांश संपादित रूपमें पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है, जिनमें स्वयं संपादक के अंग्रेजी में लिखे शोध-प्रबंध का हिन्दी सारांश भी अंतर्भूत है। अन्य जिन चार प्रबंधोंका सारांश ग्रंथ में दिया है वे संपादक के निर्देशन में ही लिखे गये थे। इस तरह सभी प्रबंध और उनमें प्रस्तुत किये गये भारतीय दर्शन के कुछ आयाम संपादक से किसी न किसी संबंध से बंधे हुए हैं, यह उनमें पाया जानेवाला एक समान सूत्र है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि किसी समान दृष्टिकोण या विचारधारा को इन प्रबंधों में अपनाया गया है ऐसा अगर होता तो विचार की दृष्टि से शायद और सुविधाजनक तथा लाभदायक होता।

विविध विश्वविद्यालयों द्वारा जिन शोध-प्रबंधों पर शोध-उपाधियाँ दी जाती हैं उनमें से कम से कम महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध प्रकाशित होने चाहिए। तो भी आर्थिक तथा अन्य समस्याओं की वजह से शोध-प्रबंधों के प्रकाशन में बाधाएं आती हैं और परिणामतः जिज्ञासु पाठक उन से वंचित रहते हैं। ऐसी स्थिति में पूरा प्रबंध नहीं तो उसका सारांश पाठकों के सामने रखने का प्रयास स्तुत्य ही है। शोध-प्रबंधों का सारांश प्रबंधों के स्थानपर नहीं रखा जा सकता यह बात बिलकुल सही है लेकिन शोध-प्रबंध का काफी विस्तृत सारांश अगर प्रस्तुत किया गया हो तो उससे प्रबंधका स्तर, दृष्टिकोण, विचारधारा तथा प्रबंध का निष्कर्ष के बारेमें विश्वसनीय पता लगाना सर्वथा असंभव नहीं महसूस होता। विशेषता जिनके निर्देशन में शोध प्रबंध लिखे गये उन्हीं के संपादकत्व के सहारे जब प्रबंध का सारांश प्रस्तुत किया जाता है तब इस प्रकार की अपेक्षा में बाधा नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। हमारा यह मंतव्य गलत न हो ऐसा समझकर पुस्तक में प्रस्तुत पांच शोध-प्रबंधों के सारांश से संपादक के निर्देशन में लिखे दो और स्वयं संपादक के प्रबंध के सारांश के बारे में नमूने के तौर पर कुछ विचार पाठकों के सामने प्रस्तुत करना चाहते हैं।

प्रथम प्रबंध में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की समकालीन व्याख्याओं का विचार आया है जिस में तिलक, गांधी और अरविंद द्वारा प्रस्तुत गीता की व्याख्याओं का अध्ययन किया गया है। एक ओर हमें बताया गया है कि " तिलक, गांधी एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अरविंद तीनों ही अद्वैतवादी हैं।" (पृ. १) तथा उनके मतानुसार "गीता की तत्वमीमांसा में अंतिम तत्त्व एक निर्गुण, निराकार, चैतन्य तत्व है जो समस्त तत्त्वोंसे परे है" ये दोनों बातें सही हो सकतीं हैं। इस पक्ष में उनके अद्वैतवादी मतानुसार गीता की तत्त्वमीमांसा में अंतिम तत्त्व किस प्रकार का है तथा उनका मंतव्य स्वीकाराहं हैं या नहीं इसीका विचार किया जाना चाहिए तथापि दूसरी ओर हमें यह भी बताया गया है कि "गीता में समाज दर्शन की ओर... संकेत ही नहीं है बल्कि .... समाजदर्शन का विस्तृत विवरण भी है।" पृ.३१) साथ साथ "महाभारत युद्ध की ऐतिहासिकता का सर्वथा निषेध असंभव है।" (पृ. ४०) यह भी कहा गया है। अब दो प्रश्न उठते हैं: (१) क्या इन मन्तव्यों में कोई संबंध है? और (२) गीता में अगर युद्ध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर तथा साक्षात् रणभूमिपर सामाजिक और व्यक्तिगत स्तर पर कर्म या कार्य–जिनमें युद्ध करने जैसे कर्मो का भी अंतर्भाव हैं — करना और उनकी स्वीकाराहंता तथा उनका सममंन जिन तत्त्वों के अनुसार एवं जिस आधार पर किया जा सकता है इसकी और ऐसे अगर अनेक दृष्टिकोण हों तो उनमें से कौन सा दृष्टिकोण श्रेष्ठ है इसकी चर्चा आयी होतो इस प्रकारकी चर्चा का वेदांत से या तत्त्वमीमांसा से क्या संबंध है और वह किस प्रकार समर्थनीय है इसका भी कुछ विचार किया गया होता तो प्रबंध का मूल्य और बढ जाता। इस दृष्टिकोण से तिलक, गांधी या अरविन्द प्रणीत गीता व्याख्या की परीक्षा की जाती तो शायद कुछ और ही महत्वपूर्ण प्रश्न पाठकों के सामने प्रस्तुत किए जाने की संभावना थी। दुख की बात यह है कि संभवतः इस प्रकार के प्रश्नों के विचार से प्रस्तुत प्रबंध वंचित रहा है।

तीसरे प्रबंध में भारतीय दर्शन में परमाणुवाद का विचार प्रस्तुत किया गया है। शुरू में परमाणुवाद को क्यों स्वीकारा जाए इसकी चर्चा की हैं। कहा है कि परमाणुवाद वस्तुओं की सावयवता तथा अनित्यता के अनुभवपर आधारित है। इस विचार की पुष्टि के रूप में तथा परमाणुओं का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियाँ दी गई हैं जो तर्कसंमत नहीं लगतीं। उदाहरण के तौर पर देखिए: "मूर्त पदार्थ का कई भागों में विभक्तिकरण (पृ.५९) किया जाना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं — जैसे मनस्; वैसे ही दोनों प्रकार के परमाणु समान आधारवाले, समान दृष्टिकोण अपनानेवाले, समान रखनेवाले और समान स्पष्टीकरण देनेवाले हैं यह पहले दिखाना चाहिए। ऐसा न करते हुए "जैन परमाणु प्रोटोन्स से भी अधिक सूक्ष्म हैं" (पृ. ७९) या 'जिसे आधुनिक विज्ञान में परमाणु कहा जाता हैं जैन दर्शन में परमाणु न हो कर वस्तुतः स्कंध है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक विज्ञान अभी तक अपने प्रयोग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और शोध के द्वारा उस बिंदु तक पहुँचा ही नहीं है, जिसकी परिकल्पना हमें जैन दार्शनिकों के परमाणु में मिलती है ऐसी दलीलें तथा निष्कर्ष केवल अस्वीकाराहँ ही नहीं अपितु अर्थहीन भी हैं। इस प्रकार की अर्थशून्यता प्रबंध में न आए इसकी ओर अगर ध्यान दिया जाता तो विचार का स्तर कुछ ऊँचा रखने में हो केवल मदद ही न होती वरन् प्रबंध लिखने का हेतु भी सफल हो जाता।

अन्य प्रबंध, जिनके सारांश प्रस्तुत पुस्तक में संग्रहीत हैं, ऐसे ही है जिनके बारे में इसी प्रकार के प्रश्न उठाये जा सकते हैं। लेकिन समीक्षा की लंबाई न बढ़ने देने के विचार से उनका विचार से उनका विचार हम सुधी पाठकोंपर छोड देते हैं। इसे खुद संपादक का प्रबंध भी अपवाद नहीं है। उसके बारे में कुछ प्रश्न पाठकों के सामने उपस्थित करना अप्रस्तुत न होगा। इस प्रबंध का विषय है गांधी–दर्शन का तत्त्वमीमांसात्मक आधार। बताया गया है कि गांधीजी अद्वैतवादी और आध्यात्मिक दार्शनिक हैं। (पृ. १०२) उनके मतानुसार सभी वस्तुओं और प्राणियों की एकता का अपरिवर्तनीय नियम स्वयं ईश्वर है। ईश्वर को गांधीजी ने सत्य कहा हैं। (तत्रैव) यह भी कहा है कि गांधीजी निरेपेक्ष और सापेक्ष सत्य में स्पष्ट भेद करते हैं। तथापि प्रश्न यह खडा होता है कि अगर यह सही हो तो गांधीजी ने अद्वैतवादी दृष्टि से निरपेक्ष और सापेक्ष ईश्वर में फर्क किस प्रकार किया है तथा ऐसा करना कहाँतक सुसंगत है? आगे यह भी कहा है कि 'ईश्यर नीतिशास्त्र और नैतिकता है। (पृ. १०४) अब नीतिशास्त्र भी निरपेक्ष बनेगा। यह कैसे हो सकता है इसका विवेचन आया होता तो ठीक रहता गांधीजी के मतानुसार अगर ईश्वर स्वयं ही नियम या विज्ञान है' (पृ. १०५) तो भी उसे व्यक्तिमूलक समझना आपात्तिजनक कैसे नहीं, इसका भी कुछ अधिक गहराई से विचार किया जाना आवश्यक था। अंतमें, गांधीजो के विचार में अगर सभी मूलभूत दार्शनिक धारणाओं के प्रमुख स्त्रोत आये हों तो भी वह अद्वैतवादी और 'निरवयव वस्तु नित्य' होनी ही चाहिए (पृ. ६०) ऐसा भी नियम नहीं– जैसे प्राक्भाव। उसी तरह 'जो अविभाज्य है, वह सूक्ष्म और अतीन्द्रिय तो रहेगा ही' (पृ. ६२) ऐसा विचार प्रस्तुत करते समय यह भी भी ध्यातव्य है कि विभाज्य होते हुए भी सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं। और एक प्रश्न लीजिए। हमें एक ओर बताया गया है कि "जैन दार्शनिकों ने धर्म–द्रव्य को परमाणु की गति में सहायक अथवा निमित्त कारण माना है। दूसरी ओर बताया है कि 'वैशेषिक दार्शनिक जैन और यूनानी परमाणुवाद के विपरीत परमाणुओं की गति को अस्वीकार करते हैं"। आपाततः देखने में इस विचार में भुलावा है इसका पता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शायद नहीं लगेगा । लेकिन थोड़ी गहराई से देखा जाए तो पता लगेगा कि वैशेषिक दार्शनिक परमाणु की गति को अस्वीकार नहीं करते न उसकी गतिशीलता को भी । वे परमाणु की स्वयं गतिशीलता को अस्वीकार करते हैं जैसा जैन दार्शनिकों ने किया है । ऐसा विचार किया तो दोनों के मंतव्य में समानता आती हैं, भेद नहीं । जैन दार्शनिकों ने परमाणुओं की गतिशीलता को धर्म द्रव्य की सहायता से तो वैशेषिक दार्शनिकों ने अदृष्ट कथा ईश्वर की सहायता से स्पष्ट किया है । इनकी तुलना करके अगर यह पता लगाने का प्रयास किया होता कि इनमें से किसका मंतव्य अधिक स्वीकाराहं है और किस आधार पर, तो और भी अच्छा होता । तुलना ही करनी हो तो थोडी गहराई से करनी चाहिए । आपाततः की हुई तुलना कोई महत्वपूर्ण बात सामने नहीं लाती तथा विचार का स्तर ऊँचा रखने में असफल रहती है । और एक प्रश्न लीजिए । भारतीय परमाणुवादी विचारधारा में एक मात्र जैन दर्शन ही (परमाणुओं के) प्रकार भेद को अस्वीकृत करता है और इस बातमें वह यूनानी परमाणुवाद के अधिक सन्निकट है" । (पृ. ७३) स्थित शब्दप्रयोग हमारा हैं ।) जैन दार्शनिक परमाणुओं के प्रकार भेद को अस्वीकृत करते हुए परमाणओं से विविध धर्मवाले वस्तुओं की निर्मिति कैसे स्पष्ट करते हैं और इसमें सफल रहे हैं या नहीं इसका कुछ और गहराई से और गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए था । साथ ही इसी स्तर पर उनके मंतव्य की यूनानी विचारधारा के साथ तुलना की होती तो प्रबंध का मूल्य बढ जाता । अब अंतिम बात की ओर हम पाठकों का ध्वान आकृष्ट करना चाहते चाहते हैं । जैन परमाणुवाद की और आधुनिक रासायनिक परमाणुवाद की तुलना प्रस्तुत की गयी है । इस संबंध में यह ध्यायन्य अध्यात्मवादी रहकर भी उसमें असंगति किस तरह पैदा नहीं होती इसका भी कुछ स्पष्ट रूप से विवेचन किया होता तो प्रबंध का महत्व अधिक बढ़ जाता ।

इस प्रकारकी त्रुटियाँ होते हुए भी पाँच प्रबंधों का सारांश पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास स्तुत्य है ।

दर्शन विभाग,
पुणे विद्यापीठ, पुणे

मो. प्र. मराठे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएं तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा यह जरूरी नहीं है कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेख के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

	संपादकीय	
	जाँ–पाल सार्त्र	२-३
यशदेव शल्य	दर्शन का आरंभ बिंदु	४-२६
राजेन्द्र प्रसाद	प्रकृतिवादी दोष के तार्किक महत्त्व की परीक्षा	२७-४६
जगदीश शर्मा	कलाकृति के वस्तुपरक मूल्यांकन का प्रश्न	४७-५६
राममूर्ति त्रिपाठी	साहित्य और दर्शन–परस्परावलम्बन	५७-६२
सुरेन्द्र बारलिंगे	दार्शनिक दृष्टि और साहित्य	६३-६५
अशोक रा. केळकर	'कविता का होना'	६६-७९
प्रभाकर माचवे	साहित्य और दर्शन	८०-८६
	पुस्तक–समीक्षा	८७-९०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष १ अंक ४

सितंबर १९८०

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ⌑ रमाकान्त तिवारी ⌑ विजय भारद्वाज ⌑ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ⌑ संगमलाल पांडे ⌑ आर्. बालसुब्रमनियन्
अशोक रा. केळकर ⁂ के. जे. शहा ⁂ नारायणशास्त्री द्रविड ⁂ के. सच्चिदानंद मूर्ति ⁂ जी. सी. नायक ⁂ ग. ना. जोशी ⁂ मोहनलाल मेहता

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ⁂ चन्द्रकान्त बांदिबडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें :
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेश खिड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग. पुणे विद्यापीठ, पुणे–४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सार्त्र के साहित्य संबन्धित विचार (२)

कोई क्यों लिखता है ? .. ...

हर एक की अपनी दलीलें होती हैं। कोई कहता है: कला तो एक तरह का पलायन है; कोई यह समझता है कि कला जीतनेका एक ज़रिया है। पलायन तो मठ या आश्रम में रहने पागल हो जाने और मरने से भी हो सकता है और जीतना हथियारों से सध जाता है। फिर इस पलायन या जीतने के लिए कोई लेखन को क्यों अपनाये ? असल में लेखन के भी बहुत-से उद्देश्य हो सकते हैं किन्तु कोई एक इतना गहरा और नज़दीक भी हो सकता है कि जो सभी के अपने-अपने वरण के पीछे निहित लगता है। हम इसी वरण के बारे में बात करेंगे यहाँ। और यह भी देखेंगे कि इस लेखन रूप वरण के लिए भी क्या लेखक की प्रतिबद्धता जरूरी नहीं है।

हमारे प्रत्येक कर्म या क्रिया से दुनिया का नया मुखड़ा उघड़ता रहता है। हमारी यहाँ मौजूदगी ही हमारे दुनियाई रिश्ते बढ़ाती हैं। मानवीय यथार्थ के द्वारा ही तो "अस्तित्व" साबित होता है। आदमी हा वह ज़रिया है जिससे वस्तुएँ 'व्यक्त' होती हैं। यह आसमानी टुकड़ा और पेड़ आपस में जुड़कर एक नया नज़ारा बन जाते हैं तो इसलिए कि हम हैं। हमारी रेलों, मोटरों और हवाई जहाजों की वजह से ही इस दुनिया के बड़े बड़े टुकड़े (भूखंड) हमें अपने नजदीक-से लगते हैं, वे हमसे जुडते हैं। लेकिन हम इस वस्तु सत्ता के कैसे ही 'निर्देशक' सही उसके 'उत्पादक' नहीं हैं। अगर हम इस दृश्य से अपनी नजरें हटा लें तो भी यह अपने अनजाने स्थायित्व में डूबा-सा मौजूद रहता है। विनाश हमारा होता है. यह पृथ्वी तो अपनी जड़ता में बनी ही रहनी है जब तक कि कोई चेतना स्वयं आकर इसे न जगा दे। हमारी चेतना इस प्रकार एक "उद्घाटक (व्यंजक या भेदक)" है और हम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह भी खूब जानते हैं कि उद्घाटित (व्यंजित या भेदित) के लिए इसका होना कोई बहुत ज्यादा अहमियत नहीं रखता।

कलात्मक सर्जना की एक मुख्य प्रेरणा निश्चित रूप से यह अहसास होती है कि हम दुनिया से बड़ी अहमियत का रिश्ता रखते हैं। हम अपने पट (कैन्वस) पर या लेखन में मैदान या सागर के कुछ पहलुओं को चित्रित अथवा वर्णित करते हैं; अथवा, यदि हम किसी के चेहरे पर कोई ऐसी चितवन ला सकते हैं, जो सिर्फ हमें ही दीख पड़ी है, तो हम इस बात के प्रति भी सचेतन होते हैं कि रिश्तों को संहत और व्यवस्थित, संक्षिप्त और सुघड बनाने के लिए हमने वस्तुओं के वैविध्य पर अपने मन के एकत्व को ही चस्पाँ किया है। पहले उनमें ऐसा कुछ भी नहीं था...मतलब यह कि हम अपनी सर्जना के प्रति महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

लेकिन अब यह सर्जित वस्तु ही हमसे भागती है; क्योंकि हम एक ही साथ उद्घाटक (व्यंजक या भेदक) और उत्पादक दोनों नहीं हो सकते। सर्जना इस तरह सर्जनात्मिका प्रक्रिया के तहत उतनी ही अहमियत नहीं रख पाती। सबसे पहले तो यह कि सर्जित वस्तु, दूसरों को वह चाहे जितनी नियत–निश्चित दीखे' हमें तो वह सदा ही अनियत–अस्थिर-सी ही लगती है। हम उसमें कभी भी एक रेखा, एक 'शेड' (रंग या प्रकाश) या शब्द बदल सकते हैं। अतः वह कभी भी अपने को जबर्दस्ती से पेश नहीं करती। एक बार एक नौसिखिये चितेरे ने अपने शिक्षक से यह पूछा भी था: "मैं अपनी इस कृति को कब सम्पूर्ण समझूं ?" उत्तर मिला: "जब तुम इसे इतने चकित होकर देखो कि स्वयं ही अपने से कह उठो, "मैं ही हूँ क्या वह, जिसने इसे आँका है ?"

इसका सीधा–सादा मतलब यह हुआ कि, "कभी नहीं"। क्योंकि ऐसा तो तभी हो सकता है जब कोई अपनी बनायी चीज को दूसरे की आँखों से देखे और इस तरह अपनी सर्जित वस्तु को उद्घाटित (व्यंजित) करे। लेकिन यह तो स्वतः जाहिर है कि हम आनुपातिक रूप से सर्जित वस्तु के प्रति उतने ही सचेतन नहीं होते जितने कि अपनी उत्पादन-प्रक्रिया के प्रति होते हैं। मिट्टी से बर्तन गढ़ने या काठ से चीजें बनाने में हम भले ही परम्परित रूपों के मुताबिक अपना काम कर लें और वह भी उन औजारों से, जिनका इस्तेमाल बहुत कुछ बंधा–बंधाया है। सचतो, हाइडेगर के शब्दों में, तो ये ही "वे" हैं, जो हमारे हाथों से काम करते हैं। इस तरह के कामों के नतीजे हमें फिर भी बहुत-कुछ अपनी 'वस्तुता' कायम रखते-से लगते हैं। लेकिन यदि उत्पादन के सारे नियम हमींने बनाये हों, उसके मापदण्ड, मानक आदि भी हमींने तय किये हों और हमारी सर्जना की प्रेरणा भी हमारे अपने ही अन्तर्तम से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आयी हो तो हम अपने काम में और कुछ भी नहीं, अपने आपको ही उपलब्ध करते हैं। ऐसी सर्जित वस्तु से हमें जो कुछ भी मिलता वह नितांत हमारा अपना ही होता है, चाहे वह प्रेम हो या उल्लास। ये सब उसमें हमीने रखे होते हैं अत: हम ऐसी सर्जित वस्तुओं के प्रति उतने वस्तुनिष्ठ नहीं हो पाते। किन्तु उन सारी प्रक्रियाओं से अवश्य परिचित होते हैं जिनके वे परिणाम हैं। ये प्रक्रियाएँ हमारी विषयिगत या सचेतन उपलब्धियाँ होती हैं, वे स्वयं हम हैं, हमारी प्रेरणाएँ हैं, हमारे प्रसाधन हैं; और जब हम यह चाहते हैं कि अपने काम की प्रत्यभिज्ञा या अवगम करें तो हम फिर उसकी सर्जना करते हैं; हम मन ही मन उन सारी प्रक्रियाओं को दुहारते हैं जिनसे वे वस्तुएँ बनी थीं। इसी का यह नतीजा होता है कि ऐसी वस्तुओं का हर पहलू हमें बाँधता है, अच्छा लगता है। इस प्रकार हर अवगम (प्रत्यक्ष अनुभव या प्रत्यभिज्ञा) में पहले विषय या वस्तु की ही महत्ता (अहमियत) होती है, विषयी (द्रष्टा, भोक्ता, ज्ञाता, स्रष्टा, उपस्थापक, उद्घाटक व्यंजक, भेदक जो चाहे कहिए!) उतनी अहमियत नहीं रखता। वह तो जब सर्जना करता है तभी महत्ता (अहमियत) ले पाता है क्यों कि तब वस्तु (सर्जित चीज) अपनी अहमियत खो देती है।

यह बात भी सब से ज्यादा साहित्य में ही झलकती है क्यों कि साहित्यिक वस्तु एक तरह की फिरकिनी है जो केवल हरकतों में ही विराजती है। साहित्य का साक्षात्कार पढ़ने की ठोस क्रिया के बिना नहीं होता, और वह तभी तक होता है जब तक यह क्रिया चलती है। नहीं तो साहित्य कागज पर काले निशानों के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। लेखक अपने लिखे को नहीं पढ़ सकता, जब कि जूते बनानेवाला अपने जूते पहन सकता है, बशर्ते कि वह उसके नाप और पसन्द के हों, मकान बनानेवाला अपने बनाये मकान में रह सकता है। क्योंकि हर पढ़ने की क्रिया में हम आगे देखते चलते हैं; हमें इन्तजार करना पड़ता है, वाक्य का अन्त या आगे का वाक्य और पृष्ठ देखने पड़ते हैं। इनसे हमारा आगे का देखना सही या गलत साबित हो सकता है। जो भी हो, इसमें शक नहीं कि पढ़ना माने कितनी ही कल्पनाओं या अनुमानों का समाहार या समावेश सपनों के बाद जागते जैसा उम्मीदों और मायूसियों का एक जमघट। पढ़ने की क्रिया में पाठक सदा ही पढ़े जाते वाक्यों से आगे रहते हैं, और वह भी एक संभाव्य भविष्य में जो कि पढ़ने की प्रगति के अनुपात में ही थोड़ा जुड़ता है तो थोड़ा टूटता है। पाठक की यह प्रगति एक पृष्ठ से दूसरे में रुक सकती है और इस तरह साहित्यिक वस्तु के अनुभव की परिधियाँ भी बदलती रहती हैं। प्रतीक्षा के बिना, भविष्य के बिना, अज्ञान के बिना, उसमें कोई वस्तु-परकता नहीं होती।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिखने की प्रक्रिया में आधा–पढ़ना भी मिला रहता है। फलतः असली पढ़ना मुश्किल होता है। लेखक की कलम से जो शब्द बनते हैं, उन्हें वह देखता तो जरूर है लेकिन ठीक उसी तरह नहीं जैसे कि पाठक पढ़ता है क्योंकि लेखक तो उन्हें लिखने से पहले ही जानता है। वह न तो आगे देखता हैं, न कोई कयास लड़ाता है, वह तो खाका खींचता है। वह प्रायः जैसा कि लोग कहते हैं प्रेरणा की प्रतीक्षा करता है। लेकिन यह तो एक तरह से अपनी ही इन्तजारी है; यह दूसरों के लिए प्रतीक्षा जैसी बात नहीं है। लेखक कभी हिचकिचाता है तो इसलिए कि वह अच्छी तरह जानता है वह कि भविष्य स्वतः नहीं बनता, वह स्वयं ही उसे बनाने वाला है; और अभी अगर उसे यह नहीं मालूम कि उसके 'नायक' का क्या होने वाला है तो उसकी वजह सिर्फ इतनी है कि उसने अभी इस बारे में कुछ सोचा नहीं है, किसी के भी बारे में कुछ भी तय नहीं किया है। लेखक के लिए भविष्य एक कोरा पन्ना है, जब कि पाठक का भविष्य हजारों शब्दों से भरे दो सौ पन्नों में समाया है, और ये शब्द उसे अभी कृति के अन्त तक नहीं पहुँचने देते।

इस प्रकार लेखक हर जगह सिर्फ अपनी जानकारी, अपनी इच्छा, अपनी योजनाओं, संक्षेप में, अपने आप से भेंट करता है। वह केवल अपनी स्वता (चेतनता या आत्मीयता) को ही छूता है। हाँ, उसकी सर्जित वस्तु उसकी अपनी पहुंच के बाहर होती है। वह उसे सिर्फ अपने लिए ही नहीं रचता, वह उसे दुबारा पढ़ता है तो यहाँ–वहाँ दीख पड़ती विशेषताओं और सुक्तियों या विशेषणों को सराहता है। लेकिन यह तो उसका वह प्रभाव है, जो दूसरों पर पड़ना है, वह इस की उपयुक्तता का निर्णय तो कर सकता है, अनुभव नहीं करता। वह वाक्यों से आखिर तक, अपने आप को नहीं हटा पाता। ऐसा वह तभी कर सकता है जब बरसों बाद सब कुछ भूलने–भालने पर वह अपनी रचनाएँ पढ़े। तब उसे ऐसा लग सकता है कि इस लेखन की 'स्पिरिट' बिलकुल अलग है और वह अब 'और ऐसा' नहीं लिख सकता। रुसो ने जब अपने आखिरी दिनों में अपनी कृति 'सामाजिक अनुबन्ध' पढ़ी तब उसे ऐसा ही महसूस हुआ था।

अतः एक यह कहना सच नहीं है कि लेखक 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है। यह तो उस पर सबसे बुरा आघात होगा। कागज पर अपने संवेगों या भावनाओं का खाका खींचते वक्त कोई भी उन्हें बड़ी मुश्किल से अस्पष्ट-सा ही आँक पाता है। क्योंकि किसी कृति के निर्माण में सर्जनात्मक क्रिया तो एक अपूर्ण और अमूर्त क्षण है। यदि लेखक अकेला हुआ तो मनचाही मात्रा में लिख सकता है चाहे यह लिखित पाठ्य प्रकाशित हो या नहीं, अथवा वह लिखना ही बंद कर दे या एकदम निराश हो जाये। लिखने का द्वन्द्वात्मक भागीदार पढ़ना भी है लेकिन ये दोनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संबन्धित कार्य दो अलग कर्ताओं द्वारा पूरे होते हैं। मानस कार्य जो कल्पनाप्रधान होकर भी मूर्त्त होने की जुर्रत करता हैं, वह लेखक और पाठक दोनों का मिला-जुला प्रयत्न है। अन्यथा वह 'कृति' नहीं बन पाता। कला दूसरों के लिए और उनके द्वारा ही बनती है, इसके बिना वह कुछ नहीं रह जाती। अतएव कला माने संमिश्रित कृतित्व–अन्यों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से सदा-संमिश्रित क्रिया-रूप या कार्य।

अतएव पुस्तक, संगीत, चित्र आदि का पढ़ना, सुनना या देखना आदि अवगम (प्रत्यभिज्ञा) और सर्जना का समन्वित रूप है। इसमें विषय और विषयी (वस्तु और अनुभविता) दोनों की अहमियत मानी जाती है। वस्तु अहम है क्योंकि वह बहुत ही परा या पारदर्शी होती है, क्यों कि वह अपनी संघटना को हम पर आरोपित करा देती है और क्यों कि हमें इसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, निरीक्षण करना पड़ता है; लेकिन विषयी (द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता) भी अहम है क्योंकि इस की जरूरत सिर्फ विषय (वस्तु) के उद्घाटक तक ही नहीं उसके अस्तित्व की संभावना के लिए भी पड़ती है। मसलन, यदि पाठक लापरवाह, थका-माँदा, बेवकूफ और विचार-हीन हो तो बहुत-से सम्बन्ध उसके पल्ले नहीं पड़ेंगे, वह वस्तु का बोध या ग्रहण भी नहीं कर सकेगा। पाठक यदि अत्यन्त सक्षम हो तो वह पढ़े हुए शब्दों के परे " विषय " ('वस्तु' या 'अर्थ') का समन्वित रूप भी प्रक्षेपित करेगा

इस प्रकार शुरू से ही, अर्थ केवल शब्दों में ही नहीं होता, प्रत्युत वह तो पाठक की उस स्वीकृति या अनुमति पर निर्भर करता हैं, जिसके बिना किसी भी शब्द का अर्थ समझना संभव नहीं हो सकता। साहित्यिक वस्तु यद्यपि भाषा द्वारा उपलब्ध होती है किन्तु वह केवल "भाषिक" ही नहीं होती: प्रत्युत वह तो स्वभावतः एक मौन है, और शब्द का प्रतियोगी पक्ष है। कोई किसी भी किताब के एक लाख शब्द एक-एक करके कभी पढ़े तो उसे कृति किसी का अर्थ स्पष्ट नहीं हो जाता यदि इस मौन के सर्वोच्च स्तर पर पाठक शुरू से हीं अपने आपको प्रायः किसी पथ-प्रदर्शक के बिना ही उपस्थित न रखे तो कुछ भी नहीं होता। यह जरूरी है कि वह जिन शब्दों और वाक्यों को जगाता हैं उनसे उस साहित्यिक वस्तु की आविष्कृति करे जो वहाँ है और जिसे उसे पकड़े रहना है।

यदि मुझसे यह कहा जाय कि इस क्रिया को पुनराविष्कृति या नयी खोज कहना चाहिए तो मैं यही कहूँगा कि यह उतनी ही मौलिक और नयी क्रिया है जितनी कि उसकी पहली ईजाद (आविष्कृति) थी। और जब खास तौर से पहले कोई वस्तु थी ही नहीं तो उसकी दुबारा ईजाद (पुनराविष्कृति) या दुबारा खोजने की बात ही नहीं उठती। क्यों कि यदि वह मौन, जिसके बारे में मैं कह रहा हूँ, लेखक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का लक्ष्य है तो वह कम से कम उससे परिचित तो नहीं माना जा सकता। उसका मौन तो उसके चेतन का (विषयिगत) है, और भाषा के पहले से ही वह स्वतः अवस्थित है। यह शब्दों का न होना, या अव्यक्त (अपेक्षित) जीते-जागते मौन का होना है, जिसे शब्द विशिष्ट बना देते हैं; जब कि पाठक का मौन और ही एक वस्तु है, जिसके अन्दर ही और भी बहुत-से मौन भरे रहते हैं, जिन्हें लेखक कभी नहीं कहता। यह उन मौनों का ही सवाल है, जिन्हें इतना विशिष्ट माना जा सकता है कि वे पढ़ने की क्रिया से सर्जित वस्तु के बाहर और कोई अर्थ नहीं रखते। किन्तु ये ही हैं वे तत्त्व जिनसे वस्तु की घनता और उसका खास चेहरा उभरते हैं।

यह कहना कि वे अव्यक्त हैं उतना मौजू नहीं जितना यह कि वे 'अवर्ण्य' हैं। इसीलिए कोई उनकी उपलब्धि पढ़ने के किसी खास लमहे पर नहीं करा लेता। वे तो सब जगह हैं, और कहीं भी नहीं हैं। यदि हम काफ्का के मिथकीय तत्त्वों की वास्तविकता और सत्यता पर सोचें तो यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वे पहले से ही नहीं दे दिये गये हैं। उन्हें तो पाठक को लगातार लिखित-पठित के परे जाकर गढना या ईजाद करना पड़ता है। लेखक तो, बस, उसे एक राह दिखाता है। वह जो सीमा चिन्ह तय करता है। वे तो बीच की रिक्तता से अलग हुए रहते हैं। पाठक को ही उन्हें जोड़ना चाहिए, उसे अवश्य ही उनके परे जाना चाहिए। संक्षेप में, पढ़ना याने पथ निर्देशित सृजन।

एक ओर तो साहित्यिक कृति में पाठकीय सचेतनता या विषयिपरकता के अतिरिक्त और कुछ सत्त्व नहीं होता, दूसरी ओर साहित्यिक कृति के शब्द हमारे भावों को फाँसने के साधन भी बनते हैं। प्रत्येक शब्द अपने से परे जाने का पथ बन जाता है; वह हमारे भावों को नाम और रूप (आकृति और संज्ञा) देता है और उन्हें किसी कल्पित व्यक्ति में बताकर उसे हमारे लिए जीवंत बना देता है। लेकिन उसमें उधारे आवेग ही रहते हैं; वह उन्हें वस्तु एवं परिप्रेक्ष्य देता है और हमारे अनुभव या रुचि की परिधि में अवश्य ला देता है।

इस प्रकार पाठक को सब कुछ करना भी है और उसके लिए किया-कराया भी रहता है; साहित्यिक कृति पाठक की क्षमताओं के स्तर पर ही ग्राह्य हो पाती है; वह जब भी पढ़ता और सिरजता है तो यह जानता है कि वह अपने पढ़ने में सदा ही और भी अधिक आगे जा सकता है, और भी ज्यादा गहनता से सिरज सकता है; और इस तरह अपनी कृति उसे अन्य वस्तुओं जैसी अक्षय और अपारदर्शी लगती है। हमारी चेतनता (विषयिनिष्ठता) से जो यह संपूर्णतः निरपेक्ष गुणों की उपज है वह मानों हमारी आँखों के सामने ही वस्तुताओं में जम जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चूंकि सर्जना अपनी सार्थकता केवल पढ़ने में ही पा सकती है, चूंकि कलाकार को अपना वह काम, जो उसने शुरू किया था, दूसरों को सौंपना हीं पड़ता है, चूंकि पाठक की संचेतना के द्वारा ही वह अपनी कृति के प्रति अपने को महत्त्वपूर्ण मान सकता है, अतः सारा साहित्यिक कृतित्व एक अपील या आकर्षण ही है। लिखना माने यह एक आकर्षण (अपील करना) कि मैंने जो भाषा के माध्यम से सहेजा और उद्घाटित किया है उसे पाठक वस्तु-सत्ता में परिणत कर दे। क्योंकि किसी भी कलाकृति का आविर्भाव एक नयी घटना है, जिसे हम केवल उसके पूर्ववर्ती तथ्यों से ही नहीं जान सकते। यह निर्देशित सर्जना एक सर्वथा नयी शुरुआत होती है, इसका उद्भव पाठक की स्वतंत्रता से होता है, और उस स्वतंत्रता में जो विशुद्धतम तत्त्व है, उससे भी होता है। लेखक पाठकीय स्वतंत्रता से अपनी कृति के उत्पादन में सहयोगिता के लिए प्रार्थना (अपील) करता है।

किताब मेरी स्वतंत्रता के काम नहीं आती उसे तो इसकी जरूरत पड़ती है। और वह इसे एक ही तरीके से पा सकती है; पहले वह इसे पहचाने, फिर इसमें भरोसा रखे, और, अंत में, इससे एक ऐसी क्रिया की अपेक्षा करे जो उसकी अपनी हो, मतलब, उसी भरोसे के नाम पर, जो कोई भी इसमें पैर रखता है। मैं एक हथौड़े से किसी बक्से में कीलें ठोक सकता हूँ और अपने पड़ौसी का सिर भी फोड़ सकता हूँ; यह मुझे अपने आमने-सामने (दूबदू) नहीं खड़ा करता— मतलब, उसे साधन की तरह काम में लाने के लिए मैं कुछ अन्य साधन ईजाद करने के लिए सदा ही स्वतंत्र हूँ। लेकिन साहित्यिक कृति तो किसी औजार की तरह किसी भी विशेष लक्ष्य का साधन नहीं है, वह तो अपने आपको पाठक की स्वतंत्रता के सामने ही समर्पित करती है। कलात्मक वस्तु, जो भी हो एक तरह से अपना आखिरी आविर्भाव ही पेश करती है, और वह भी कल्पना के स्वतंत्र और व्यवस्थित खेल तक ही सीमित होता है। हाँ, यह अवश्य है, कि दर्शक की कल्पना या कार्य केवल नियामक ही नहीं विधानात्मक भी होता है। वह कल्पना सिर्फ खेलती नहीं है। उसे तो सुन्दर वस्तु को अपने पुनः संयोजन से कलाकार द्वारा छोड़े गये। चिन्हों के परे ले जाना होता है।

'प्रकृति का सौन्दर्य किसी भी तरह कलाकृति के सौन्दर्य से तुलनीय नहीं होता। कलाकृति का कोई अन्त या उद्देश्य नहीं होता, वह स्वतः ही एक अन्त है, उद्देश्य हैं'। हम कांट के इस कथन से एक हद तक ही सहमत हैं, क्योंकि कलाकृति सचमुच एक अन्त या उद्देश्य होती है। किन्तु कांट का गुर तो हमें हर चित्र, मूर्ति या पुस्तक के आधार में मौजूद जो एक आकर्षण (अपील) होती है, उसके बारे में कुछ नहीं बता देता। कांट का खयाल है कि कलाकृति पहले एक तथ्य के रूप में अपना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अस्तित्व पाती है फिर वह देखी (सुनी) जाती है। वास्तव में कलाकृति की सत्ता तभी होती है जब कोई उसे देखता (सुनता) है और यदि वह पहले से ही विशुद्ध आकर्षण बन पाती है एवं अस्तित्व के लिए अपनी महत्ता प्रमाणित कर देती है... यह कोई औज़ार नहीं जिसका अस्तित्व पहले से ही स्पष्ट होता है और जिसका लक्ष्य भी अनिश्चित होता है। यह तो एक ऐसे कार्य के रूप में हमारे सामने आती है जिसे हमें पूरा करना है; शुरू से ही यह हमारे विवेकादेश के स्तर पर अपने को बैठा लेती है। हम चाहें तो मेज़ पर रखी किताब को बिलकुल न छुएं। लेकिन यदि हम इसे खोलते हैं तो फिर उसके प्रति एक तरह का दायित्व भी स्वीकारते हैं। क्योंकि स्वतंत्रता का अनुभव उसकी स्वतंत्र मनमानी कार्यकारिता से नहीं होता, वह तो उस सर्जनात्मक क्रिया (कार्य) से किया जाता है, जिसे हम अत्यावश्यक मानकर पूर्ण करते रहते हैं। यह पूर्ण निरपेक्ष लक्ष्य, यह अत्यावश्यक क्रिया (कार्य) जो हमारी पकड़ के बाहर होती है किन्तु जिसे हम सदा ही स्वीकारते हैं, जिसे स्वतंत्रता स्वयं ही अपना लेती है, यही है वह, जिसे हम मूल्य (गरिमा) कहते हैं। कलाकृति एक गरिमा (मूल्य) है क्योंकि यह स्वतः एक आकर्षण है।

लेखक को यदि पाठक का आकर्षण (या उसके प्रति अपील) करना है ताकि वह अपना शुरू किया उद्योग कामयाबी के साथ पूरा करे तो जाहिर है कि उसे पाठक की स्वतंत्रता का खयाल रखना पड़ेगा। वह उसकी क्रियाओं पर कोई शर्तें नहीं लगा सकता। वह उसे शुरू से ही प्रभावित नहीं, कुछ संप्रेषित करता है, यह चाहे भय के संवेग या भावनाएँ हों या मात्र इच्छा, अथवा क्रोध। आवेगों या भाव-संवेगों की स्थिति में स्वतंत्रता से हमारा अलगाव हो जाता है; वह तब आंशिक उद्योगों में अचानक फँस जाती है; वह तब अपना यह काम कि उसे एक पूर्ण निरपेक्ष लक्ष्य बनाना है, भूल जाती है। और तब साहित्यिक कलाकृति भी इच्छा या घृणा उभारने का ही एक साधन बन जाती है।

लेखक किसी को अभिभूत कभी न करे ; अन्यथा वह आत्म-विरोधी हो जाता है। यदि उसकी कोई चाह हो तो वह सिर्फ इतनी हो कि उसे कोई काम पूरा करना है। इसीलिए कलाकृति के लिए सर्वप्रथम कार्य तो पेश होना है। पाठक को भी यह स्वतंत्रता रहे कि वह उससे अपने को हटा ले सके। जेने ने इसी को पाठक के प्रति लेखकीय नम्रता माना है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि लेखक किसी तरह की अमूर्त्त और धारणात्मक स्वतंत्रता की अपील करता है; उसने तो सचमुच ही अपनी भावनाओं से एक सुन्दर वस्तु बनायी है; यदि यह हमें कहीं छूती या झकझोरती है तो वह हमारे आँसुओं से जाहिर हो जाता है;

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि वह एक सहास्य वस्तु या प्रहसन है तो यह हमारी हँसी से मालूम हो जाता है। सौन्दर्यबोधी सचेतनता का एक खास लक्षण यही है कि उसमें स्वभावत. पाठक का विश्वास समाया होता है चाहे यह उसकी प्रतिबद्धता से आया हो, अथवा शपथ लेनेसे हुआ हो। यह विश्वास अपने और लेखक या 'कृती' के प्रति ईमानदारी से मजबूत होता है और आगे के लगातार रहनेवाले विश्वास का 'वरण' बन जाता है।

हम यह जानते हैं कि जागना हम पर निर्भर करता है लेकिन हम जागना नहीं चाहते क्योंकि पढ़ना तो एक प्रकार का निर्बाध सपना है। काल्पनिक विश्वास के आधार पर जो सारे भाव हम बलपूर्वक वसूलते हैं वे हमारी स्वतंत्रता के उतार-चढ़ाव होते हैं। पाठक केभाव भी वस्तु से शासित नहीं होते। उनका स्थायी स्रोत भी तो स्वतंत्रता ही है क्योंकि कोई भी बाहरी यथार्थ उन्हें अनुबंधित नहीं कर सकता, ऐसा है उनका परम औदार्य और औदार्य भाव। मैं तो वही मानता हूँ जिसका उद्भव और अंत स्वतंत्रता में ही होता हो। पढ़ना भी एक तरह की उदारता या औदार्य है क्योंकि पढ़ने से लेखक को पाठक की समूची निजी सत्ता (व्यक्तित्व), उसके आवेग, पूर्वग्रह सहानुभूतियाँ, उसका सेक्सगत रुझान, उसकी गरिमाओं या मूल्यों का मापदण्ड सभी कुछ भेंट हो जाता है। स्वतंत्रता उसमें पूरी तरह घर कर लेती है और उसकी संवेदनाओं के अंधतम पुंजों को परिवर्तित कर डालती है। पढ़ने की हरकत एक नजर से निष्क्रियता-सी लगती है किन्तु वस्तुतः पाठक इसके द्वारा अपने को सर्वोच्च स्तर पर ले आता है।

इस प्रकार लेखक अपने को पाठकों की स्वतंत्रता के प्रति संबोधित करने के लिए ही लिखता है। किन्तु उसका समूचा कार्य यहीं खत्म नहीं हो जाता; उसे भी यह चाह रहती है कि जो भरोसा उसने अपने पाठकों पर किया है वह उसे भी मिले; और पाठक उसकी सर्जनात्मक स्वतंत्रता को पहचानें तथा बदले में इसी के संहत और प्रतिन्यस्त अपील करके सानुरोध माँग लें। या चाहें और यहीं पढ़ने का द्वंद्वात्मक विरोधाभास भी सामने आता हैं; हम अपनी स्वतंत्रता का जितना अधिक अनुभव करते हैं उतना ही दूसरों की स्वतंत्रता को भी पहचानते हैं; कोई जितना हम से चाहता है हम भी उससे उतना ही चाहते हैं।

मैं जब किसी दृश्य पर मुग्ध होता हूँ तो यह जानता हूँ कि यह मैं ने नहीं बना दिया। लेकिन मैं यह भी जानता हूँ कि मेरे बिना इसके पेड़ों, फूलपत्तियों जमीन और घास आदि के रिश्ते भी मेरी आँखों के सामने बिलकुल नहीं रहेंगे। मुझे लगता है कि इसमें चलती हवा की हरकतों के साथ रंगों और वस्तुओं की आकृतियों और गतियों का एकदम सामंजस्य है किन्तु मैं इसके लिए कोई युक्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या दलील नहीं पेश कर सकता। वे सब रिश्ते जो मैंने इसमें ढूंढ लिये हैं समस्यात्मक हैं, धारणात्मक हैं उन्हे मैं अपने विवेकादेश की तरह ग्रहण नहीं कर सकता। यदि मैं भगवान् में विश्वास कर लूं तो भी उनकी दिव्य, वैश्विक इच्छा और इस खास दृश्य में विशुद्ध शाब्दिक पथ के सिवाय मैं तो और कुछ भी नहीं स्थापित कर सकता। यह कहना, कि भगवान ने मुझे मुग्ध करने को यह दृश्य बनाया है या मुझे ऐसा बनाया है कि इससे मुग्ध हो जाऊँ, यह तो उत्तरकी जगह प्रश्नको ही स्वीकारना है। क्या यह नीले और हरे का गठबंधन यहाँ (प्राकृतिक दृश्य में) जानबूझकर किया गया है ? मैं कैसे जान सकता हूँ यह ? यह सब किसी सर्जक (कर्ता) के द्वारा ही वांछित या इच्छित है ऐसा तो कुछ इसमें स्पष्टतः उद्घाटित नहीं होता। प्राकृतिक सौन्दर्य हमारी स्वतंत्रता को सक्रिय नहीं करता। मेरी स्वतंत्रता यहाँ मेरी मर्जी बन जाती है, जो चाहूँ, करूँ, इसे कैनवस पर आँकूं या शब्दों में लिखूं और चूंकि मुझे यह भेंट नहीं किया गया इसे मैं चाहूँ तो इसे यथार्थ भी न मानूं, और इसके बारे में सोचता ही रहूँ, या अपने सपनों में मग्न रहूँ। यदि मैं इसे दूसरों को सम्प्रेषित कर सकूं तो फिर यह प्राकृतिक नहीं, मानवीय बन जाता है। कला तब कुछ भेंट देने की क्रिया बन जाती है। क्योंकि वह भेंट ही उसमें रूपांतर ला देती है, जो मेरे द्वारा इच्छित भी हो जाता है। पढ़ना तो प्रेरणा, अन्तर्वेशन और बहिर्वेशन सभी कुछ है और इन सारी क्रियाओं का आधार भी पाठक की इच्छा में होता है। फिर भी यह जरूरी नहीं कि पाठक कृतिकार की सारी चाहों की गहराई में आसानी से उतर जाये। उनके बारे में तो वह अक्सर क़यास ही लगाता रहता है, और पाठक का अपना अनुभव भी प्रायः अलग होता है। कृति के सारी सुन्दरताएँ आकस्मिक नहीं होती अतः पाठक को अपने अनुमानों में मदद मिल जाती है। प्रकृति में पेड़ और आसमान का सामंजस्य संयोग से होता है; जब कि किसी उपन्यास में यदि कोई नायक अपने को किसी बुर्ज में, बाग या जेल में पाता है तो यह उसकी मनःस्थिति के अनुकूल बाकायदा आयोजित होता है। वस्तु का स्रोत यहाँ मानवीय स्वतंत्रता में है, प्राकृतिक तत्त्वों की संयोग-या अवस्थाजनित परतंत्रता में नहीं। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान रहे। लेखक ने अपनी कृति का पहला खाका भले ही आवेगवश खींचा हो किन्तु वह जब कृति को लिख डालने का निर्णय कर लेता है तब अपने को स्वकीय भावों से बहुत-कुछ युक्त कर लेता है। वह अपने संवेगों या भावनाओं को विमुक्त संवेगों या भावनाओं में रूपांतरित कर डालता है जैसा कि हम किसी भी कृति को पढ़ते वक्त किया करते हैं। हम इसी को उसका 'औदार्य' कह सकते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः पढ़ना भी लेखक और पाठक के बीच एक प्रकार की उदारता है, इसमें लेखक और पाठक को एक दूसरे पर विश्वास करना पड़ता है, एक दूसरे पर निर्भर करना पड़ता है, एक दूसरे की चाहों या मांगों की पूर्ति करनी पड़ती है, यही इस उदारता का स्वरूप है। दोनों में कोई भी एक दूसरे को यह विश्वास करने को वाध्य भी नहीं करता कि उन्होंने अपनी-अपनी स्वतंत्रता से पूरा काम लिया है। हाँ, दोनों ने ही यह एक स्वतंत्र निर्णय अवश्य किया है, कि वे एक दूसरे के प्रति अपनी माँगें पेश करें और उन्हें क्रमशः वढ़ाते जायें क्योंकि इसी तरह दोनों की स्वतंत्रता ही उद्घाटित होती है।

यह महत्त्वपूर्ण नहीं कि कोई सुन्दर कला-कृति "यथार्थ" कला है (या एसी मान ली गयी है) अथवा वह मात्र "आकारिक" (रूपजातही) है। जो भी हो, उनमें वस्तुगत संबन्ध विलोम या प्रतिलोम भी हो सकते हैं। वास्तव में, उनकी समाप्ति या अंतिमता रूप, रंग आदि में उतनी नहीं होती जितनी कि पाठक या दर्शक (पाठक, श्रोता) की पदार्थगत कल्पना में होती है, क्यों कि कलागत पदार्थ की निष्क्रियता में ही तो हम अपनी गहराई में अमाप्य (अगाध) स्वतंत्रता का वरण कर पाते हैं।

कोई भी कृति चित्रित, या तराशी गयी, या वर्णित वस्तुओं तक ही सीमित नहीं होती, जैसे कि हम सभी चीजों का अवगम दुनिया के पर्दे पर करते हैं। हमारी प्रत्यभिज्ञाओं या अवगमों की पृष्ठभूमि दुनिया ही रहती है। वैसे कला द्वारा पेश की गयी वस्तुओं को भी विश्व की पृष्ठभूमि पर ही रखा जाता है। कलाकृतियाँ सृष्टि की अंतहीनता या आनन्त्य की ओर खुलती खिड़कियाँ हैं। सर्जनात्मक क्रिया से हमारी दुनिया (सृष्टि) का नवीनीकरण होता है। प्रत्येक तस्वीर (चित्र) प्रत्येक किताब (पुस्तक) हमें सत्ता की समग्रता की पुनरुपलब्धि करा देती हैं मानो हम समूची हस्ती को दुबारा हासिल करते हों। और ऐसा करते वक्त दर्शक समग्रता ही (पाठक, श्रोता) की स्वतंत्रता के सामने आती है। कला का अंतिम उद्देश्य भी यही है : दुनिया को उसी तरह पेश होने देना जैसी कि वह है। लेकिन इस तरह कि मानों उसका स्रोत मानवीय स्वतंत्रता में ही हो...यह अवश्य है कि स्रष्टा लेखक जो भी सिरजता है उसकी वस्तुनिष्ठ यथार्थता दर्शक की आंखों से ही होती है, और यह पुनरुपलब्धि इसलिए और भी सुसंस्कृत (परिष्कृत) या विनियोजित हो उठती है कि इसमें दर्शक या पाठक भी शामिल रहता है।

प्रायः यह कहा जाता है अन्य व्यक्तियों या कलाकारों की तरह लेखक भी अपने पाठक को "रस" (सौन्दर्यानन्द) प्रदान करना चाहता है। यही कृति की पूर्णता का प्रतीक है। परिणामतः यह सौन्दर्यानन्द (रस) सर्जना के वक्त स्रष्टा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को नहीं मिलता। वह तो दर्शक (पाठक, श्रोता, भोक्ता) की सौन्दर्यानन्द-संचेतना (रसभिज्ञता, रसज्ञता) से ही एकमेक (तदाकार) होता है, यह एक बहुत ही मिला-जुला भाव है, या 'अनुभव' होता है, जिसकी हालतों (स्थितियों) और ढाँचों (संघटनाओं) को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यही कुछ देर के लिए हमारी साधन-साध्य और साध्य-साधन वाले उपयोगितावादी चक्कर को हटाकर हमें अपने परम, पूर्ण-निरपेक्ष उद्देश्य की परिचिति करा देता है। हम एक गरिमा के आकर्षण से अभिभूत-से हो उठते हैं।

मानवीय स्वतंत्रता द्वारा हुए या किये गये काल्पनिक दुनिया के इस रसात्मक (सौन्दर्यानन्दी) आस्वादन से वास्तव जगत् भी 'मूल्यवान्' हो उठता है। दुनिया तब हमारी स्थिति की परिधि या क्षितिज-सी प्रतीत हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह रस हमारी संचेतना के उस स्तर तक बढ़ जाता है जहाँ हम शेष सृष्टि के श्रेष्ठांश की पुनरुपलब्धि करते हैं, उसे अपनी आन्तरिकता में लाते हैं और दिये हुए को 'आवश्यक' एवं तथ्यों को 'मूल्य' बना लेते हैं। रसास्वादन की स्थिति में हमारी संचेतना समग्र विश्व के जो भी बिम्ब बनाती है वे हमारे उतने ही अपने होते हैं जितने कि पराये—अथवा आंतरिक और बाह्य—सारी दुनिया तब हमारी स्वतंत्रता का महत्त्वपूर्ण और मुक्त भाव से स्वीकृत 'कार्य' बनकर हमें उस विशिष्ट और पूर्ण निरपेक्ष वस्तु का आभास देती है, जो कि यह सृष्टि अपनी शर्त-हीन गति में यथार्थतः है। इसीलिए पढ़ना एक ओर, लेखकीय स्वातंत्र्य से हमारी एक प्रकार की विश्वासपूर्ण कठिन परिचिति या कष्ट साध्य पहचान है वहीं, दूसरी ओर, वह एक रसात्मकता (सौन्दर्यानन्द) है जो हमें गरिमा या मूल्य के रूप में मिलता है, और जिसमें हमें दूसरों की सत्ता की पूर्ण आवश्यकता का भी अहसास होता है।

लेखन से इस प्रकार पाठक के औदार्य और दूसरों की संचेतना की ओर हमें अपनी गति का अनुभव होता है, जिससे समग्र अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में अपनी महत्ता का पता चलता है। लेखक अपनी दुनिया के परे जाना चाहता है क्योंकि उसके सिरजे पात्र अपने आपसी (निजी) संबन्धों में बहुत संमिश्रित या जटिल तो होते ही हैं, वे दुनिया को बदलना भी चाहते हैं। क्योंकि इसी से प्रकट होता है कि वे अपनी वास्तविकताओं के प्रति सतत जागरूक रहते हैं, यथार्थवादिता की एक गलती यही रही है कि उसके पक्षधरों ने हमेशा यह माना कि यथार्थ विचार के प्रति उघड़ता है और इसीलिए उसका एक निष्पक्ष चित्र खींचा जा सकता है। वास्तव में, ऐसा कतई संभव नहीं क्यों कि अवगम मात्र आंशिक होता है और किसी भी वस्तु का कोई भी नाम देना भी उसे कुछ तो बदल ही देता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

" लेखक द्वारा किसी अन्याय की सृष्टि तभी होती है जब कि वह सारे अन्यायों को खत्म करना चाहता है, यद्यपि इससे विश्व के प्रति उसकी महत्ता कम होती है। किंतु पाठक की हैसियत से यदि कोई अन्याय सिरजे और जारी रखना चाहे तो वह अपने को अन्याय की जिम्मेवरी से कभी नहीं छुड़ा सकता। विश्व के प्रति तो लेखक, पाठक और दोनों ही अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते। जो दुनिया कृति में उघाड़ी जाती है वह चाहे जितनी बुरी हो, कृति में अवश्य ही उदारता का थोड़ा-बहुत वातावरण होना ही चाहिए। यह उदारता लंबी-चौड़े भाषणों या गुणी चरित्रों द्वारा, अथवा पूर्व-नियत रूप में नहीं आ सकती। यह सभी जानते हैं कि अच्छे भावों से ही कृतियाँ अच्छी नहीं बन जातीं। अच्छाई उसकी सारी बुनावट में होनी चाहिए; वह माल भी अच्छा होना चाहिए जिससे कृति के लोग और चीज़ें गढ़ी गयी हैं। विषय चाहे जो हो, हर जगह एक ऐसा आवश्यक सौकर्य हो कि जो हमेशा यह याद दिलाता रहे हमें, कि यह कृति केवल प्राकृतिक तथ्यों का संकलन नहीं है, प्रत्युत एक अपेक्षित भेंट है।

यदि हमें यह दुनिया इसकी सारी बुराइयों के साथ सौंप दी जाए तो हम ठंडे दिमाग से इस पर सोचते ही नहीं रहेंगे बल्कि इसे अपनी घृणा से जीवन्त बनाकर, बुराइयों का भंडा फोड़कर उन्हें हटाने की कोशिश भी करेंगे। इस प्रकार लेखक का विश्व अपनी समूची गहराई में हमारी परीक्षा के लिए हमेशा पेश रहता है, चाहे हम उसकी तारीफ करें या लानत-मलामत। हमारे उदार स्नेह का मतलब होगा कि उसे ज्यों का त्यों कायम रखें। हमारी घृणा का मतलब यह होगा कि उसे बदलें और प्रशंसा का अर्थ यह कि उसकी नकल करें; यद्यपि साहित्य एक चीज़ है तो नैतिकता बिलकुल दूसरी। किंतु यह भी सच है कि अनिवार्य सौंदर्यात्मक वस्तु के दिल (मूल) में हमें अनिवार्य नैतिकता भी दीखती है। क्यों कि जो लिखता है उसे इस पहचान की तमीज़ भी होती है और इसीलिए वह लिखने की तकलीफ भी गवारा करता है। वह अपने पाठक की स्वतंत्रता बरकरार रखता है। पाठक भी जब कोई किताब खोलता है तब लेखकीय स्वतंत्रता को मान लेता है। अतः कोई भी कलाकृति, आप इसे जिस ओर से भी लें, लोगों की स्वतंत्रता में दृढ़विश्वास ही दरसाती है। इसलिए साहित्य केवल विषादी कभी नहीं होता क्यों कि उसमें कैसी ही और कितनी ही विषादी घटनाएँ क्यों न हों, वह मानवीय स्वतंत्रता पर कभी हावी नहीं होता। वस्तुतः साहित्य का सामना होते ही तो लोग अपनी स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं।

इसीसे कहा जाता है कि सिर्फ अच्छे और बुरे उपन्यास होते हैं। बुरे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपन्यासों का मकसद हमें चापलूसी से खुश करना होता है। अच्छा उपन्यास एक मानवीय अपेक्षा और विश्वासपूर्ण कृतित्व होता है। लेखक उसमें जो दुनिया पेश करता है उसमें अपनी और दूसरी स्वतन्त्रताओं का समाहार एवं सामंजस्य कर देता है इसलिए वह कभी अन्याय का समर्थक नहीं होता। अच्छे उपन्यास में एक आदमी द्वारा दूसरे को गुलाम बनाने की निंदा की जाती है। यह कल्पना की जा सकती है कि कोई नीग्रो लेखक अपने उपन्यास में गोरों के प्रति बहुत अधिक घृणा व्यक्त करे क्यों कि वह उसके द्वारा अपनी जाति की आजादी की मांग (आवाज) बुलद करता है, और मैं एक पाठक के नाते इस बात के लिए स्वतंत्र रहता हूँ कि अत्याचारियों के साथ कतई सहानुभूति न करूँ। किंतु यह एक क्षण के लिए भी कोई नहीं सोच सकता। कोई भी अच्छा उपन्यास यहूदियों, हबशियों, कामगारों या उपनिवेशवासियों के खिलाफ भी लिखा जा सकता है। (कोरा सैद्धांतिक तर्क बेकार होता है) मैं तो इस क्षण यही महसूसता हूँ कि मेरी स्वतंत्रता दूसरे सभी की स्वतंत्रता से अलग नहीं की जा सकती, मुझसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि मैं दूसरों को गुलाम बनाने की ताईद करूँ। अतएव लेखक चाहे निबंधकार हो या उपन्यासकार, वह रिसाला लिखता हो या हास्य-व्यंग्य, चाहे वह वैयक्तिक आवेगों को पेश करता हो या सामाजिक रीति-रिवाजों और यथास्थितियों की कटु आलोचना करता हो। वह साहित्यकार होने के नाते एक स्वतंत्र मानव की हैसियत से ही दूसरे स्वतंत्र मानवों को संबोधित करता है और इसका एक ही विषय होता है– स्वतंत्रता...

अतः यदि वह अपने पाठकों को गुलाम बनाने की कोशिश करेगा तो उसका हुनर ही खतरे में पड़ जाएगा। कोई लुहार यदि फासीवाद के चक्कर में आ जाए तो आदमी की शक्ल में उसकी जिंदगी पर खतरा आ सकता है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि उसका शिल्प (कारीगरी) भी खतरे में पड़ जाए। किंतु लेखक पर ऐसी परिस्थिति में दोनों ओर का प्रभाव पड़ता है; और जीवन से अधिक उसका शिल्प आक्रांत हो सकता है। मैंने ऐसे लेखक देखे हैं जो द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले ही फासीवाद में पूरी तरह रंग गये थे। नात्सियों ने जब उन्हें खूब इज्जत बख्शी और दुनियावी नियामतों से लादा तब वे एक तरह से वन्ध्यत्व-पीड़ित-से हो चुके थे। मुझे एक लेखक (द्रयूला रोशेल) का खयाल आता है। वह ईमानदार था लेकिन यही गलती कर बैठा, उसने यही साबित भी किया। उसने एक नात्सी-प्रेरित 'रिव्यू' (समीक्षण) का निदेशन स्वीकारा था। पहले कुछ महीनों तक तो वह अपने देशवासियों को खूब डाँटता-फटकारता और भाषण पिलाता रह था। लेकिन किसीने उसे जवाब ही नहीं दिया क्योंकि कोई भी ऐसा करने के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए स्वतंत्र नहीं था। वह तब बहुत चिड़-चिड़ाया। उसका अपने पाठकों की नब्ज से हाथ छूट गया लेकिन वह और भी जिद पकड़ता गया। फिर भी, ऐसा कोई आसार नहीं दिखा कि उसे थोड़ा भी समझा जा रहा है। न नफरत की, न गुस्से की, कुछ भी प्रतिक्रिया सामने नहीं आयी। उसने जर्मनों से शिकायतें भी कीं। उसके लेख बहुत ही बढ़िया थे; वे मात्र 'चीखें' ही बन गए। और फिर एक ऐसा क्षण भी आया जब वह अपनी छाती पीटने लगा; फिर भी कोई नतीजा नहीं निकला। खरीदे या बिके हुए पत्रकारों के सिवाय किसी ने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। लेकिन उन्हें तो वह धिक्कारता था। उसने इस्तीफा दिया, उसे वापस लिया, फिर कुछ बोला, अब भी रेगिस्तान में ही। आखिर वह चुप हो गया जैसे दूसरे सभी की चुप्पी ने उसका मुँह सी दिया हो, या कुछ ठूंस दिया हो... उसने दूसरों की गुलामी चाही थी, लेकिन अपने खफ्ती दिमाग से सोचा यही था शायद कि वह एकदम स्वच्छंद और स्वतंत्र है। उसमें जो आदमी बचा था, उसने उसे खूब ज़ोरों से अभिनंदित किया होगा लेकिन उसका लेखक उसे बर्दाश्त नहीं कर पाया। जब यह सब चल रहा था, दूसरे लोगों ने, जो बहुसंख्यक थे, यह अच्छी तरह समझ लिया कि लेखन स्वातंत्र्य का मतलब नागरिकों की स्वतंत्रता होता है... कोई गुलामों के लिए नहीं लिखता। गद्य की कला केवल एक ही तरह की शासन-सत्ता से बंधी होती है– और उसका नाम है लोक-तंत्र। जब एक की जान पर खतरा होता है तो दूसरा भी बचा नहीं रहता। अतः उनकी रक्षा सिर्फ कलम से करना बिलकुल नाकाफी है। एक दिन ऐसा आ जाता है कि जब कलम रुकने को बाध्य की जाती है और तब लेखक को भी हथियार उठा लेने चाहिए। इस प्रकार साहित्य की ओर आप चाहे जैसे आए हों, आपने किसी भी मतवाद या रायों का प्रचार किया हो, साहित्य आपको मैदान में खड़ा कर देता है। लेखन एक तरह की 'आजादी की माँग' है, 'स्वतंत्र की चाह' हैं; एक बार भी आपने यदि इसे शुरू किया तो आप चाहे-अनचाहे उसके प्रति अपने को प्रतिबद्ध हो पाते हैं।

प्रतिबद्ध किसके प्रति ? स्वातंत्र्य-रक्षा के प्रति ? यह कहना आसान है। क्या यह आदर्श मूल्यों (गरिमाओं) के संरक्षक होने का जैसा मामला है जैसा कि लेखक बेंदा के क्लर्क ने गद्दारी करने से पहले किया था (बेंदा की पुस्तक को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिंदी में शीर्षक दें तो वह "बुद्धिजीवियों की गद्दारी" कही जाएगी); अथवा, क्या यह उस ठोस आज़ादी की बात है जिससे हमारा रोज़ वास्ता पड़ता है, और जिसकी रक्षा राजनैतिक और सामाजिक संघर्षों में हमारी हिस्सेदारी या पक्षधरता से अवश्य की जानी चाहिए ? ... यह सवाल और भी एक सवाल से बंधा है, जो देखने में बहुत आसान-सा है लेकिन कोई अपने आपसे पूछता नहीं है : "कोई किसके लिए लिखता है ?

(क्रमशः)

१६ / डी विल्सन पथ, गिरगांव ४ पृथ्वीनाथ शास्त्री

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैन नीतिदर्शन की सामाजिक सार्थकता□

जैन धर्म को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है, वे दो हैं– एक वैयक्तिक मुक्ति को प्रमुखता और दूसरा निवृत्ति प्रधान आचार मार्ग का प्रस्तुतीकरण। यह सत्य है कि जैन धर्म निवृत्तिपरक है और वैयक्तिक मोक्ष को जीवन का परम साध्य स्वीकार करता है, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि उसके नीतिदर्शन की कोई सामाजिक सार्थकता नहीं है, क्या एक भ्रांति नहीं होगी? यद्यपि यह सही है कि वह वैयक्तिक चरित्र निर्माण पर बल देता है किन्तु वैयक्तिक चरित्र के निर्माण हेतु उसने जिस आचार मार्ग का प्रस्तुतीकरण किया है, वह सामाजिक मूल्यों से विहीन नहीं है। प्रस्तुत निबन्ध में हम इन्हीं मूल प्रश्नों के सन्दर्भ में यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन नीति-दर्शन की सामाजिक उपादेयता क्या है?

क्या निवृत्ति सामाजिक विमुखता की सूचक है?

सर्वप्रथम यह माना जाता है कि जो आचार दर्शन निवृत्तिपरक हैं, वे व्यक्तिपरक हैं और जो आचार दर्शन प्रवृत्ति परक हैं, वे समाजपरक हैं। पं. सुखलालजी भी लिखते हैं कि प्रवर्तक धर्म का संक्षेप सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था हो, उसे इस तरह नियम और कर्तव्यबद्ध करना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा के अनुरूप सुख लाभ करे। प्रवर्तक धर्म समाजगामी था, इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर सामाजिक कर्तव्यों का, जो ऐहिक जीवन से संबंध रखते हैं, पालन करे। निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है– निवर्तक धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिये मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह भी हो आत्मसाक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का, प्रयत्न करे।[1] यद्यपि जैन धर्म निवर्तक

□ उदयपुर वि. वि. की संगोष्ठि में पठित निबन्ध

१. जैनधर्म का प्रा., पृ. ५६–५९।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परम्परा का हामी है, लेकिन उसमें सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। वह यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में भी होना चाहिये। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है। बारह वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आए और चतुर्विध संघ की स्थापना की एवं उसको जीवन भर मार्गदर्शन देते रहे। वस्तुतः उनकी निवृत्ति उनके द्वारा किये जानेवाले सामाजिक कल्याण में साधक ही बनी है, बाधक नहीं। वैयक्तिक जीवन में नैतिक स्तर का विकास लोकजीवन या सामुदायिक जीवन की प्राथमिकता है। महावीर सामाजिक सुधार और सामाजिक सेवा की आवश्यकता तो मानते थे किन्तु वे व्यक्ति-सुधार से समाज-सुधार की दिशा में बढ़ना चाहते थे। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है, वह सुधरेगा तो ही समाज सुधरेगा। व्यक्ति के नैतिक विकास के परिणाम स्वरूप जो सामाजिक जीवन फलित होगा, वह सुव्यवस्था और शान्ति से युक्त होगा, उसमें संघर्ष और तनाव का अभाव होगा। जब तक व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति नहीं आती, तब तक सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने व्यक्तिगत जीवन का शोधन करने के लिये राग-द्वेष के मनोविकारों और असत्यकर्मों से निवृत्ति आवश्यक है। जब व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति आयेगी, तो जीवन पवित्र और निर्मल होगा, अंतःकरण विशुद्ध होगा और तब जो भी सामाजिक प्रवृत्ति फलित होगी वह लोक-हितार्थ और लोक-मंगल के लिए होगी। जब तक व्यक्तिगत जीवन में संयम और निवृत्ति के तत्त्व न होंगे, तब तक सच्चा सामाजिक जीवन फलित ही नहीं होगा। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और अपनी वासनाओं का नियंत्रण नहीं कर सकता, वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। उपाध्याय अमर मुनि के शब्दों में जैनदर्शन की निवृत्ति का मर्म यही है कि व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों एवं द्वन्द्वों से दूर रहे, यह जैन दर्शन की आचार संहिता का पहला पाठ है—अपने व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीन भोग और आकांक्षाओं से निवृत्ति लेकर ही समाज कल्याण के लिये प्रवृत्त होना जैनदर्शन का पहला नीति धर्म है।[1] सामाजिक नैतिकता और व्यक्तिगत नैतिकता परस्पर विरोधी नहीं है। विना व्यक्तिगत नैतिकता को उपलब्ध किये सामाजिक नैतिकता की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिये घातक ही होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में निवृत्ति

---

१. अमर भारती, अप्रैल १९६६; पृ. २१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का जो स्वर मुखर हुआ है, वह समाजविरोधी नहीं है, वह सच्चे अर्थों में सामाजिक जीवन का साधक है। चरित्रवान व्यक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठे हुए व्यक्ति ही किसी आदर्श समाज का निर्माण कर सकते हैं। वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं, क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है? समाज जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है व्यक्ति अपने और पराये के भाव से तथा अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठे, चूंकि जैन नीति दर्शन हमें इन्हीं तत्वों की शिक्षा देता हैं, अतः वह सच्चे अर्थों में सामाजिक है, असामाजिक नहीं है। जैन दर्शन का निवृत्तिपरक होना सामाजिक विमुखता का सूचक नहीं है। अशुभ से निवृत्ति ही शुभ में प्रवृत्ति का साधन बन सकती है। महावीर की नैतिक शिक्षा का सार यही है। वे 'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहते हैं– एक ओर से निवृत्त होओ। और एक ओर प्रवृत्त होओ। असंयम से निवृत्त होओ, संयम में प्रवृत्त होओ।[1] वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक प्रवृत्ति का आधार है। संयम ही सामाजिक जीवन का आधार है।

सर्वहित और लोकहित के सन्दर्भ में जैन-दृष्टि :

यद्यपि जैन दर्शन में आत्मकल्याण और वैयक्तिक मुक्ति को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है किन्तु इस आधार पर भी उसे असामाजिक नहीं कहा जा सकता है। जिस लोक करुणा और लोकहित की अनुपम भावना से अर्हत प्रवचन का प्रस्फुटन होता है, उसे नहीं झुठलाया जा सकता है।

जैनाचार्य समन्तभद्र जिन-स्तुति करते हुए कहते हैं– हे भगवान, आपकी यह संघ (समाज) व्यवस्था सभी प्राणियों के सर्व दुःखों का अन्त करनेवाली और सबका कल्याण (सर्वोदय) करनेवाली है।[2] इससे बढ़कर लोक आदर्श और लोक मंगल की कामना क्या हो सकती है? प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है– भगवान का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिये है।[3] जैन साधना लोक मंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ती है। उसी सूत्र में आगे यह भी बताया गया है कि जैन साधना के पांचों महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिये ही हैं।[4] अहिंसा विवेचना करते हुए कहा गया है कि साधना के प्रथम स्थान पर स्थित यह अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करने

१. उत्तराध्ययन, ३१।२
२. सर्वोदय दर्शन– आमुख पृ. ६ पर उद्धृत
३. प्रश्न व्याकरण सूत्र २१।२२
४. प्रश्न व्याकरण १।१।२१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाली है । [1] यह भगवती अहिंसा प्राणियों के लिये निर्बाध रूप से हितकारिणी है। यह प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है' । [2] तीर्थंकर नमस्कार सूत्र (नमोत्थुणं) में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि जिन विशेषणों का उपयोग हुआ है वे भी जैन दृष्टि की लोक मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं । तीर्थंकरों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए । [3] यदि ऐसा माना जाय कि जैन साधना केवल आत्महित, आत्म-कल्याण की बात कहती है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन या संघ संचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता क्यों कि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहता है । अतः मानना पड़ेगा कि जैन साधना का आदर्श मात्र आत्मकल्याण ही नहीं, वरन् लोककल्याण भी है ।

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को श्रेष्ठता को सदैव ही महत्त्व दिया है । जैन विचारणा के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊँचाईपन स्थित सभी जीवनमुक्त आध्यामिक पूर्णता की दृष्टि से, यद्यपि समान ही होते हैं, फिर भी जैन विचारकों ने उनकी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर उनमें उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया है। एक सामान्य केवली (जीवनमुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ तो समान ही होती हैं, फिर भी तीर्थंकर को लोकहित की दृष्टि के कारण सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है । जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेनेवाले व्यक्तियों के, उनकी लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं– १. तीर्थंकर, २. गणधर और ३. सामान्य केवली ।

१– तीर्थंकर– तीर्थंकर वह है जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना मार्ग में जाता है और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी लोकहित में लगा रहता है । सर्वहित, सर्वोदय और सलोक का कल्याण ही जिसके जीवन का ध्येय बन जाता है । [4]

---

१. वही, १।१।३
२. वही, १।२।२२
३. सूत्रकृतांग (टी.) १।६।४
४. योगबिन्दु २८५-२८८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२– गणधर – सहवर्गीय हित के संकल्प को लेकर साधना-क्षेत्र में प्रविष्ट होनेवाले और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सहवर्गियों के हित एवं कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहनेवाले साधक गणधर कहलाते हैं। समूह हित या गण–कल्याण गणधर के जीवन का ध्येय होता है।[1]

३– सामान्य केवली – आत्मकल्याण को ही जिसने अपनी साधना का ध्येय बनाया होता है और जो इसी आधार पर साधना मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि करता है, वह सामान्य केवली कहलाता है।[2]

साधारण रूप में विश्वकल्याण, वर्ग-कल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गई हैं, जिनमें विश्वकल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। जिस प्रकार बौद्ध विचारणा में बोधिसत्व और अर्हत के आदर्शों में भिन्नता है, उसी प्रकार जैन साधना में तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों में तारतम्य है।

इन सबके अतिरिक्त जैन साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से भी ऊपर है, विशेष परिस्थितियों में तो संघ के कल्याण के लिये वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। जैन साहित्य में आचार्य काल की कथा इसका उदाहरण है।[3]

स्थानांग सूत्र में जिन दस धर्मों (कर्तव्यों)[4] का निर्देश दिया गया है, उनमें संघ धर्म, गणधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म की उपस्थिति इस बात का सबल प्रमाण है कि जैन दृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् उसमें लोकहित या लोक–कल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है।

यद्यपि जैनाचारदर्शन लोकहित, लोकमंगल की बात कहता है, लेकिन उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिये स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोक कल्याण के लिये समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिली हैं वे वस्तुतः संसार की हैं, हमारी नहीं; सांसारिक उपलब्धियाँ

---

१. योगबिन्दु २८९
२. योगबिन्दु २९०
३ निशीथचूर्णि गा. २८६०
४. स्थानांग १०।७६०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संसार के लिए हैं, अंतः उनका लोकहित के लिये विसर्जन किया जाना चाहिए। लेकिन उसे यह स्वीकार नहीं है कि आध्यात्मिक विकास या वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जावे। ऐसा लोकहित, जो व्यक्ति के चरित्र के पतन अथवा आध्यात्मिक कुंठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है, लोकहित और आत्महित के संदर्भ में उसका स्वर्णिम सूत्र है आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुंठन पर ही लोकहित फलित होता हो तो वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।[१]

आत्महित स्वार्थ ही नहीं है :– यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि जैन धर्म का यह आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्म-काम वस्तुतः निष्काम होता है, क्योंकि उसकी कोई कामना नहीं होती है अतः उसका स्वार्थ भी नहीं होता। आत्मार्थी कोई भौतिक उपलब्धि नहीं चाहता है। वह तो उनका विसर्जन करता है। स्वार्थी तो वह है जो यह चाहता है कि सभी लोग उसकी भौतिक उपलब्धियों के लिये कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग और द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं जब कि आत्मकल्याण का प्रारंभ ही राग-द्वेष की वृत्तियों की क्षणिकता से होता है। राग-द्वेष से युक्त होकर आत्मकल्याण की सम्भावना ही नहीं रहती। यथार्थ आत्महित में राग-द्वेष का अभाव है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी तक है जबकि उनमें कहीं राग-द्वेष की वृत्ति निहित हो। रागादि भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जानेवाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। जिस प्रकार शासन के द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाज-कल्याण अधिकारी वस्तुतः लोकहित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए लोकहित करता है। उसी प्रकार राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्त्ता नहीं है, उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश-अर्जन की भावना या भावी लाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ वस्तुतः स्वार्थ ही है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से शून्य अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है लेकिन उस अवस्था में न तो अपना रहता है न पराया' क्योंकि जहाँ राग है वहीं 'मेरा' है और जहाँ मेरा है वहीं पराया है। राग की शून्यता होने पर अपने और पराये का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग शून्यता की भूमि पर स्थित होकर किया जानेवाला आत्महित भी लोकहित होता है और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष

१. उद्धृत आत्मसाधना संग्रह, पृ. ४४१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्म-दृष्टि होती है जिसमें न कोई अपना है, कोई पराया है। स्वार्थ-परार्थ की जैसी समस्या यहां रहती ही नहीं।

जैन विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठ जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ परार्थ का संघर्ष भी समाप्त हो जाता है। जैन विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं।

१. द्रव्य लोकहित, २. भाव लोकहित और ३. पारमार्थिक लोकहित

१– द्रव्य लोकहित[1]– यह लोकहित का भौतिक स्तर है। भौतिक उपादानों जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकसेवा करना द्रव्य लोकहित है। यह दान और सेवा का क्षेत्र है। पुण्य के नव प्रकारों में आहार दान, वस्त्रदान, औषधिदान आदि का उल्लेख यह बताता है कि जैनदर्शन दान और सेवा के आदर्श को स्वीकार करता है। तीर्थंकर द्वारा दीक्षा के पूर्व दिया जाने वाला दान जैन दर्शन में सामाजिक सेवा और सहयोग का क्या स्थान है, इसे स्पष्ट कर देता है। मात्र यहीं नहीं, महावीर से जब यह पूछा गया था कि आपकी भक्ति करने वाले वृद्ध, ग्लान एवं रोगी की सेवा करने वाले में कौन श्रेष्ठ है तो उनका स्पष्ट उत्तर था 'सेवा करने वाला श्रेष्ठ है।' जैन समाज के द्वारा आज भी जन–सेवा और प्राणी–सेवा के जो अनेक कार्य किये जा रहे हैं, वे इसके प्रतीक हैं। फिर भी यह एक ऐसा स्तर है जहां हितों का संघर्ष होता है। एक का हित दूसरे के अहित का कारण बन जाता है। अतः द्रव्य लोकहित एकान्त रूप से आचरणीय भी नहीं कहा जा सकता। यह सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्वहित की पूर्णतया उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहां तो स्वहित और परहित में उचित समन्वय बनाना, यही अपेक्षित है। पाश्चात्य नैतिक विचारणा के परिष्कारित स्वार्थवाद, बौद्धिक परार्थवाद और सामान्य शुभतावाद का विचार-क्षेत्र लोकहित का यह भौतिक स्वरूप ही है।

२– भाव लोकहित[2]– लोकहित का यह भौतिक स्तर से ऊपर स्थित है, जहां पर लोकहित के जो साधन हैं वे ज्ञानात्मक या चैत्तनिक होते हैं। इस स्तर

---

१. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ. ६९७

२. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ. ६९७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर परार्थ और स्वार्थ में संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ की भावनाएं इस स्तर को अभिव्यक्त करती हैं।

३. पारमार्थिक लोकहित - यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है, जहां स्वहित और परहित में कोई संघर्ष नहीं रहता, कोई द्वैत नहीं रहता। यहां पर लोकहित का रूप होता है- यथार्थ जीवन दृष्टि के सम्बन्ध में मार्गदर्शन। यहाँ स्वयं द्वारा अहित करना नहीं और अहित करने वाले का हृदय-परिवर्तन कर उसे सामाजिक अहित से विमुख करना।

युगीन सामाजिक परिस्थितियों में जैन नीति दर्शन का योगदान :

जैन आचार दर्शन ने न केवल अपने युग की समस्याओं का समाधान किया है वरन् वह वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान में भी पूर्णतया सक्षम है। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे प्राचीन युग हो या वर्तमान युग, मानव जीवन की समस्यायें सभी युगों में लगभग समान रही हैं। मानव जीवन की समस्याएँ विषमता जनित हैं। वस्तुतः विषमता ही समस्या है और समता ही समाधान है। ये विषमताएँ अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती हैं। प्रमुख रूप से वर्तमान मानव जीवन की विषमताएँ निम्न हैं- १. सामाजिक वैषम्य, २. आर्थिक वैषम्य, ३. वैचारिक वैषम्य, ४. मानसिक वैषम्य। अब हमें विचार यह करना है कि क्या जैन आचार दर्शन इन विषमताओं का निराकरण कर समत्व का संस्थापन करने में समर्थ है? नीचे हम प्रत्येक प्रकार की विषमताओं के कारणों का विश्लेषण और जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत उनके समाधानों पर विचार करेंगे।

१. सामाजिक विषमता- चेतन जगत् के अन्य प्राणियों के साथ जीवन जीना होता है। वह सामुदायिक जीवन है। सामुदायिक जीवन का आधार सम्बन्ध है और नैतिकता उस सम्बन्धों की शुद्धि का विज्ञान है। पारस्परिक सम्बन्ध निम्न प्रकार के हैं- १. व्यक्ति और परिवार, २. व्यक्ति और जाति, ३ व्यक्ति और समाज, ४. व्यक्ति और राष्ट्र, ५. व्यक्ति और विश्व। इन संबंधों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है। जब तक सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़ा होता है, तब तक इन सम्बन्धों में विषमता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है। जब राग का तत्व द्वेष का सहगामी होकर काम करने लगता है तो पारस्परिक सम्बन्धों में संघर्ष और टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। राग के कारण 'मेरा' या ममत्व का भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं। परिणामस्वरूप भाई अजातीवाद,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जातिवाद, सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद का जन्म होता हैं। आज के हमारे सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही तत्व सबसे अधिक बाधक हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से हमें ऊपर उठने नहीं देते हैं। यही आज की सामाजिक विषमता के मूल करण हैं।

अनैतिकता का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा है। व्यक्ति जिसे अपना मानता हैं, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर-व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्व वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन किये बिना अपेक्षित नैतिक एवं सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता. व्यक्ति का 'स्व' चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वार्थ वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से नैतिकता एवं सामाजिकता की विरोधी हो सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा नैतिक एवं सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। मुनि नथमलजी लिखते हैं कि 'परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जानेवाली अनैतिकता का नियमन नहीं करता वैसे ही जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व अन्तरराष्ट्रीय अनैतिकता का नियामक नहीं होता। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्तराष्ट्रीय अनैतिकता कहीं अधिक है। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई है, प्रामाणिकता है, वे भी अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य-निष्ठ और प्रामाणिक नहीं हैं।'[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या ममत्व से ऊपर नहीं उठता, तब तक नैतिकता का सद्भाव सम्भव ही नहीं होता। रागयुक्त नैतिकता, चाहे उसका आधार राष्ट्र ही क्यों न हों, सच्चे अर्थों में नैतिकता नहीं हो सकती। सच्चा नैतिक जीवन वीतराग अवस्था में ही सम्भव हो सकता है और जैन आचार दर्शन इसी वीतराग जीवन दृष्टि को ही अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सामाजिक जीवन के लिये एक वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर सामाजिक नैतिकता को खड़ा किया जा सकता है और सामाजिक जीवन वैषम्यों को समाप्त किया जा सकता है। सराग नैतिकता कभी भी सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं कर सकती हैं। स्वार्थों के आधार पर खड़ा सामाजिक जीवन अस्थायी ही होगा।

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृष्ठ ३-४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरे इस सामाजिक संबंध में व्यक्ति का अहम् भाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं, इनके कारण भी सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता के मूल में यही कारण है। वर्तमान युग में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतंत्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना होती है तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है। जैन आचार दर्शन अहं के प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतंत्रता को समाप्त करता है। दूसरी और जैन दर्शन का अहिंसा सिद्धांत भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धांत स्वतंत्रता के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध आचार दर्शन जहाँ एक ओर अहिंसा के सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर वर्णभेद, जातिभेद एवं ऊंच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होनेवाली विषमता के कारणों का विश्लेषण करें तो यह पाते हैं कि उसके मूल में रागात्मकता ही है। यही राग एक ओर अपने और पराये के भेद उत्पन्न कर सामाजिक संबंधों को अशुद्ध बनाता है तथा दूसरी ओर अहं भाव का प्रत्यय उत्पन्न कर सामाजिक जीवन में ऊंच नीच की भावनाओं का निर्माण करता है। इस प्रकार राग का तत्व ही मान के रूप में एक दूसरी दिशा ग्रहण कर लेता है जो भी सामाजिक विषमता को उत्पन्न करता है। यही राग की वृत्ति ही संग्रह (लोभ) और कपट की भावनाओं को भी विकसित करती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में विषमता से उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण होते हैं– १. संग्रह (लोभ) २. आवेश (क्रोध) ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना)। जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, यही चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। १. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रमाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। २. आवेश की मनो-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएं आदि होते हैं। ३. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार और क्रूर व्यवहार होता है। इसी प्रकार माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सारा सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि जैन दर्शन अपने साधना मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर, सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है।

२. आर्थिक वैषम्य – आर्थिक वैषम्य व्यक्ति और भौतिक जगत् के संबंधों से उत्पन्न हुई विषमता है। चेतना का जब भौतिक जगत् से संबंध होता है तो उसे अनेक वस्तुएँ अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है तो एक ओर संग्रह होता जाता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है, इसी से सामाजिक जीवन में आर्थिक विषमता के बीज का वपन होता है। जैसे जैसे एक ओर संग्रह बढ़ता है, दूसरी ओर गरीबी बढ़ती है और परिणामस्वरूप आर्थिक वैषम्य बढ़ता जाता है। आर्थिक वैषम्य के मूल में संग्रह भावना ही अधिक है। कहा यह जाता है कि अभाव के कारण संग्रह की चाह उत्पन्न होती है लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और ही है। स्वाभाविक अभाव की पूर्ति सम्भव है और शायद विज्ञान हमें इस दिशा में सहयोग दे सकता है लेकिन कृत्रिम अभाव की पूर्ति सम्भव नहीं। उपाध्याय अमरमुनि जी लिखते हैं कि "गरीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं, किन्तु पहाड़ों की असीम ऊंचाईयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे, तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगे सम्पत्ति का विसर्जन होगा, तो गरीबी अपने आप दूर हट जाएगी।"[2] वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति में परिग्रह के विसर्जन की भावना उद्भूत हो। परिग्रह के विसर्जन से ही आर्थिक वैषम्य समाप्त किया जा सकता है। जब तक संग्रह की वृत्ति समाप्त नहीं होती, आर्थिक समता नहीं आ सकती।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण असंग्रह की वृत्ति से ही सम्भव है और जैन दर्शन अपने अपरिग्रह के सिद्धांत के द्वारा इस आर्थिक वैषम्य के निराकरण का

---

१. देखिए– नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ. २

२. जैन प्रकाश, ८ अप्रैल १९६९, पृ. ११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयास करता है। जैन आचार दर्शन में गृहस्थ जीवन के लिये भी जिस परिग्रह एवं उपभोग-परिभोग के सीमांकन का विधान किया गया है, वह आर्थिक वैषम्य के निराकरण का एक प्रमुख साधन हो सकता है। आज हम जिस समाजवाद एवं साम्यवाद की चर्चा करते हैं, उसका दिशा-संकेत महावीर ने अपने व्रत-विधान में किया था। जैन दर्शन सम्पदा के उत्पादन पर नहीं अपितु उसके अपरिमित संग्रह और उपभोग पर नियंत्रण लगाता है।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण अनासक्ति और अपरिग्रह की साधना के द्वारा ही संभव है। यदि हम सामाजिक जीवन में आर्थिक समानता की बात करना चाहते हैं तो हमें व्यक्तिगत उपभोग एवं सम्पत्ति की सीमा का निर्धारण करना ही होगा। परिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन में समत्व का सृजन कर सकता है। जैन दर्शन का अपरिग्रह सिद्धांत इस संबंध में पर्याप्त सिद्ध होता है। वर्तमान युग में मार्क्स ने आर्थिक वैषम्य को दूर करने का जो सिद्धांत साम्यवादी समाज के रचना के रूप में प्रस्तुत किया, वह यद्यपि आर्थिक विषमताओं के निराकरण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, लेकिन उसकी मूलभूत कमी यही है कि वह मानव समाज पर ऊपर से थोपा जाता है, उसके अन्तर से सहज उभारा नहीं जाता है। जिस प्रकार बाह्य दबावों से वास्तविक नैतिकता प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार केवल कानून के बल पर लाया गया आर्थिक साम्य सच्चे आर्थिक समत्व का प्रकटन नहीं करता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य में स्वतः ही त्याग की वृत्ति का उदय हो और वह स्वेच्छा से ही सम्पत्ति के विसर्जन की दिशा में आगे आवे। भारतीय परंपरा और विशेषकर जैन परंपरा न केवल सम्पत्ति के विसर्जन की बात करती है वरन् उसके समवितरण पर भी जोर देती है। हमारे प्राचीन साहित्य मे दान के स्थान पर संविभाग शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। जो यह बताता है कि जो कुछ हमारे पास है, उसका समविभाजन करना है। महावीर का यह उद्घोष कि 'असंविभागी णहु तस्स मोक्खो' स्पष्ट बताता है कि जैन आचार दर्शन आर्थिक विषमता के निराकरण के लिये समवितरण की धारणा को प्रतिपादित करता है। जैन दर्शन के इन सिद्धांतों को यदि उन्हें युगीन सन्दर्भों में नवीन दृष्टि से उपस्थित किया जाय तो समाज की आर्थिक समस्याओं का निराकरण खोजा जा सकता है।

वर्तमान युग में भ्रष्टाचार के रूप में समाज के आर्थिक क्षेत्र में जो बुराई पनप रही है, उसके मूल में भी या तो व्यक्ति की संग्रहेच्छा है या भोगेच्छा। भ्रष्टाचार केवल अभावजनित बीमारी नहीं है, वरन् वह एक मानसिक बीमारी है, जिसके मूल में संग्रहेच्छा एवं भोगेच्छा के कीटाणु रहे हुए हैं। वस्तुतः वह आव-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्यकताओं के कारण नहीं वरन् तृष्णा के कारण उत्पन्न होती है। आवश्यकताओं का निराकरण पदार्थों को उपलब्ध करके किया जा सकता है, लेकिन इस तृष्णा का निराकरण पदार्थों के द्वारा संभव नहीं है। इसलिए जैन दर्शन ने अनासक्ति की वृत्ति को नैतिक जीवन में प्रमुख स्थान दिया है। तृष्णाजनित विकृतियाँ केवल अनासक्ति द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। हमारे वर्तमान युग की प्रमुख कठिनाई यह नहीं है कि हमें सामान्य जीवन जीने के साधन उपलब्ध नहीं हैं अथवा उनका अभाव है, वरन् कठिनाई यह है कि आज का मानव तृष्णा से इतना अधिक ग्रसित है कि वह एक अच्छा सुखद एवं शांतिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता है। मनुष्य की वासनाएँ ही उसे अच्छे जीवन जीने में बाधक हैं। यदि किसी सीमा तक हम यह भी मान लें कि अभाव के कारण आर्थिक-भ्रष्टाचार का जन्म होता है तो जहाँ तक कृत्रिम-अभाव का प्रश्न है वह कुछ व्यक्तियों के द्वारा किये गये अवैध संग्रह का परिणाम है। किंतु जैन नीति दर्शन ने गृहस्थ साधक के अनर्थदण्ड विरमण व्रत में उपभोग के पदार्थों के अनावश्यक संग्रह को निषिद्ध ठहराया है। यदि अभाव वास्तविक हो, उसे उपभोग का नियन्त्रण करके दूर किया जा सकता है जिसके लिए उपभोग-परिभोग मर्यादा नामक व्रत का विधान है। इस प्रकार जैन दर्शन परिग्रह और उपभोग के परिसीमन के द्वारा समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता की समाप्ति का सूत्र प्रस्तुत करता है।

३. वैचारिक वैषम्य – विभिन्न वाद और उनके कारण उत्पन्न वैचारिक संघर्ष भी सामाजिक जीवन का एक बड़ा अभिशाप है। वर्तमान युग में राष्ट्रों के जो संघर्ष हैं, उसके मूल में आर्थिक और राजनैतिक प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि वैचारिक साम्राज्यवाद की स्थापना। वर्तमान युग में न तो राजनैतिक अधिकार लिप्सा से उत्पन्न साम्राज्यवाद की भावना पाई जाती है और न आर्थिक साम्राज्यों की स्थापना का प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण है, वरन् वर्तमान युग में बड़े राष्ट्र अपने वैचारिक साम्राज्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। जैन आचार दर्शन अपने अनेकांतवाद और अनाग्रह के सिद्धांत के आधार पर इन वैचारिक संघर्षों का निराकरण प्रस्तुत करता है। अनेकांत का सिद्धांत वैचारिक आग्रह के विसर्जन की बात करता है और वैचारिक क्षेत्र में दूसरे के विचारों एवं अनुभूतियों को भी उतना ही महत्त्व देता है, जितना कि स्वयं के विचारों एवं अनुभूतियों को।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की विषमताएँ हमारे सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। जैन आचार दर्शन उपर्युक्त तीनों विषमताओं के निराकरण के लिए अपने आचार दर्शन में तीन सिद्धांत प्रस्तुत करता है। सामाजिक वैषम्य के निराकरण को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिये उसने अहिंसा एवं सामाजिक समता का सिद्धांत प्रस्तुत किया हैं। आर्थिक वैषम्य के निराकरण के लिए वह परिग्रह एवं उपभोग के परिसीमन का सिद्धांत प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार वौद्धिक एवं वैचारिक संघर्षों के निराकरण के लिए अनाग्रह और अनेकांत के सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं। ये सिद्धांत क्रमशः सामाजिक समता, आर्थिक समता और वैचारिक समता की स्थापना करते हैं। लेकिन ये सभी नैतिकता के वाह्य एवं सामाजिक आधार हैं। नैतिकता का आन्तरिक आधार तो हमारा मनोजगत् ही है। जैन आचार दर्शन मानसिक तनावों एवं विक्षोभों के निराकरण के लिये भी विशेष रूप से विचार करता है क्योंकि यदि व्यक्ति का मानस विक्षोभ एवं तनावयुक्त है तो सामाजिक जीवन भी अशांत होगा।

४. **मानसिक वैषम्य** — मानसिक वैषम्य मनोजगत् में तनाव की अवस्था का सूचक है। जैन आचार दर्शन ने राग द्वेष एवं चतुर्विध कषायों को मनोजगत् के वैषम्य का मूल कारण माना है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों आवेग या कषाय हमारे मानसिक समत्व को भंग करते हैं। यदि हम व्यक्तिगत जीवन के विघटनकारी तत्वों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करें तो हम उनके मूल में कहीं न कहीं जैन दर्शन में प्रस्तुत कषायों एवं नो– कषायों (आवेगों और उप-आवेगों) की उपस्थिती ही पाते हैं। जैन आचार दर्शन कषाय–त्याग के रूप में हमें मनोजगत् के तनाव के निराकरण का संदेश देता है। वह बताता है कि हम जैसे जैसे इन कषायों के ऊपर विजय लाभ करते हुए आगे बढ़ेंगे, वैसे ही हमारे व्यक्तित्व की पूर्णता का प्रकटन भी होगा। जैन दर्शन में साधकों की चार श्रेणियां मानी गई हैं, जो इन पर क्रमिक विजय को प्रकट करती हैं। इनके प्रथम तीव्रतम रूप पर विजय पाने पर साधक में सम्यक् दृष्टिकोन का उद्‌भव होता है। द्वितीय मध्यम रूप पर विजय प्राप्त करने से साधक श्रावक या गृहस्थ उपासक की श्रेणी में जाता है। तृतीय रूप पर विजय करने पर वह श्रमणत्व का लाभ करता है और उनके सम्पूर्ण विजय पर वह आत्मपूर्णता को प्रकट कर लेता है। कषायों की पूर्ण समाप्ति पर एक पूर्ण व्यक्तित्व का प्रकटन हो जाता है। इस प्रकार जैन आचार दर्शन राग-द्वेष एवं कषाय के रूप में हमारे मानसिक तनावों का कारण प्रस्तुत करता है और कषाय-जय के रूप में मानसिक समता के निर्माण की धारणा को स्थापित करता है।

प्रत्येक व्यक्ति यह अपेक्षा करता है कि उसका जीवन शान्त एवं सुखी हो। लेकिन मानव मन की अशान्ति एवं उसके अधिकांश दु:ख कषाय चतुष्क-जनित हैं। अतः शान्त और सुखी जीवन के लिये मानसिक तनावों एवं मनोवेगों से मुक्ति पाना आवश्यक है। क्रोधादि कषायों पर विजय लाभ करके समत्व के सृजन के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिये हमें मनोवेगों से ऊपर उठना होगा। जैसे-जैसे हम मनोवेगों या कषाय चतुष्क से ऊपर उठेंगे वैसे-वैसे सच्ची शान्ति का लाभ प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार-दर्शन सामाजिक जीवन से विषमताओं के निराकरण और समत्व के सृजन के लिए एक ऐसी आचार विधि प्रस्तुत करता है जिसके सम्यक् परिपालन से सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही जीवन में सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। उसने सामाजिक जीवन में संबंधों के शुद्धिकरण पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि उसके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक आदेश अपनी प्रकृति में निषेधात्मक अधिक प्रतीत होते हैं यद्यपि विधायक सामाजिक आदेशों का उसमें पूर्ण अभाव नहीं है। उसके कुछ प्रमुख सामाजिक आदेश निम्न हैं—

निष्ठा सूत्र—

१) सभी आत्मायें स्वरूपतः समान हैं, अतः सामाजिक जीवन में ऊँच-नीच के वर्गभेद या वर्णभेद खड़े मत करो।

२) सभी आत्मायें समान रूप से सुखाभिलाषी हैं, अतः दूसरे के हितों का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नहीं है। सभी के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा तुम उनसे स्वयं के प्रति चाहते हो।

३) संसार में प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एवं विद्वेष मत रखो।

४) गुणीजनों के प्रति आदर भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षा भाव रखो।

५) संसार में जो दुःखी एवं पीड़ित जन हैं, उनके प्रति करुणा और वात्सल्य भाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हें सेवा और सहयोग प्रदान करो।

व्यवहार सूत्र—

१) किसी निर्दोष-प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्यजनों की स्वतंत्रता में बाधक मत बनो।

२) किसी का वध या अंगभेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो।

३) किसी की आजीविका में बाधक मत बनो।

स्परिक विश्वास को भंग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़पो और न तो किसी के रहस्यों को प्रकट करो।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५) सामाजिक जीवन में गलत सलाह मत दो, अफवाह मत फैलाओ और दूसरों के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।
६) अपने स्वार्थ की सिद्धि के हेतु असत्य घोषणा मत करो।
७) न तो स्वयं चोरी करो, न चोर को सहयोग दो, चोरी का माल भी मत खरीदो।
८) व्यवसाय के क्षेत्र में नाप तौल में अप्रमाणिकता मत रखो और वस्तुओं में मिलावट मत करो।
९) राजकीय नियमों का उल्लंघन और राज्य के करों का अपवचन मत करो।
१०) अपने यौन सम्बन्धों में अनैतिक आचरण मत करो। वेश्या-संसर्ग, वेश्या-वृत्ति एवं वेश्यावृत्ति के द्वारा धन अर्जन मत करो।
११) अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोक हितार्थ व्यय करो।
१२) अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।
१३) अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति-संग्रह मत करो।
१४) वे सभी कार्य मत करो, जिनसे तुम्हारा कोई हित नहीं होता है किंतु दूसरों का अहित सम्भव हो अर्थात् अनावश्यक गपशप, परनिन्दा, काम-कुचेष्टा, शस्त्र-संग्रह आदि मत करो।
१५) यथा सम्भव अतिथियों की, संतजनों की, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो।
१६) क्रोध मत करो, सबसे प्रेम-पूर्ण व्यवहार करो।
१६) अहंकार मत करो अपितु विनीत बनो, दूसरों का आदर करो।
१८) कपटपूर्ण व्यवहार मत करो वरन् व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो।
१९) अविचारपूर्वक कार्य मत करो।
२०) तृष्णा मत रखो।

उपर्युक्त और अन्य कितने ही आचार नियम ऐसे हैं जो जैन नीति की सामाजिक सार्थकता को स्पष्ट करते हैं।[1] आवश्यकता इस बात की है हम आधुनिक संदर्भ में उनकी व्याख्या एवं समीक्षा करें तथा उन्हें युगानुकूल बनाकर प्रस्तुत करें।

---

१. देखिए–श्रावक के व्रत, अतिचार और गुण।

पार्श्वनाथ जैन शोध संस्थान, वाराणसी — सागरमल जैन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कविता का होना

(उत्तरार्ध)

तीन पहेलियों का आंशिक उत्तर

कविता, कविता-वाहन, कविता-निर्मिति की घटना, कवित-प्रतीति की घटना, उसमें अन्तर्भूत भूमिकाएँ, इन सबको घेरनेवाला अवगुंठन-इन सबके परस्पर भेदों एवं संबंधों को निश्चित करने का प्रयत्न अब तक हमने किया। यह सब करते समय आरंभिक तीन पहेलियों का आंशिक उत्तर हमें मिल गया है।

स्व-त्व का प्रश्न

१. अमुक व्यक्ति को अमुक समय प्रतीत हुई कविता तथा दूसरे किसी को और/या दूसरे समय प्रतीत हुई कविता, ये दोनों एक ही हैं या नहीं यह निश्चित करने के लिए दोनों प्रतीतियां एक ही अभीष्टों की श्रेणी-व्यवस्था की ओर अर्थात् सोपान की ओर जानेवाली होनी चाहिए। कविता का स्वत्व अचूक रूप में तय करना हो तो सतरहवीं सदी के दासबोध और बीसवीं सदी के दासबोध में समीकरण हमें नहीं करना चाहिए। 'अभीष्ट-श्रेणी-व्यवस्था' का ढीला अर्थ लेने पर ही ऐसा समीकरण हो सकता है। हाँ, एक ही अभीष्ट-श्रेणी-व्यवस्था को मानते समय निम्नश्रेणी के अभीष्टों के अन्तरों को –उदाहरणार्थ 'चळवळेचे' पद का अर्थ–अनदेखा करना पड़ेगा।

अस्ति-त्व का प्रश्न :

२. कविता की अस्तित्व-कक्षा भी इसमें सूचित हुई है। कविता होती है प्रतीति के अभीष्टों की श्रेणी-व्यवस्था। यह अभीष्ट श्रेणी-व्यवस्था कवितानिर्मिति नामक घटना के कारण अस्तित्व में आती है। जब विश्व में कोई भी साहित्य-धारणा इस कविता के द्वारा होनेवाली प्रतीति को जिला नहीं सकती तब उस कविता का अस्तित्व खत्म होता है। अगर इस प्रकार की प्रतीति की घटनाओं की वारंवारता शून्य से ऊपर उठने लगती है तो हम मानते हैं कि कविता का पुनरुज्जीवन हो गया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्मि-त्व का प्रश्न :

३. विशिष्ट भाषा के चिह्नों की जिस विशिष्ट रचना ने–विशिष्ट भाषा के जिस महावाक्य ने–हमें भावित किया वह कविता ही है, यह हमने कैसे जाना? जिस समाजकोश में उस कविता का जनक (और/या पाठक) जीवन व्यतीत करता है उस समाज के सदस्य जब अपनी आस्वाद धारणा के अनुसार इस भाषिक रचना को अर्थात् इस महावाक्य को कलाकृति मानने को तैयार होते हैं तब यह पहचान होती है। यह निर्णायक आस्वाद धारणा कवि के समाज की ही होगी, ऐसा न कह कर 'और / या पाठक' का उल्लेख कोष्ठक में क्यों किया? म्युजिअम-लक्षी प्रवृत्ति की हमारी परिभाषा में व्यवस्था हो सके इसलिए कविता के बारे में किये गये सभी व्यवहार (आपको रुचे अथवा न रुचे) अपरिहार्यत: अभीष्ट-व्यक्ति करनेवाले, मूल्यपरक व्यवहार होते हैं। किसी भाषिक मजमून या संहिता के कविता प्रतीत करने के धर्म को पहचानना और उस संहिता पर आस्वाद्यता का आरोप करना तथा उसके बारे में गौरवदर्शी मूल्य–कथन करना–इन दो कृतियों को अलगाना कठिन है। साफ कहना हो तो जब आप कविता की परिभाषा करते हैं तब अच्छी कविता की ही परिभाषा सूचित कर बैठते हैं। कविता जितनी कविता जैसी, जितनी अधिक कविताधर्मी होती है उतनी वह उत्तम कविता कही जायगी। (अनुमान और उत्तम अर्थात् तर्कशुद्ध अनुमान की अलग परिभाषाएँ आपने कभी की हैं? जो अनुमान तर्कशुद्ध नहीं है वह मूलतः अनुमान ही कैसे हो सकता है? खोटा रुपया रुपया ही क्यों कहा जायगा? रुपया असल में वही होगा जो खरा होगा। कुछ ऐसा ही प्रकार कविता के बारे में भी है।)

अब आप शायद हैरानियत से कहेंगे कि क्या यह कोई कविता के होने की बात को पूरी तरह सुलझाना हुआ? उत्तर यही है जिस साधारण स्तर पर अब तक कविता संबंधी प्रश्नों का हमने सामना किया उसी स्तर को कायम रखना हो तो कहना होगा कि इन तीन प्रश्नों के जो उत्तर अभी दिये गये उससे अधिक पूर्ण उत्तर देना संभव नहीं–क्षमस्व।

कविता संज्ञा की परिभाषा

अब तक हमने कविता संज्ञा की जो परिभाषा सूचित की वह केवल ग्रंथपाल महोदय के काम में आनेवाली है। अगर उसमें कुछ रंग या तफसील भरने हों तो विशिष्ट ऐतिहासिक कालखण्ड की विशिष्ट भाषिक समाज की साहित्य-धारणा के संदर्भ में विनिर्मित विशिष्ट कविताओं के पास जाना होगा। अगर इस तरह पास जाकर हम अधिक ठोस और ब्योरों सहित परिभाषा बना पायें तो ग्रंथपालमहोदय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के काम की वह न रहेगी। क्यों कि वह परिभाषा पक्षपातपूर्ण (पार्टिज़न) और अनुरोध करनेवाली (पर्स्वेज़िव) ही होगी। यह पक्षपात किस पक्ष की ओर से ? पक्ष कोई भी हो– वह अधिक सुगठित और स्थिर साहित्यधारणा रखनेवाले किसी पूरे समाज की पक्षधर होगी (मान लीजिए किसी आदिम-जनजाति की) या इस के विपरीत किसी व्यामिश्र और गतिशील साहित्य धारणा की गोदमें विशिष्ट ऐतिहासिक कालखड में जन्मे किसी साहित्यिक पंथ की परिभाषा होगी (मान लीजिए-अँग्रेजी साहित्य का रोमॅन्टिक निकाय)। लेकिन इस प्रकार की ठोस, अनुरोधपूर्ण और पक्षपाती परिभाषा हमारे पास होगी तभी हम एक नित्य पैदा होनेवाले वाद में निर्णय करने की स्थिति में होंगे। दो पाठक एक मजमून पढते हैं–पहले को कविता के रूप में वह मजमून भावित करता है, दूसरे को वैसी प्रतीति नहीं होती। फिर कसूर किसका ? दूसरे पाठक का या कविता के रूप में गले मढ दिये मजमून का ? अर्थात् इस वाद का निर्णय ग्रंथपाल की निर्लिप्त परिभाषा से नहीं हो सकता।[५] इसका मतलब फिर यही हुआ न कि निर्लिप्तता की बली दी जाय ? कोई कुछ भी कहे, जिसे कविता की प्रतीति प्राप्त करनी हैं, पाठक–विमर्शक के रूप में उसके सामने जाना है, वह साहित्यिक पक्षों के कोलाहल से अलिप्त नहीं रह सकता। कविता की संकल्पना को आधुनिक दार्शनिकों की

---

५. यह बात एक बार ठीक से समझ में आ जाय तो कविता के अध्येताओं को हमेशा सतानेवाले एक प्रश्न का उत्तर अपने आप मिलेगा। छोटे समाज की साहित्यविषयक धारणा में मतभेदों एवं परस्पर असंगतियों का उतना स्थान नहीं होता। वहाँ कविता की संस्कृति–सापेक्ष परिभाषा सरलतापूर्वक प्रस्तुत करना सहज संभव हो जाता है। लेकिन मासिकपत्र, पुस्तकें, रेडिओ-केंद्र इत्यादि की प्रचुरता जिस आधुनिक समाज में है उस समाज की साहित्य–धारणा का क्या होगा ? साहित्य का मर्मी जिस मजमून की सराहना करता है उसकी ओर बहुसंख्य पाठक झाँककर भी नहीं देखते और जिस मजमून पर बहुसंख्य पाठक झपट पडते हैं उसे मर्मी पाठक सस्ता कहकर नाक भौं सिकोड़ते हैं। फिर सभी रसिकों में भी अनेक पंथ होते ही हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति-सापेक्ष परिभाषा कैसे की जा सकती है ? बहुमुखी समाज में कविता को एक से अधिक संस्कृति-सापेक्ष परिभाषाएँ मिल जाएं तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। क्यों कि उनकी विशाल संस्कृति के पेट में अनेक उप-संस्कृतियाँ बसा करती हैं। रुआला अरबों की कविता की परिभाषा और बीटजनरेशन की या काव्यगायन के लिए भीड करनेवाले श्रोताओं की कविता की परिभाषा समान रूप में पक्षपातपूर्ण हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दावली में अनिवार्यतः वादग्रस्त संकल्पना (इसेन्शली कांटेस्टेड कंसेप्ट्स्) की कोटि में रखा जाता है। (गैली १९५६ क, १९५६ ख देखिए) अपने सामने आये मजमून को कविता की कोटि में डालना, उस कविता का आकलन करने में मग्न रहना लेकिन उसके मूल्यांकन के प्रश्न को टालते जाना या उसे दूर रखना कहाँ तक संभव है ? कविता जितनी महान उतनी उसके मूल्यांकन के अन्य कविताओं से तुलना के और स्तर निश्चित करने के प्रश्न को गौण मानकर सहजरूप से पीछे ढकेल दिया जाता है। उसकी जटिलता को सुलझाने में, उसकी व्याख्या (इंटर्प्रिटेशन) करने में शक्ति खर्च हो जाती है; हो जानी भी चाहिए। प्रत्युत कविता योग्यता में जितनी छोटी मूल्यांकन की समस्या का महत्त्व उतना ही बढ़ेगा, व्याख्या का प्रश्न कम कुरेदेगा। व्याख्या और मूल्यांकन साहित्य-विमर्श के दो कार्य मान लिये जायें तो भी वे पूर्णतः एक दूसरे से अलगाये नहीं जा सकते। जब कोई विमर्शक व्याख्या में मग्न रहता है तब भी तफसील में जानेवाला मूल्यांकन उसे करना ही पड़ता है और कविता के सम्यक् मूल्यांकन का हवाला भी एक अर्थ में उसने दे ही दिया होता है। हम मानकर ही चलते हैं कि अगर्चे वह विमर्शक कविता पर इतनी मिहनत कर रहा है तो उसे उत्तम मान ही रहा है।[६] कहने का मतलब यह है कि मूल्यांकन कला के आस्वाद का अभिन्न अंग है और उसके बारे में अलिप्तता संभव नहीं है। मूल्यांकन को आगे ढकेलने से आस्वादन का जायका कुछ बढ सकता है। इंद्रियदमन करते हुए सन्निवेश को दूर ढकलने पर रतिक्षोभ (आरगेजम) को टालना जितना संभव है ठीक उतना ही मूल्यांकन को टालना संभव है।

फिर रास्ता क्या है ? कोई मध्यममार्ग है ? कविता की परिभाषा तो करनी ही है लेकिन वह न सर्वमान्य, रंगहीन, खोखली या केवल ग्रंथपाल के लिए ही उपयोगी करनी है और न ठोस, पक्षपातपूर्ण, कुछ की राय में निरपवाद परंतु औरों को अस्वीकृत होनेवाली ऐसी भी करनी है—इन दो छोरों के बीच का सन्तुलन खोजना है। एक अर्थ में मध्यममार्गी परिभाषा की खोज खरगोश के

---

६. इधर आलोचना व्यवहार में आकलन का एवं निरूपण का महत्त्व स्वीकार करना परंतु मूल्यांकन को 'यह निरी मास्टरी कौन करेगा ?' कहकर उपेक्षित करना एक फैशन-सा बन गया है। उसमें निहित खतरे प्रस्तुत विवेचन से ध्यान में आ सकते हैं। साहित्य की परख के ये दोनों अंग और उत्तम-अधम कविताओं के बारे में उनके भिन्न भिन्न स्थान, इन विषयों पर उद्बोधक चर्चा के लिए देखिए, जी. विल्सन नाइट, १९३० पहला सैद्धांतिक प्रकरण और उसी ग्रंथ की प्रस्तावना (टी एस्. एलिएट १९३० पृ. सत्रह)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिग की खोज है, वह मिलनेवाली नहीं है। क्योंकि कविता का होतापन ही उसकी निजता में एवं अद्वितीयता में निहित होता है। जो कभी किसी ने उसी रूप में नहीं कर दिखाया वह कर दिखाने में कविता की इति-कर्तव्यता है। प्रत्येक महान कविता (जिसे एलियट के पीछे उद्धृत मजमून में सचमुच नयी कहा गया है) स्वायत्त होती है। इस स्वायत्तताकी शान में वह कविता संज्ञा को ही पुनर्जन्म देती है और एक नयी परिभाषा उपलब्ध करती है। (इतनी बिकट परिस्थिति होने पर भी सौभाग्य से उसके कारण समीक्षा-व्यापार के अवरुद्ध होने का कोई कारण नहीं है। इस परिस्थिति से राह खोजने के लिए उपर्युक्त विवेचन में मैंने विमर्श-संबंधी सापेक्षतावाद यानी 'क्रिटिकल रेलेटिविजम' का समर्थन किया है। लेकिन वह पूरा प्रश्न विमर्शक की जोखिम का न होकर दर्शन के क्षेत्र का है। साहित्य के विमर्श के परे जाकर विमर्श का ही व्याकरण स्थापित करते समय (यानी मेटाक्रिटिकल डिस्कशन करते समय) इस प्रश्न का विचार अवश्य करना होगा।

इतना सब होने पर भी मध्यममार्गी परिभाषा एक व्यावहारिक आवश्यकता है। यद्यपि वह आवश्यकता समीक्षाशास्त्रीय नहीं है। फिर भी उनके लिए आवश्यक है जो साहित्य का अध्ययन समीक्षाबाह्य परिप्रेक्ष्य में करते हैं। मसलन संस्कृति-वैज्ञानिक मानवतावादी, दार्शनिक इत्यादि लोगों के लिए। मानवीय व्यवहार का नक्शा प्रस्तुत करते समय मानवी-समाज में होनेवाले धर्म, विवाह, राज्यसंस्था इत्यादि संस्थाओं के साथ कला और साहित्य को स्थान देना ही पड़ता है। अर्थात धर्म, विवाह, कला इत्यादि की परिभाषाएँ देनी ही पड़ती हैं और विशिष्ट समाज को संपूर्ण मानवजाति मानने की गलती न करते हुए यह काम करना होगा। कविता के बारे में पूर्वोल्लिखित बिकट परिस्थिति में यह कैसे हो सकता है? कविता और 'पोएम' और 'गेडिष्ट' ये शब्द एक ही बात की चर्चा करते हैं, यह किस आधार पर माना जाय? इसके लिए दो तार्किक प्रयुक्तियों का अवलंब हमें करना पड़ेगा: (१) कविता और काव्य को अलग-अलग करना। काव्य संज्ञा को सामाजिक संस्था के संबंध में प्रयुक्त किया जाय, यह संस्था साहित्यधारणा का एक अंग है। इसके कारण इन दोनों कथनों को कि 'कविताओं से कोई उपयोगी कार्य नहीं लेना होता' और 'काव्य का प्रयोजन होता है' हम बिना विसंगति के आक्षेप के एक ही समय स्वीकार कर सकते हैं। (२) मानवीय इतिहास के प्रवाह में किसी भी पक्षपातपूर्ण परिभाषा के आधार से, किसी भी साहित्यधारणा के अनुसार जो भी मजमून कविता के रूप में परिगणित हुआ है उन सब का एक पुंज मान लें। इस पुंज को एक सामान्य-सा वर्ग मानकर उस मजमून में समान वैशिष्ट्य की खोज करना और इस प्रकार के वैशिष्ट्य पर आधारित अतिव्याप्ति और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अव्याप्ति से मुक्त परिभाषा करना, यह प्रयुक्ति प्रस्तुत हो सकती है। किन्तु यह प्रयुक्ति स्वीकार करना ठीक नहीं होगा। ले-देकर आखिर वह ग्रंथपाल के कपाटों के कारण बंध गयी गठरी ही है। विट्गेन्स्टाइन की कुल-संकल्पना में सिमटनेवाला वह एक स्थूल संच है (देखिए विट्गेश्टाइन १९५३) और उसके चारों ओर सीमारेखा पोंछकर धूमिल करनेवाले उदाहरणों की किनारी है, ऐसा क्यों न माना जाय? इतनी सामग्रीपर कविता की एखाद अनौपचारिक परिभाषा बहुत कुछ नपीतुली भाषा में नहीं लेकिन विगमन (इंडक्शन) करके क्यों न बनायी जाय? इतनी सावधानी बरतने पर हम 'लिरिक कविता' को ही कविता समझने की गलती नहीं करेंगे। रोमेंटिक निकाय की कविता और समीक्षा-व्यवहार के आधारपर बनाया गया वह समीकरण उस निकाय के मुंह में जंचता है, अन्य पक्षों की साहित्यमीमांसा में वह ठीक नहीं जंचता।

कविता के अंगोपांग

अगर ऐसा है तो कविता के अंग हैं कौन से? कविता का चेहरा है कैसा? उसके स्वत्व की पहचान कैसे हो? उसकी जब पूरी प्रतीति होती है--केवल प्रूफ देखनेवाले का पठण नहीं-- तब कौन कौन-सी चीजें मिलकर कविता बन जाती है? अगर इन सभी अंगों की पहचान हो जाय तो हम हाथी की सूंड को ही हाथी समझने की गलती नहीं करेंगे। इसका सबसे पहला और सबसे आसान उत्तर है: कविता एक भाषिक कृति, भाषिक आकृति, महावाक्य, मजमून होती है। संक्षेप में एक संहिता होती है। दूसरा अधिक गहराई में जानेवाला उत्तर: कविता एक आस्वाद्य-वस्तु है, उसकी उपस्थिति होनेपर मन का जो उद्वेलन होता है वह स्वयंसिद्ध तृप्ति देनेवाले (इंट्रिन्जिकली सैटिस्फाइंग रिस्पोन्सिस) होता है। अन्ततोगत्वा उत्तर है: कविता केवल आस्वाद्य-वस्तु न होकर कलाकृति है। इन तीनों को आमने-सामने रखकर देखा जाय तो सहज ही ध्यान में आ जायगा कि तीसरे उत्तर में दूसरा उत्तर और दूसरे में पहला उत्तर समाया हुआ है। इनका यह नाता स्पष्ट करने की दृष्टि से ये तीन उत्तर एक सीढी के पहियों की भाँति प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कविता (१) संहिता है (२) एक जान-बूझकर रचा पठणीय (या श्रवणीय) मजमून, एक शैलीबद्ध अ-निर्हेतुक असहज संहिता है (३) एक शैलीबद्ध भाषा को या कच्चे माल को द्रव्य के रूप में काम में लानेवाली और साथ ही अर्थसंक्रामक चिह्न (कम्युनिकेटिव सिंबल) के रूप में भी अपना परिचय देनेवाली स्वायत्त कलाकृति है। (आकृति २ देखिए, इसको देखकर किसी को प्याज के खडे छेद की याद हो आयी तो मुझे आपत्ति नहीं है।)

१ बिलकुल प्राथमिक स्तर पर बात करनी हो तो कविता एक संहिता होती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है–अर्थात उसका जो मूक या प्रस्फुट प्रस्तुतीकरण बार बार होता रहता है उसका आधार-रूप नोटेशन ही कहिए। उसके समुचित प्रस्तुतीकरण के मानदण्ड या अभीष्ट इस संहिता में ग्रथित होते हैं।' अर्थात् यह स्तररचना केवल कविता या अन्य साहित्यकृति में ही होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता– साहित्यबाह्य क्षेत्र में भी ऐसी संहिताएं मिलती हैं। उदाहरण के लिए चिट्ठियाँ, विज्ञापन ('सौंदर्यतारकों की पसंद लक्स साबुन'), विनोदपूर्ण चुटकुले, पहेलियाँ, घोषणाएँ, कानून इत्यादि। इन मजमूनों की भी बीच बीच में करीबन अचूक पुनरावृत्ति होती रहती है। इस प्रस्तुतीकरण का पाठक (या श्रोता) हर समय एक ही होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ये सभी संहिताएँ – फिर वे साहित्यकृतियाँ हों या न हों – और समाज में पुनः पुनः इस्तेमाल किये जाने वाले साँचे, इनके बीच का भेद हमें पहचानना चाहिए। किसी दरख्वास्त का रिक्त स्थान वाला कोरा नमूना और उसको भरने के बाद तैयार की हुई दरख्वास्त इनके बीच के अन्तर जैसा वह अन्तर है। मराठी में 'उखाणा' शब्द के दो अर्थ हैं – उनकी तुलना करने पर संहिता और संहिता – साँचे के बीच का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। मराठी में पहेली के तौर पर 'उखाणा' कहा जाता है 'सूपभर लाह्या मध्ये रुपाया' (सूपभर लाइके बीच में रुपया) यह पहेली जैसा मजमून एक संहिता है। (उत्तर : नक्षत्र और चंद्र) बीच बीच में उसकी ज्यों की त्यों पुनरावृत्ति की जाती है। प्रत्युत, 'बेलाच्या झाडाला त्रिदलं पान, अमक्याचे नाव घेऊन राखते सर्वांचा मान' (बेल के पेड का त्रिदल पत्ता, अमुक का नाम लेकर करती हूँ सबका सम्मान) इस साँचे में विवाहित स्त्री समय समय पर अपने पति के नाम का बयान देती रहती है– 'उखाणा' का यह बिलकुल दूसरा रूप है। हर समय नया मजमून तैयार होता है क्योंकि हर समय जिसका नाम लेना है, वे महोदय जिनका सम्मान करना है वह श्रोतागण, और सम्मान करनेवाली स्त्री–ये सब इस 'उखाणा' के साँचे में नये रहते हैं।[८] यह

---

७. मतलब यह कि कविता के जनक के द्वारा एक प्रणाली निश्चित कर दी जाती है और आनेजाने वाला पाठक उस पर चलता रहता है। अर्थात् यह सब स्थूल स्तर पर ही समझा जाये। बहुत आगे बढकर यही कथन करेंगे तो कवि आप को अपनी सुनाएगा : 'रसिक की सद्बुद्धि अनुगमन करे इस हेतु से मेरी कविता सुलेखन का नमूना नहीं बनाती...किसी एक का ही वह 'अक्षर' है।' (मनमोहन : मराठी के प्रख्यात कवि)।

८. तर्कशास्त्रियों को यहाँ प्रापोजिशनल फंक्शन्स की ओर गणितज्ञों को वेरिएवल्स की याद हो सकती है। अमुक यह पद वेरिएबल है, उसकी जगह 'उखाणा' सुनानेवाली विवाहिता अपने पति का नाम रखती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जरूरी नहीं है कि हर समय संहिता सांचे में इस तरह छोड़ दिये गये रिक्त स्थान हों। वाक्संप्रदाय (किसी ने किसी को बोलकर ठंडा कर दिया, गया था रोजा छुड़ाने, गले पड़ी नमाज), फलक (बिना अनुमति के अंदर न आएँ), सार्वजनिक जीवन में घिसीपिटी शब्दयोजनाएँ (मुझसे अधिक योग्य अध्यक्ष आप को मिल सकता था,–में हजारों की संख्या में शामिल हो जाइए, तारीख पर ध्यान रखें), महाराष्ट्र में प्रचलित पति का नाम लेने के समय का 'उखाणा'–ये सब संहिता-सांचों के उदाहरण हैं। पहेलियाँ ('उखाणा' अन्य अर्थ में), किस्से, कहावतें, कविताएँ इत्यादि संहिताओं के उदाहरणों में एक स्वायत्तता और स्थिरता होती है। कविता में अर्थात् संहिता–सांचे अंतर्भूत हो सकते हैं (उदा. कहत कबीर) लेकिन पूरी कविता सांचों से अलग होती है।

कविता संहिता का स्वत्व तीन भाषिक स्तरों पर सिद्ध होता है। पहला स्तर बाह्यरूप का – कविता बोलते समय, लिखकर या छापकर प्रस्तुत करते समय, सुनते और पढते समय कुछ तो अनुशासन आवश्यक है। पाठभेद के बारे में सतर्क रहना पडता है। स्व. पु. शि. रेगे की कविता में पंक्तियों की रचना भी विलक्षण महत्त्वपूर्ण होती है। कोई लोक-कविता पाठ–शिथिलता चला ले जाती है। कुल मिलाकर उपन्यासादि अन्य साहित्यकृतियों की अपेक्षा कविता का स्वत्व श्रुति-गम्य या दृष्टिगम्य बाह्यरूप से अधिक जुडा हुआ होता है। (इसलिए कविता का अनुवाद विशेष कठिन कार्य होता है) दूसरा स्तर भी रूप का होता है लेकिन व्याकरण एवं कोश से आकार ग्रहण करनेवाला अधिक आंतरिक रूप। व्याकरण के सूत्र के अनुसार कविता का अन्वय निश्चित हो जाता है। और कोश की मदद से अन्वित होनेवाले विवक्षित पद उपस्थित हो जाते हैं। किसी कविता के पदों का अन्वय करना, संदिग्धता के बावजूद समुचित अर्थान्तर को चुनना यह सब उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना सही पाठ निश्चित करना कविता पढते समय जरूरी हो जाता है। तीसरा और (संहिता तक ही विचार करना हो तो) अंतिम स्तर भाषा के रूढ और यौगिक अर्थ का। (मराठी के प्रख्यात कवि 'बी' की चाँफा नामक कविता है। यह 'चांफा' (चंपक फूल) 'देश' पर–मध्यमहाराष्ट्र पर अधिक परिचित Michelia campaca, Linn. न होकर कोंकण में विशेष रूप से परिचित Plumeria acutifolia, Poir. है और वह तफसील ज्ञात न होने पर कविता ढंग से मूर्त नहीं होती। यानी वनस्पतिविज्ञान का ज्ञान कविता का अर्थ करते समय काम में आता है।)

२. संहिता और कलाकृति को जोडनेवाले बीच के स्तर पर कविता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक आस्वाद्य–संहिता होती है। बा .ह्यरूप, आंतरिक रूप, अर्थ सभी स्तरों पर भाषा का अनुशासन व ह् कमोबेश रूप में मानती ही है– भाषा के अनुशासन को कविता में ठुकरा भी दिया जाय तो भी कौनसे मूल भाषिक अभीष्ट ठुकरा दिये गये हैं, यह पाठक को जब तक ज्ञात नहीं होता तब तक ठुकराने का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। परंतु कवि ता साहित्यिक धारणा का अनुसरण करते हुए अनेक अभीष्टों को व्यक्त करती है (उदाहरण के लिए पद्यरचना के नियम)। कविता निर्मिति के समय कवि के रूप में उपस्थित विमर्शक और कविता प्रतीति के समय रसिक के रूप में उपस्थित विमर्शक का कार्य क्या होता है, इस प्रश्न का कम से कम एक उत्तर यहाँ प्राप्त हो जाता है। विमर्शक प्रचलित साहित्यधारणा की शैलीविषयक रूढियों का रक्षणकर्ता होता है। (यह व्यवस्था उसी प्रकार समझी जाय जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के सदस्य संविधान के रक्षण कर्ता होते हैं!) यह समझने का कोई कारण नहीं है कि भाषा की शैलीबद्ध बंदिश केवल कविता का ही अधिकार है। भाषिक कौशल या गुणवत्ता कविता में ही नहीं, साहित्य के बाहर भी देखने में आती है। कोई व्यक्ति चिट्ठी कैसे लिखता है, आभार कैसे व्यक्त करता है, किसी घटना का ठसक से वर्णन कैसे करता है, प्रस्ताव का मसविदा कैसे तैयार करता है इसको देखकर हम प्रशंसा करते ही हैं। हम यह भी देखते हैं कि यमकानुप्रास या अर्थालंकार कहावतों में भी आते हैं। अगर कोई माने कि कहावतें लोकसाहित्य का उदाहरण ही हैं तो बात दूसरी है। (देखिए . क्टोबर १९४८, पृ. ५४३-४) अरबी-भाषिक समाज में गालियाँ देनी हों या अपमान करना हो तो ढंगदार शैली में ही करना होता है (मुझे एक सत्यकथा पढने का स्मरण होता है जिसमें यह कला अवगत होने के कारण एक ब्रिटिश अधिकारी के प्राण बच गये थे।) गिबन जैसा इतिहासकार या रसेल जैसा दार्शनिक शैली का बहुत ध्यान रखता है। इन सभी कलाबाह्य उदाहरणों से आयी भाषाशैली अनुकरणात्मक है। अधिक से अधिक वह उपयोगिता का आस्वाद्य रूप (फंक्शनल डिज़ाइन) है। (किसी कुर्सी की या ओलिवेत्ती टंकयंत्र की सुगठित रचना की अपेक्षा इस शैली का महत्व अधिक है सो बात नहीं।) किसी साहित्यकृति में मात्र भाषाद्रव्य के माध्यम से कलावस्तु को सिद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य शैली के द्वारा घटित होता है और कवि इस भाषा-द्रव्य का भरपूर उपयोग शैली द्वारा ही करता है।

३. चित्रकला का द्रव्य जिस तरह फलक और रंग या शिल्पकला का द्रव्य जिस तरह एकाध खोदने, ढालने या गढने लायक पदार्थ, ठीक उसी तरह साहित्य का कलाद्रव्य भाषा है। अगर ऐसा है तो चित्रकला का माध्यम रंग,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रंगछटा[९], और रेखा या शिल्पकला का माध्यम घनाकार और पोत, उसी तरह साहित्य का माध्यम कौन सा? मर्ढेकर के कारण कलाद्रव्य (मर्ढेकर उसे साधन, मटीरिअल कहते हैं) और कलामाध्यम (मीडियम) के बीच का भेद हमारे लिए स्पष्ट और परिचित हो गया है। (देखिए: १९३७ में प्रकाशित मर्ढेकर 'आन मीडियम्स' और 'पोएट्री अँण्ड एस्थेटिक थिअरी' दो निबंध) साहित्य कला के माध्यम के बारे में मेरी राय मर्ढेकर से कुछ भिन्न है। संहिता याने भाषिक स्तर पर रुढ और यौगिक अर्थ का स्तर हमने स्वीकार किया है। उसका समावेश कलाद्रव्य में ही होता है। इस स्तर पर अर्थ रेफरेन्शल होंगे उसी तरह इमोटिव्ह भी हो सकते हैं। मतलब रेफरेन्शल और इमोटिव्ह के बीच की रेखा यही द्रव्य और माध्यम के बीच की सीमारेखा मर्ढेकर की तरह मैं नहीं मान सकता। मैं मानता हूँ कि कविता की भाषा अपनी सभी श्रव्य दृश्य-व्याकरणीय-कोशगत-अर्थसंक्रामक सामग्री के साथ उसके पाठक-विमर्शक-रसिक की खिदमत करती है और रसिक के अनुभव-विश्व में सदा की तरह कल्लोल पैदा करती है, बढाव करती है, और इसे मोड भी देती है, यह भाषाव्यापार ही साहित्य का कला-माध्यम है।

उपर्युक्त वाक्य में सदा की तरह शब्द महत्वपूर्ण हैं। भाषाव्यापार वैसे भी साहित्यकला के बाहर भी, हम बहुत बार समझते हैं उससे भी बढकर समृद्ध, और जटिल होता है। भाषिक मजमून (मेसेज या टेक्स्ट) क्या नहीं करता? वह बोलनेवाले, लिखनेवाले की ओर से प्रकटीकरण करता है, सुननेवाले पढनेवाले को आवाहन करता है, व्यवहार-संदर्भ में अचूक प्रयोजन प्राप्त करता है, वाहन के लिए और निज के लिए संक्रमण मार्ग खुला कर संदेश भेजनेवाले और संदेश स्वीकार करनेवाला, इनके बीच जोड पैदा करता है, और यह सब सुचारु रूप से चले इसलिए संकेतों का अनुशासन मान लेता है। (आकृति ३ देखिए)[१०]

९. रंगछटा से यहाँ मंतव्य है टोन का— एक तरफ रंग का फीका-गहरापन (डिग्री ऑव्ह सेचुरेशन) और दूसरी तरफ रंग का उजला-कालापन (डिग्री ऑव्ह ब्रिलियन्स) दोनों मिलकर रंगछटा बनती है।

१० भाषाव्यापार के क्रमशः एक्सप्रेशन, अपील, रेफरन्स, सिग्निफिकन्स, एस्टेब्लिशमेंट आव्ह टोकन-चैनेल ऐण्ड मेसेज-चैनेल, और कोड युटिलाइजेशन, इन सब घटकों में किया हुआ पृथक्करण मैंने कुछ हेराफेरी के साथ आधुनिक भाषा-विचार में से लिया है (देखिए: हाइम्स १९६२। इसके पीछे हैं—याकोब्सन १९६०, ब्यूलर १९३३, मालिनोव्स्की १९२३)। इस भाषाव्यवहार में विक्षेप (नाईज) पैदा होकर विघ्न उपस्थित होता है तीन कारणों से: संकेतों में भिन्नता, वाहन संक्रमण में अडचन (उदाहरणार्थ, शोर, अधूरा प्रकाश), संदेश संक्रमण में बाधा। (उदाहरणार्थ प्रेषक और स्वीकारकर्ता के बीच मानसिक दूरी)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव के हाथ में जितनी मानवनिर्मित संस्कृतिसंचित चिह्नीकरण प्रणालियाँ हैं उनमें भाषा सबसे प्रभावी साधन है – उसकी क्षेत्रव्याप्ति सबसे बडी और उसपर नियंत्रण सबसे कम। भाषा के क्षेत्र में सबकुछ आता है – संख्या, स्थलकाल, ऐंद्रिय संवेदनों से प्राप्त ज्ञान का वर्गीकरण, यह वह– सब ! मानवीय अनुभव में अनिर्वचनीय बहुत कम है। आसपास के बाह्य और अपने अंतर के विश्व का आकलन और संवेदन जितना मानव को हुआ है, सबका पीछा भाषा ने किया है और भाषा की इतनी गरिष्ठता होते हुए भी साहित्यिकों के विशेषतः कवियों के हाथ का वह खिलौना बन जाती है। वह उसे तानता है, झुकाता है, और ऐसा करते हुए वह अपने पाठकों के लिए अडचनें भी पैदा करता है। कुछ लोग रंग-अंध होते हैं, कुछ लोगों को ध्वनि की तीव्र–कोमलता का भान नहीं होता– वे सुर-बहिरे होते हैं। ये क्रमशः चित्रकला और संगीत कला का आस्वाद कर ही नहीं सकते। शंका यह पैदा होती है कुछ लोगों को विनोद की इंद्रिय ही नहीं होती। मुझे गहन शंका है कि कुछ लोग भाषागत शैलीग्रहण करने में ही असमर्थ होते हैं। उनका पठण (या श्रवण) साहित्यिक रचना के संदर्भ में केवल पठण (या श्रवण) ही रहता है। प्रतीति के स्तर तक नहीं पहुँच पाता। इनको छोड दें तो औरों का क्या ? कवि जिस तरह भाषा का उपयोग करते हैं उसको देखते हुए लगता है कुछ सीमा तक कृत्रिमता और जटिलता, दुष्प्राप्यता से कविता की भाषा को बचाना केवल असंभव होता है। (जिसे हम सीधी सरल स्वभावोक्ति कहते हैं उसके बारे में भी अगर वह सचमुच कला का द्रव्य हो गयी हो तो–यह बात लागू हो जाती है।) अगर यह कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कविता जो लिखी जाती है वह हमारी आपकी 'अपने आप घटित' भाषा में नहीं लिखी जाती, वह लिखी जाती है भाषा की 'सप्रयास गढी गयी' किसी विवक्षित उपबोली में। रोजमर्रा की उर्दू और अभिजात उर्दू के अंतर को मद्देनजर रखा जाय तो यह बात स्पष्ट होगी। चिह्नीकरण प्रणाली के नियम जितने ब्योरेवार होंगे उतनी वह प्रणाली निश्चित विवक्षित होगी, अधिकाधिक वाक्यों और महावाक्यों को छान लिया जायगा और स्वीकार्य वाक्य, और महावाक्य तुलना में कम होंगे। (पत्थर में छिपी मूर्ति और भाषा में छिपी कविता के बारे में जो पहले लिखा गया है उसे प्रस्तुत संदर्भ में फिर से देखें।) रोजमर्रा की निर्हेतुक शब्द योजना सुनते या पढ़ते समय श्रोता या पाठक का कार्य इतना ही होता है कि पहले से आत्मसात् किये, उसे गोपनीय न रहे भाषा संकेतों का इस्तेमाल करना–ऐसा करने पर वह मजमून अपने आप उसके अधीन हो जाता है। साहित्यकृति के विशेषतः कविता के पाठक की स्थिति भिन्न होती है। कोई छोटा बच्चा हो, वह पहले पहल भाषा सीख रहा हो, अभी वह स्वभाषा नहीं बनी हो– ऐसी स्थिति में सामने आये मजमून में उसे दो प्रकार से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हाथ मिलाना पड़ता है। अभ्यासी संकेतों के अनुसार मजमून को सुलझाना और, हाथ में अब तक न आये और गोपनीय रहे संकेतों को सामने के मजमून के आधार पर खोज निकालना—इस प्रकार दुहरी कसरत करनी पड़ती है। साहित्य के पाठक को इस मामले में खिरस्त की आज्ञा, 'छोटा बच्चा बन जाओ' (मॅथ्यू १८:३) का पालन करना आवश्यक है। पहले पढ़ी हुई साहित्य कृतियों की प्रतीति का संकेत अनुभव अवश्य उपयोगी होगा। लेकिन इसी के साथ उसे इस शक्यता को भी नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए कि सामने प्रस्तुत कविता की उप-उप-बोली के संकेत इतने विशिष्ट, इतने विवक्षित हैं कि उस बोली में एक ही महाकाव्य बोला जा सकता है - वह है वही कविता। उस बोली को पूरी तरह सीखने के लिए वह कविता ही एकमात्र सामग्री है। कविता का यह जो विशेष धर्म है उसी के कारण हम एक बात को सुलझा सकते हैं— वह बात है— कोई कविता अनेक प्रतीतियों के बीच से गुजर जाती है तब परिवर्तित होती रहती है, फिर उस प्रतीति की घटना एकसमान रह ही नहीं सकती।

कविता नाम की चीज

अब तक हमने बहुत विघटन किया। कविता क्या चीज है इसका एकत्रित विचार न करके उसकी प्रतीति की फुटकर घटनाओं का विचार किया; संहिता-रूप, कलात्मक, और दो के बीच का शैलीगत स्तर इस प्रकार तीन स्तरों की छान-बीन की। अब तक जो खामी रह गयी उसकी पूर्ति करनी होगी। अंग्रजी में कला-कृति (वर्क आव आर्ट) और कलावस्तु (आब्जेक्ट आव आर्ट) दो पर्यायी शब्द क्यों प्रयुक्त किये जाते हैं? मुझे लगता है ये दो शब्द कला के दो पहलू दिखाने में मदद करते हैं सृजनक-विमर्शक कवि और प्रस्तुतिकर्ता की नजर में कविता कला-कृति के रूप में ही गौरवान्वित होती है, अपनी मिहनत के फल के रूप में पाठक-विमर्शक के सामने कविता आएगी वह तैयार कलावस्तु के रूप में ही। सुजैन लैंगर कलावस्तु को वस्तुप्राय या अनंग-वस्तु (वर्च्युअल आब्जेक्ट) के रूप में संबोधित करती है — मतलब वस्तु ही लेकिन दर्पण के सामने दिखनेवाली बिंबवस्तु की तरह या साफ-साफ आनेवाले स्वप्नवस्तु की तरह। एकाध नृत्य या संगीतकृति अनंग वस्तु हैं यह तो सहज ही समझ में आ सकता है : लैंगर आगे चलकर कहती है कि वही स्थिति कथा, शिल्पकृति या चित्र की होती है। शिल्पकला

११. मतलब यह हुआ कि किसी दूसरे जानकार से कुंजी या गाईड मांगने का सवाल ही नहीं उठता! जो यह मानकर कि कविता शब्द पहेली है, जिसका अधिकृत उत्तर मुहरबंद लिफाफे में बंद कर के रखा गया है, सहम गये हों उन्हें इससे दिलासा मिल सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या चित्रकला जैसी जड-वस्तुरूप, वाहन पर निर्भर कलाओं की बात कुछ भी हो, कविता को अनंग-वस्तु कहने में हमारे हाथ में निश्चित कुछ आ गया है। कविता संहिता या मजमून के रूप में आपके सामने आती है। इस तरह, आते समय भी आपको एक भाषा के चिन्हीकरण– व्यवहार में सहभागी होना पड़ता है। (आकृति ३ फिर से देखें) लेकिन आपके ध्यान में आएगा कि यह प्रकरण उतना सादा नहीं है। पाठक में यह जागृति पैदा होने के लिए आसपास की सामाजिक-सांस्कृतिक उपस्थिति की सहायता तो होती है – कभी-कभी मजमून पर ठीक से कविता लिखा हुआ होता है। लेकिन यह सहायता न भी हो तो हर्ज नहीं। क्यों कि स्वयं संहिता ही पाठक को आवश्यक-इशारा देती है। मान लीजिए कि वह अगर सादा मजमून ही होता तो व्यवहार-संदर्भ में उसका कुछ प्रयोजन दिखाई दिया होता। मज़मून पाठक तक आया है प्रेम-पत्र के रूप में, अपमान का हथियार बनकर, आभार– अभिव्यक्ति के रूप में या और किस के लिए यह समझ में आ जाता। इशारा मिलने पर पाठक जागृत होता है और रोजमर्रा के भाषिक चिन्हीकरण के पीछे दूसरे प्रकार का एक चिह्नीकरण व्यापार है, यह उसके ध्यान में आता है। कविता वाहन के द्वारा भाषिक संकेतों के अनुसार कविता-संहिता चिह्नीत होती है और कविता-संहिता द्वारा व्यावहारिक विश्व के विषय का निर्देश न होकर एक नयी ही अनंग वस्तु चिह्नीत होती है। कविता की शब्द-योजना में ऊपर-ऊपर से देखने पर किसी में किसी 'बनवाली फूल' या किसी शिवाजी का उल्लेख होगा भी। लेकिन नये चिह्नी-करण-व्यापार में से खड़ी रहती है एक अपने आप में समायी हुई, अंदर से अभंग वस्तु।[१२] यह स्वयंपूर्णता इस नये चिह्नीकरण के अन्य घटकों में भी दिखाई देती है: उसका निर्देश उसका आविष्कार, उसका आवाहन और तो और उसका नामकरण (संकेतों का अनुशासन) ये सब स्वतंत्र होते हैं। यहाँ अन्त में जिस चिह्नीकरण प्रणाली का याने कविता के व्याकरण का उल्लेख किया है उसे ही सामान्यतः शैली कहा जाता है। निम्नस्तर पर अवस्थित व्याकरण की यह सुधारी हुई, बिगाडी हुई, कसकी हुई, या बढ़ाई हुई आवृत्ति है शैली। यह समूचा शैली-व्याकरण सबका सब साहित्यधारणा से कवि और रसिक को बना बनाया नहीं मिलता। असल में रसिक को वह हर कविता के लिए नये ढंग से सीखना

१२. यह भाषा के परे होनेवाला नये चिह्नीकरण की कल्पना, दि के. बेंडेकर ने (१९५४, पृ. १७–१९) प्रस्तुत की हुई विकल्पन की संकल्पना, तथा संस्कृत साहित्यमीमांसा की 'भाव' संज्ञा से शुरू में दर्शाई हुई संकल्पना (देखिए बेंडेकर १९६४; आगे 'भाव' का अर्थ बदल दिया) ये तीनों एक ही हैं, एसा मुझे लगता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पडता है। इस शली--व्यवस्था के दो अंग होते हैं--स्थूल अंग को कविता की गठन कहेंगे और सूक्ष्म अंग को 'गढ़न' कहेंगे। गढन का संबंध पंक्ति--पंक्ति से आगे सरकनेवाले एकोन्मुख प्रस्तुतीकरण की ओर पहुँचता है, पद्य की लय, विम्ब-सृष्टि शब्द-चातुर्य (विट) ये उसके उदाहरण। गठन का संबंध उलटी दिशासे--प्रस्तुतीकरण होने के उपरान्त कविता के चिंतन से स्थिर होनेवाले समग्र परिणाम की ओर पहुँचता है। वातावरणनिर्माण, प्रतीक-सृष्टि, प्रसंगचित्रण ये गठन के उदाहरण हैं। पीछे अभीष्टों के सोपान का उल्लेख किया जा चुका है। गढ़न उस सोपान की नींव की ओर का भाग और गठन सिरे की ओर वाला भाग (गठन और गढन भेद मैंने कुछ अन्तर के साथ मुख्यत: अमेरिकन न्यू क्रिटिसिज्म निकाय से लिया है। देखिए रैन्सय, १९४१ विषयसूची में टेक्स्चर और स्ट्रक्चर देखें। तुलना के लिए देखें वेथेल १९४८ प्रकरण ६)

कविताबाहन, कविता--संहिता और अनंग कलावस्तु इन सोपानों से और ऊँचाई पर जाया जा सकता है? चिह्नीकरण का रिश्ता (चिह्न-चिह्नीत-भाव) अगर ':' इस चिन्ह से दिखाया जाय तो निम्नलिखित त्रैराशिक हल कर के देखिए कि क्ष का मूल्य निश्चित किया जा सकता है या नहीं।

कविताबाहन : कविता संहिता
= कविता संहिता : अनंग कलावस्तु
= अनंग कलावस्तु : क्ष

कोई 'क्ष' है? अगर है तो 'क्ष' क्या है? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर विभिन्न पक्षधर देंगे ही। अगर वह उत्तर मिल जाय कि 'क्ष मूल में है ही नहीं' तो भी प्रश्न का महत्त्व कम नहीं होता। हाँ, निवंध में स्वीकृत निर्लिप्तता के लिए इस प्रश्न को महत्त्व देना उपकारक नहीं है। असल में वह विषय ही अलग है। जिस कूटप्रश्न की ध्वजा 'कविता का होना' शीर्षक के रूप में कंधेपर उठाकर हम चल निकले उस प्रश्न के अन्दर वह विषय आता ही नहीं।

—४—

लेकिन एक कदम आगे वढने में क्या हर्ज है? मैं इतना ही कहूँगा कि 'क्ष' है? अगर है तो कौनसा? इन प्रश्नों के उत्तर विशिष्ट कविता तक ही खोजे जा सकते हैं या कुल कविताओं के संदर्भ में खोजे जा सकते हैं। किसी भी प्रकार से खोजे जायें तो भी आगे आनेवाली तीन कोटियों में किसी एक में आ सकते हैं:

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) कविता को कुछ कहना नहीं चाहिए, उसे सिर्फ होना चाहिए।

(२) कविता को कुछ कहना नहीं है तो होना क्यों चाहिए ?

(३) कविता कुछ कहती ही नहीं है तो वह होगी कैसे ?

अगर कोई चौथा उत्तर सुनने में आया—

उदाहरणार्थ : कविता हो न हो, उसे कहना तो होगा ही तो समझिए कि समीक्षा-व्यापार को हम गलत राह पर चल पड़े हैं।

भई, प्याज के सभी छिलके छिल गए न ?

अनुवाद : चंद्रकांत बांदिवडेकर
हिंदी विभाग, पुणे विश्वविद्यालय

अशोक केळकर
भाषाशास्त्र विभाग
पुणे विश्वविद्यालय

(सन्दर्भसूची अगले पृष्ठ से देखिए)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदर्भ सूची :

वेडेकर, दि. के. १९५४ साहित्य समीक्षेचे स्वरूप, समावेश : साहित्यनिर्मिति व समीक्षा, पुणे : चित्रशाळा (मराठी में)

वेडेकर, दि. के. १९६४ भावत्रिवेचन, समावेश : साहित्यविचार, मुंबई : पॉप्युलर (मूल अंग्रेजी निबंध १९५४ का है) (मराठी में)

मनमोहन (नातू), १९६८ स्वतःबद्दल, वाचा अंक १, जनवरी पृ. ७–८ (मराठी में)

Bethell, S. L. 1948. Essays on Literary Criticism and the English Tradition. London : Dobson.

Buhler, Kari. 1933. Die Axiomatik der Sprachwissenschaft. Kant-Studien (Berlin) 38·,19–90 (जर्मन में)

Eliot, T. S. 1919. Tradition and the Individual Talent. Egoist, Oct. (Reprinted in his : Selected Essays 1932, 1951)
1930. Introduction, to : Knight 1930

Gallie, W.B. 1956 a. Essentially Contested Concepts. Proceedings of the Aristotelian Society 56. 167-98. (Reprinted in : Black, Max. (ed.) The Importance of Language, 1962.)
1956b. Art as Essentially Contested Concept. Philosophical Quarterly 6. 97–114.

Hymes, Dell H. 1962. The Ethnography of Speaking. In : Gladwin, Thomas & Sturtevant, W. C. (ed.) Anthropology and Human Behavior. Washington, D. C. : Anthrop. Soc. of Washington.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Jakobson, Roman 1960. Concluding Statement : Linguistics and Poetics. In : Sebeok, Thomas A. (ed).Style in Language. Cambridge, Mass. : The Technology Press.

Knight, G. Wilson 1930. The Wheel of Fire London : Oxford U. P.

Knights, L. C. 1959. Some Shakespearean Themes. London : Chatto & Windus

Kroeber, A. L, 1948. Anthropology. Revised ed. New York : Hartcourt, Brace, & World.

Langer, Susanne K. 1942, Philosophy in a New Key. Cambridge, Mass. : Harvard U. P.

1953. Feeling and Form. New York : Scribner; London : Routledge & Kegan Paul.

Malinowski, Bronislaw 1923. The Problem of Meaning in Primitive Languages. Supplement to : Ogden, C. K; Richards, I. A., The Meaning of Meaning. London : Kegan Paul Trench & Trubner

Malraux, Andre. The Psychology of Art. (English transl., 2 volumes, from the French original)

Mardhekar, B. S. 1937. Arts and Man. London : Mortiboy's हिंदी अनुवाद : कला और मानव, १९५७

Ransome, John Crowe. 1941. The New Criticsim. Norfolk, Conn. : New Directions

Slotkin, J. S. 1950. Social Anthropology. New York : Macmillan.

Wellek, Rene; Warren, Austin 1949. Theory of Literature. New York : Harcourt Brace. (Revised 1956, 1963, ch. 12 The Mode of Existence of a Literary Work of Art)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Wittgenstein, Ludwig. Philosophical Investigations. Ed. & transl. Anscombe, G. E. M. Oxford.

मूल निबंध अंग्रेजी में पुणे में १९६७ में पढ़ा गया। वह The Being of a Poem शीर्षक से Foundations of Language, February 1969 में प्रकाशित हुआ। इसका मराठी अनुवाद स्वयं लेखक ने किया–' कवितेचे असतेपण' शीर्षक से जो ' सत्यकथा ' सितंबर १९६९ में प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत हिंदी अनुवाद में आकृतियाँ २, ३ श्री. र. बा. सप्रे, डेक्कन कॉलेज, पुणे ने रेखांकित कीं। उनके प्रति लेखक और अनुवादक आभारी हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

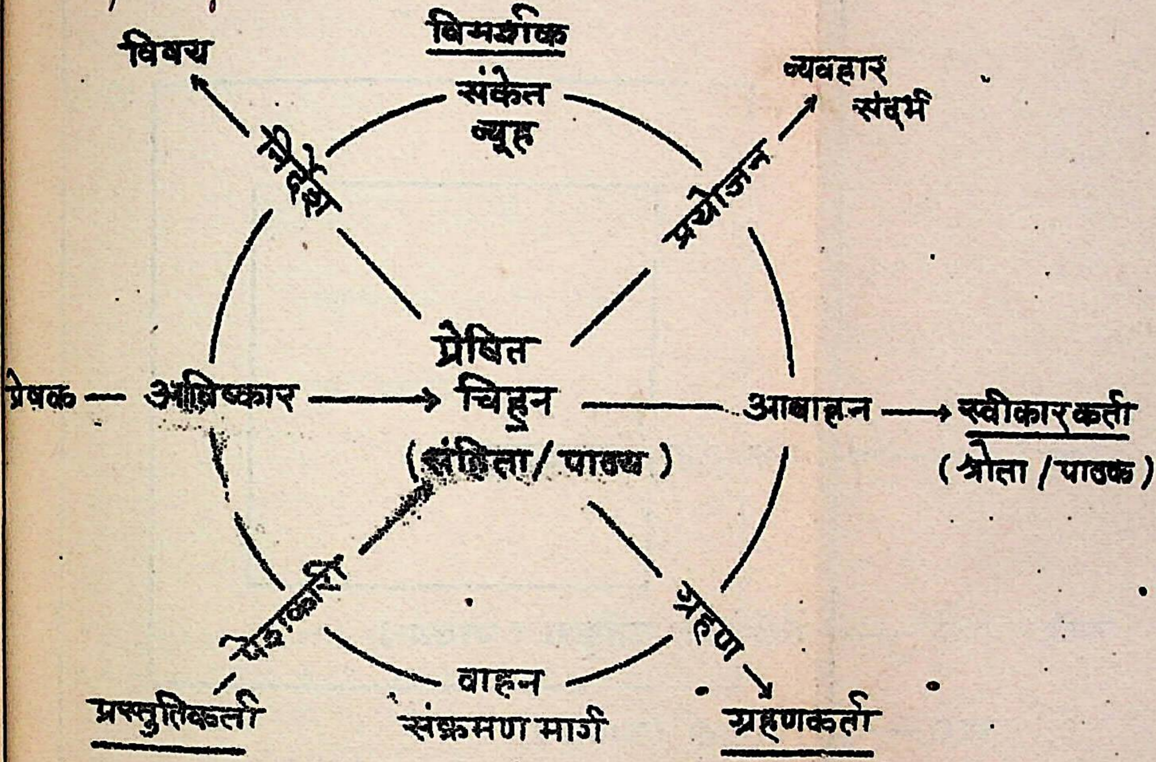

आकृति ३

चिह्नीकरण का व्यवहार

(मानवी भूमिकाएँ अधोरेखांकित दिखायी हैं।).

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

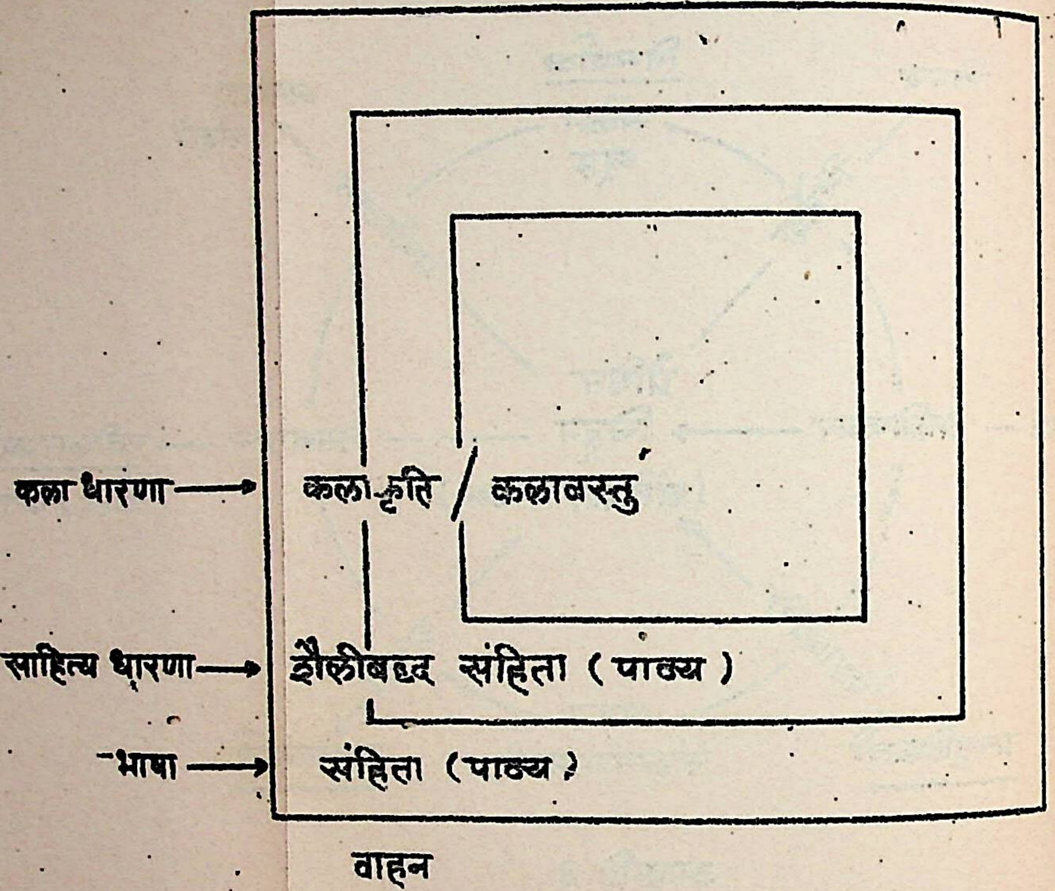

आकृति २
कविता का होतापन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुस्तक समीक्षा

"प्रकृतिवादी नैतिक सिद्धान्त"

लेखक -- बी. के. भारद्वाज

दिल्ली विश्वविद्यालय प्रेस, १९७८

मूल्य ३५ रु.

प्रस्तुत पुस्तक में नीति के क्षेत्र में स्थित विभिन्न समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया गया है। प्रकृतिवादियों एवं अप्रकृतिवादियों के मध्य स्थित विवाद पूर्णतः शायद कभी भी सुलझाया नहीं जा सकता किन्तु फिर भी एक बार फिर से इस पुस्तक में मूर द्वारा उठाये गये प्रश्नों को एक नये रूप में रखा गया है जो कि उन्होंने मिल, स्पेन्सर आदि के विरुद्ध में प्रस्तुत किये हैं (Principia Ethica) इस पुस्तक में सात अध्याय हैं। सभी का मुख्य उद्देश्य नैतिक तर्कना से सम्बन्धित नैतिक सिद्धान्तों की आलोचना है।

प्रथम अध्याय में मूर के नैतिक प्रकृतिवाद से सम्बन्धित विचार का विवरण है जहाँ पर लेखक यह बताना चाहता है कि मूर ने 'शुभ' को एक सरल संकल्पना मानने के लिए कोई विशिष्ट आधार प्रस्तुत नहीं किया है। किन्तु मेरे विचार से इस आपत्ति के औचित्य निर्धारण के लिए हमें देखना चाहिए कि हमारा विशिष्ट आधार से क्या अर्थ है। मूर की पुस्तक के पृष्ठ संख्या ८–१० देखने पर ज्ञात होता है कि मूर के अनुसार 'शुभ' को परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह विभिन्न भागों से निर्मित नहीं है और क्योंकि यह विभिन्न भागों से निर्मित नहीं है अतः यह सरल है। अब शुभ संयोजित (Composite) नहीं है इसे वह पृष्ठ ८ पर मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण द्वारा समझते हैं। मूर के शब्दों में "मैं कहता हूँ यह किसी भी भाग द्वारा निर्मित नहीं है जिसे हम अपने मस्तिष्क में उसके चिंतन के समय प्रतिस्थापित कर सकें। अतः हम शुभ अपरिभाषेय है।"

मूर का तर्क निम्नलिखित है :—

१ यदि कोई चीज संयोजित नहीं है तो वह सरल है।

२. यदि कोई चीज सरल है तो उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता।

३. यदि शुभ संयोजित नहीं है तो उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता

४. शुभ संयोजित नहीं हैं।

अतः शुभ को परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह तर्क हमारे तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार वैध है। इसे प्रतीकात्मक रूप में निम्नप्रकार से रखा जा सकता है :

१. $(x) \sim Px \rightarrow Sx$
२. $(x)\ Sx \rightarrow \sim Dx$
३. $\sim Pa \rightarrow \sim Da$
४. $\sim Pa$
$\therefore \sim Da$

एवं वैधता निम्नप्रकार से स्थापित की जा सकती है :—

१. $(x) \sim Px \rightarrow Sx$
२. $(x)\ Sx \rightarrow \sim DX$
३. $\sim Pa \rightarrow \sim Da$
४. $\sim Pa$
५. $\sim Pa \rightarrow Sa$ U. S. I.
६. $Sa \rightarrow \sim Da$ U. S. 2.
७. $\sim Pa \rightarrow \sim Da$ 5. 6. (हेतु हेतु मत् न्याय) (Hypothetical Syllogism)

८. $\sim Da$ 7. 4 M. P.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट है कि उपरोक्त तर्क हमारे तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार वैध हैं। समस्या हमारे चतुर्थ आधार वाक्य में निहित है और इसके लिए हमें मूर द्वारा प्रस्तुत मानसिक प्रक्रिया की व्याख्या को देखना होगा। एक अन्य तर्क जो मूर के मत को स्थापित करता है वह यह है कि कोई भी 'शुभ' को परिभाषित करने का प्रयास सफल नहीं हुआ है। इसका कारण मूर के अनुसार मात्र 'शुभ' का स्वरूप है। 'शुभ' का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता और यदि हम परिभाषित नहीं कर सकते तो परिभाषा के अर्थ से ही (जो अर्थ मूर दिया है) यह निगमित होती है कि 'शुभ' एक सरल प्रत्यय है। तीसरा तर्क व्याघात के नियम (Riductio ad Absurdum) पर आधारित है। यदि हम मानें कि 'शुभ' एक सरल प्रत्यय नहीं है तो दो सम्भावनायें है और क्योंकि दोनों ही मान्य नहीं है अतः हमें यह स्वीकार करना होगा कि 'शुभ' एक सरल प्रत्यय है। (पृ. सं. ९५)

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर हम यह नहीं कह सकते कि मूर का सिद्धांत स्वीकार नहीं है। डॉ. भारद्वाज ने मूर के मत के विरुद्ध दो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं-- १. मूर ने 'शुभ' एक सरल प्रत्यय है इसके लिए कोई विशिष्ट आधार प्रस्तुत नहीं किया है। २. मूर कहते हैं कि "शुभ" अविश्लेषणीय हैं। यहाँ अविश्लेषणीय का गलत प्रयोग किया गया है। हम पहले ही देख चुके हैं कि डॉ. भारद्वाज की पहली आपत्ति सही नहीं है। दूसरी आपत्ति के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि यह सही है कि "अविश्लेषणीय" शब्द का मूर एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्रयोग गलत प्रयोग है। एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं किंतु जब हम किसी विशिष्ट संदर्भ में उसका प्रयोग कर रहे हैं तब उसका एक ही अर्थ होगा न कि उसके समस्त अर्थ उसमें समाहित होंगे। अब यदि मूर का "विश्लेषण" शब्द का प्रयोग एक रसायन शास्त्री के प्रयोग के समान हो तो भी आपत्ति का कोई विशिष्ट महत्व नहीं यदि वह मूर की मूलभूत धारणा को प्रभावित नहीं करती।

मुख्य बात यह है कि मूर के तर्कों द्वारा यह स्पष्ट रूप से स्थापित हो जाता है कि—

१. शुभ एक सरल प्रत्यय हैं।

२. यह अविश्लेषणीय है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. शुभ अपरिभाषेय है। मूर के लिए "अविश्लेषणीय" का अर्थ ही अपरिभाषेय है।

अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि मूर के प्राकृतिक दोष सहित सभी तर्क उसके मूलभूत सिद्धांत को आधार प्रदान करते है।

द्वितीय अध्याय में यह कहा गया है कि जब हम कहते हैं कि एक तथ्यात्मक वाक्य से मूल्यात्मक वाक्य आपादित नहीं हो सकता तब हम "सकता" शब्द का तार्विक प्रयोग कर रहे हैं। तथ्यात्मक वाक्य नैतिक वाक्यों को आपादित कर सकते हैं न कि वे एक ही तार्किक प्रकार के हैं। निगमन का प्रयास यह पूर्वमान्य करके चलता है कि ये दो भिन्न भिन्न तार्किक प्रकार के नहीं है। इसी संदर्भ डॉ. भारद्वाज ने टूलिमन, कुर्त बायर, मिल, स्पेन्सर, पेरी, डेवी आदि की विभिन्न तर्कनामों की चर्चा की है। ऐसा लगता है कि नैतिक तर्कना, "शुभ" को परिभाषित करना एवं प्रकृतिवादी दोष को स्वीकार करना परस्पर सम्बन्धित हैं जिसकी लेखक ने स्पष्ट रूप से चर्चा नहीं की है। मैं डॉ. भारद्वाज के विचार से सहमत हूं कि नैतिक प्रकृतिवादी नैतिक अभिव्यक्तियों के तर्कशास्त्र को तथ्यात्मक अभिव्यक्तियों के सादृश्य मानते है। साथ ही यह भी कहना चाहूंगी कि यदि कोई कहता है कि आदेशात्मक तर्कशास्त्र उसी प्रकार बनाया जा सकता है जैसे तथ्यात्मक तो वह प्रकृतिवादी सिद्धान्त को स्वीकार कर रहा है। क्योंकि वह पूर्वमान्य करता है कि दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियाँ एक ही तार्किक प्रकार की हैं जैसा कि आर. एम्. हेयर भी मानते हैं।

मूर के अनुसार मिल प्रकृतिवादी दोष को स्वीकार करते हैं किंतु डॉ भारद्वाज मिल के सिद्धांत को सही मानते हुए कहते हैं कि मूर का मिल के प्रति आक्षेप सही नहीं है। भारद्वाज के अनुसार मिल मानता है कि मूलभूत सिद्धांत का प्रत्यारम्भ नहीं दिया जा सकता किन्तु प्रयोजन सम्बन्धी आधार प्रस्तुत किया जा सकता हैं अतः मिल एक ऐसा तर्क देता है जो निगमनात्मक नहीं है तथा मूर "प्रमाण" के इन दो प्रयोगों में स्थित भेद को नहीं देख पाते। जहां तक इस स्पष्टीकरण का प्रश्न है यह सही है किंतु यदि हम मूर द्वारा दिये गये तर्क ध्यान से देखें तो यह भेद पूर्णतः समाप्त हो जाता है। (देखिये प्र. नै. सि. पृ. ६५) हमारे पास दो भाग हैं: १) नीतिका क्षेत्र, २) नीति से परे। हमारा पहला आधार वाक्य द्वितीय श्रेणी में आयेगा और द्वितीय आधार वाक्य प्रथम श्रेणी में। इन दोनों के आधार पर हम एक प्रकार का प्रथम सिद्धांत (मूलभूत सिद्धांत) निष्कर्ष रूप में प्राप्त कर रहे हैं जो कि हमारा तृतीय आधार वाक्य है। चतुर्थ चरण तृतीय से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपरोक्ष रूप में प्राप्त किया गया है जिसमें यह पूर्वमान्यता निहित है कि यदि कुछ वांछनिय है तो उसे करना चाहिये। प्रश्न है कि वांछनीय क्या है? मानो 'अ' कहता है कि 'क' वांछनीय है। भिल के संदर्भ में 'खुशी' (Happiness) वांछनीय हैं। मानो कोई आपत्ति उठाता है कि खुशी ही वांछनीय क्यों है, प्रेम अथवा स्नेह या अन्य कोई चीज वांछनीय क्यों नहीं है? 'अ' उत्तर दे सकता है कि आप मेरे मत को अथवा मूलभूत सिद्धांत को स्वीकार करने के बाद उससे संबंधित अन्य निगमित होनेवाले निष्कर्ष को स्वीकार करना ही होगा। किन्तु यदि मूलभूत सिद्धांत ही स्वीकार नहीं किया है तो वहाँ वार्तालाप के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि मूलभूत सिद्धांत के लिए कौई व्यक्ति किस प्रकार का आधार प्रस्तुत कर सकता है क्योंकि इस वार्तालाप के लिए स्थान अवश्य रखना चाहते हैं? मिल द्वारा प्रस्तुत आधार हैं– १. खुशी अपने आप में साध्य के रूप वाँछनीय है। २ लोग वस्तुतः इसे चाहते हैं। अब हमें देखना चाहिए कि मिल यहाँ कह क्या रहा है। मिल कहता है कि लोग वस्तुतः खुशी चाहते हैं अत: खुशी वाँछनीय है। स्पष्ट है कि वह अपने मूलभूत सिद्धांत को तथ्यात्मक वाक्यों से निगमित कर रहा है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि वह प्रकृतिवादी दोष स्वीकार कर रहा है जिसे मूर ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपिया ऐथिका' में बहुत ही अच्छे ढ़ंग से प्रस्तुत किया है।

डॉ भारद्वाज का कहना कि पेरी की 'मूल्य' की परिभाषा संश्लेषणात्मक है अतः यह प्रकृतिवादी दोष को स्वीकार करती है– बिल्कुल सही है। हमारी यह बौद्धिक माँग है कि परिभाषा विश्लेषणात्मक होनी चाहिए और यदि वह विश्लेषणात्मक है तो उसमें कोई नयी सूचना अथवा ज्ञान नहीं होना चाहिए। साथ ही यदि कोई नयी सूचना नहीं है तो वह हमारा मूलभूत सिद्धांत नहीं हो सकता क्योंकि हमारा मूलभूत सिद्धांत अवश्य संश्लेषणात्मक तथा सूचनात्मक होना चाहिए अन्यथा वह हमारे कार्य को प्रेरित नहीं कर सकता। अतः हमारे सामने एक उभयपाश (Dilemma) हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या किसी मूलभूत प्रत्यय की परिभाषा देना ही किसी मूलभूत सिद्धांत को स्वीकार करना है? पेरी 'मूल्य' के अर्थ को तथा 'मूल्य' के मापदण्ड को एक मानते हैं और इसी कारण प्रकृतिवादी दोष को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः मेरी अपनी धारणा है कि प्रकृतिवादी दोष तीन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्तरों पर हो सकता है—अर्थ के स्तर पर, मापदण्ड के स्तर पर एवं अर्थ एवं मापदण्ड दोनों के स्तर पर। अन्तिम अध्याय में लेखक ने डेवी के प्रकृतिवाद के संदर्भ में कुछ मूलभूत आपत्तियाँ उठाई है जो किसी सीमा तक उचित हैं।

अंत में यह कहना चाहूँगी कि यह पुस्तक अत्यन्त ही स्पष्ट रूप में लिखी गयी है– ऐसा कुछ भी नहीं हैं जो अस्पष्ट अथवा धूमिल हो इसका कारण पुस्तक में विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाया गया है। यद्यपि वह बहुत लम्बी पुस्तक नहीं है किन्तु फिर भी बहुत से प्रश्नों को एक साथ समाहित करती है। साथ ही बहुत से बिन्दुओं को सही एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। पाठक की समस्या तक को ग्रहण करने की नहीं है बल्कि उससे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने की है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिसे नीति के क्षेत्र में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ना चाहिए।

दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर – आशा दुबे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफ़ाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११ ०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पृथ्वीनाथ शास्त्री	सार्त्र के साहित्य-सम्बन्धित विचार (२)	१-१६
सागरमल जैन	जैन नीतिदर्शन की सामाजिक सार्थकता	१७-३२
अशोक केळकर	कविता का होना (उत्तरार्ध)	३३-५०
	पुस्तक-समीक्षा	५१-५६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

वर्ष २ अंक १

दिसंबर १९८०

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विद्यापीठ के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका

※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे * राजेन्द्र प्रसाद * आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ☐ रमाकान्त सिनारी ☐ विजय भारद्वाज ☐ शारदा जैन
रमाकान्त त्रिपाठी ☐ संगमलाल पांडे ☐ आर्. बालसुब्रमणियन्
अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्रविड ※ के. सच्चिदानन्द मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईन
※ सुमन गुप्ता

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिबडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें।
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : तत्त्वज्ञान विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेश खिड, पुणे ४११००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. १६-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १२-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. ०८-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों ... सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

'परामर्श' (हिंदी) के प्रकाशन का एक वर्ष पूर्ण हुआ। विगत वर्ष में प्रकाशित 'परामर्श' के अंकों के संबंध में विविध प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सुधी पाठकों द्वारा लिखित या मौखिक रूप में व्यक्त की गयीं। सामान्यतः यह निस्संदिग्ध रूप में स्वीकार किया गया कि विशुद्ध वैचारिक पत्रिका की हिंदी में नितांत आवश्यकता है। लेखों के स्तर के संबंध में काफी मतभेद प्रकट किया गया। यह स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं है कि इन प्रतिक्रियाओं ने हमें लेखन् का स्तर, विषय-निर्वाचन भाषा का रूप इत्यादि बातों के बारे में गहराई से सोचने का अवसर दिया। विशेषतः पत्रिका का कलेवर, छपाई और मुद्रण दोषों के बारे में हम अधिक सावधान रहने का प्रयत्न करेंगे।

'परामर्श' के विद्वान पाठकों से हम एक प्रार्थना पुनः करना चाहते हैं। 'परामर्श' केवल विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित करने का माध्यम मात्र बनकर न रह जाय बल्कि वैचारिक विवाद और संवाद का वह सशक्त मंच बने, यह हमारी आकांक्षा है। हमें पूरा विश्वास है कि हमारे जिज्ञासू और जागरूक पाठक इसमें हमें पूरा सहयोग देंगे। प्रकाशित लेखों के संबंध में अच्छी या बुरी प्रतिक्रिया मात्र व्यक्त कर हमारे पाठक संतोष न करे। हम चाहते हैं कि अनुकूल-प्रतिकूल अभिप्राय ठोस बौद्धिक धारणाओं के आधार पर व्यक्त हो जाएँ जिससे विद्वानों में बहस का रास्ता खुल जाए। हाँ हम इस बात का ख्याल अवश्य रखेंगे कि मंतव्य वैचारिक मतभेद एवं विषय को अधिक पुष्ट करने की बौद्धिक जिज्ञासा से प्रेरित हुआ हो। 'परामर्श' के लिए गंभीर और मौलिक वैचारिक लेखन की भी आवश्यकता है। सामान्यतः प्रकाशन् योग्य सामग्री को हम सामग्री के आने के बाद लगाये गए कालक्रम के अनुसार प्रकाशित करते हैं। अतः प्रकाशन में विलंब लग जाए तो लेखक को बुरा नहीं मानना चाहिए। 'परामर्श' में विशुद्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैचारिक विषयों पर लिखी गई पुस्तकों की समीक्षाएँ भी हम छापना चाहेंगे। पाठकों से अनुरोध है कि उनके द्वारा चुनी हुई अच्छी पुस्तकों की समीक्षाएँ भी वे हमारे पास भेज दें। हमारी अनुकूलता की दृष्टि से उन्हें प्रकाशित किया जाएगा।

हम पाठकों से विनम्र अनुरोध करते हैं कि पत्रिका को दीर्घायु बनाने के लिए वे सदस्य बनकर हमारी सहायता करें। अपने साथ अपने मित्रों, परिचितों, संबद्ध संस्थाओं एवं प्रतिष्ठितों को सदस्यता ग्रहण करने के लिए हमारी ओर से प्रेमी पाठक अनुरोध करें। महाराष्ट्र के सांस्कृतिक केंद्र पुणे से एवं अहिंदी-भाषी प्रदेश से प्रकाशित होनेवाली इस पत्रिका को सभी दृष्टियों से अधिक समर्थ बनाने की प्रार्थना के साथ हम द्वितीय वर्ष का यह प्रथम अंक पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं।

मो. प्र. मराठे

चंद्रकांत बांदिवडेकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गोएथे का इतिहास-दर्शन

गोएथे १८ वीं शताब्दी के प्रमुखतम जर्मन कवि थे। किंतु वास्तव में उनके व्यक्तित्व और प्रतिभा की परिधि इन तीनों विशेषकों से बहुत-बहुत व्यापकतर है। वे कवि के अतिरिक्त महान चिंतक, वनस्पतिवैज्ञानिक और प्रशासक भी थे। इन सबसे ऊपर था उनका व्यक्तित्व जिनके कारण नीत्शे ने उन्हें अतिमानव (सुपर मेन) कहा था। वनस्पतिविज्ञान में उनकी एक मौलिक अन्तर्दृष्टि ने ओस्वाल्ड स्पेंग्लर के संस्कृति-दर्शन विषयक विचारों को प्रभावित किया। यह अन्तर्दृष्टि थी मूलाकृति (आर्किटाइप) और आकृत्यन्तरण (मोर्फोलोजी) विषयक उनका सिद्धांत। ओस्वाल्ड स्पेंगलर बीसवीं शताब्दी के प्रमुखतम संस्कृति-दार्शनिकों में अग्रगण्य है। उसने अपने विचार पर जिन दो चिन्तकों के प्रभाव का उल्लेख किया है वे हैं गोएथे और नीत्शे। अपने विश्व-प्रसिद्ध और इतिहास-चिंतन में क्रान्तिकारी ग्रंथ 'पश्चिम का क्षय' में वह कहता है कि संस्कृति सम्पूर्ण अतीत तथा भावी इतिहास का मूल और प्राण-तत्त्व है। वास्तव में गोएथे के जैव प्रकृति में आकृत्यन्तरण सम्बन्धी अनुसन्धानों के मूल में निहित अन्तर्दृष्टि मानव-इतिहास की सभी संरचनाओं को समझने में सहायक हो सकती है। जिस प्रकार पौधा अपनी वृद्धि के क्रम में पूर्ण विकास को प्राप्त करता है, अथवा शैशव में ही काट दिया जाता है, अथवा आधा ही विकसित हो पाता है, अथवा बीज-दशा में ही अवरुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार संस्कृतियों के भी ऐतिहासिक विकासक्रम में ये सभी रूप दृष्टिगत होते हैं। यह विधि विषय का विश्लेषण करने, उसपर शल्यक्रिया करने, की विधि के विपरीत, उसकी अन्तरात्मा के साथ सह-अनुभूति में अवस्थित होने की है। विषय के साथ ज्ञानात्मक सम्बन्ध की उत्कृष्टतम स्थिति विस्मय की है, और यदि मूल प्राण-तत्त्व (प्राइम फिनोमिना) उसे विस्मयाभिभूत कर जाता है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तब उसे इससे सन्तुष्ट होना चाहिए, क्योंकि उससे उच्चतर और कोई बोध नहीं है जो यह (विषय) उसे दे सकता है। यह चरम स्थिति है। मूल प्राण-तत्त्व वह है जिसमें संभूयमानता (बिकमिंग) का प्रत्यय अपने को घटित करता है। गोएथे की वैज्ञानिक दृष्टि प्रत्येक पौधे के, संभावित पौधों के भी, आकार में मूल वानस्पतिक आकार को देखने में समर्थ थी। .... बीसवीं शताब्दी के सम्मुख एक बड़ी समस्या जैव देहों–सत्त्वों–के उस मौलिक संरचनात्मक आकार की खोज करना है जिसके माध्यम से, अथवा जिसके भीतर, विश्व-इतिहास अपने को घटित और चरितार्थ करता है, और आकार के रचना-तत्त्व में स्वरूपगत और अनिवार्य से आगन्तुक को पृथक् करना और घटनाओं के अन्तर्हित आशय को बूझ कर उनकी भाषा समझना है।[1]

इस उद्धरण में गोएथे के विचार के तीन महत्त्वपूर्ण बिंदु हैं जिन्होंने स्पेंग्लर के संस्कृति-दर्शन को प्रभावित किया। ये बिन्दु हैं– (१) आदिम वनस्पति (वानस्पतिक आकार) की अवधारणा, (२) आकारिकीय विकास, और (३) जैव देह अथवा व्यष्टि अवयवी, जो अपने जीवनक्रम में अन्य सब व्यष्टियों से स्वतंत्र अपनी मूल प्रेरणा और मूल आशय को चरितार्थ करता है। स्पेंग्लर ने इन तीनों अवधारणाओं का संस्कृति के स्वरूप को समझने में उपयोग किया। यहाँ हम इन अवधारणाओं को गोएथे के अनुसार समझने का प्रयत्न करेंगे, और अन्त में उसके इतिहास सम्बन्धी विचारों को भी संक्षेप में देखने का प्रयत्न करेंगे।

(१) आकारिकी क्या है? यह अवधारणा गोएथ के चिन्तन में आधारभूत है, इसलिए इसे एक वाक्य में परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह अवधारणा यद्यपि उसे वनस्पतिविज्ञान विषयक अनुसन्धानों के क्रम में सूझ पड़ी किंतु इसने उसके मानव-जीवन और मानवीय अभीप्सा-विषयक सम्पूर्ण चिंतन में निदर्शक सिद्धान्त का रूप ले लिया। आकारिकी की आरंभिक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि यह "आकृति, उसके विभेदों, उसकी रूप-रचना और इसके रूप-परिवर्तन" का नियामक तत्त्व है। यह आकृति तथा इसकी रूप-रचना सजीव पदार्थ द्वारा धारण की जाती है, जो पदार्थ कि अपने को अपने भीतरी प्राण-तत्त्व से विकसित और प्रवर्द्धित करता है—

"यह आत्म-सृजन में हो स्पन्दित, अपने को करता रूपायित,
यह रूप निरंतर विकचमान, यह स्थिति केवल परिवर्तमान,
वह ज्योति अमर प्रेरणा-सकल, क्षय नवीकरण का उत्सुक पल।"[1]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसा कि स्पष्ट है, गोएथे की आकृति की अवधारणा ज्यामितिक नहीं होकर जीवंत था। उसकी आकृति केवल देशात्मक नहीं हो कर कालात्मक भी थी। वास्तव में, आकृतिउन्मीलन के तत्त्व (मोर्फोलोजीकल प्रिंसिपल) को "परिवर्तन में अपरिवर्तनता" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह सिद्धान्त, जो कि एक-साथ जीवविज्ञान और तत्त्वदर्शन-मूलक है, एक जीवंत सिद्धांत है, यह एक साथ स्वातंत्र्य और नियम में प्रतिष्ठित है, यह गतिमान व्यवस्था है। यदि हम आरंभ में ही प्रकृति में एक नियमितता देखते हैं तो हम यह समझ सकते हैं कि ऐसा प्रकृति में सहज और अनिवार्य है, और परिणामतः यह उसका स्थिर धर्म है। किंतु यदि आरंभ में हम वैविध्य, विकृतियों, विद्रूपताओं और स्खलनों के सम्पर्क में आते हैं, तब हमें यह बोध उजागर होता है कि यद्यपि नियम अविकल और शाश्वत है, किंतु यह जीवंत हैं; कि जीवदेह अपने को विद्रूपता में घटित तो कर सकता है, किंतु ऐसा भी वह नियम का उल्लंघन करके नहीं कर सकता, बल्कि नियम के अंतर्गत ही कर सकता है, जैसे मानो वह अपने यादृच्छिक आचरण से कषाघात द्वारा निरुद्ध और नियोजित किया जा रहा हो। [३]

गोएथे को नियम का यह स्वरूप जिस विधि द्वारा उद्भासित हुआ वह थी अनुरूप और आकृतियों की परस्पर तुलना। वह वस्तुओं की रचना के सर्वसामान्य कारकों को, उनके आधार में निहित संरचनात्मक योजना को, और उस मूल आकृति को, जिसके अनुसार सब वस्तुएँ अपनी आकृति प्राप्त करती हैं, खोजना चाहता था। इस विधि से ही वह आदि वनस्पति के प्रत्यय पर पहुँचा था। उसका विचार था कि इस आदिम वनस्पति (अथवा कहें वानस्पतिक आकार) का अस्तित्व विभिन्न आकृतियों की विद्यमानता से समर्थित होता है, क्योंकि उसके अनुसार, "सच्चा निदर्श (आइडियल) ही वास्तव की आत्मा है।" अन्यथा कोई विशिष्ट देह (अवयव संघात) किस प्रकार वनस्पति के रूप में निर्धारित किया जा सकता है यदि कोई ऐसी वानस्पतिक संरचना नहीं हो जो सब वनस्पतियों के मूल में निहित हो? गोएथे अपनी इस अन्तर्दृष्टि को "प्रत्यय" (आयडिया), "आदिम बिम्ब" तथा "आदर्श आकृति" आदि पदों द्वारा भी अभिहित करते हैं। यह निदर्श बिंब वह संकेत है जिसके अनुसार वास्तव सजीव अवयवी आकृतियों के असंख्य वैविध्य के बीच से अपना मार्ग खोजते हैं। कोई वास्तव देह अपने आधार में निहित प्रत्यय के पूर्णतः अनुरूप नहीं होगी, किंतु तब भी प्रत्येक इस मूल आकृति से ही अपना आकार प्राप्त करती है और इस में आदर्शतः सन्निहित रहती है। प्रत्येक व्यष्टि इस मूल रचना-तत्त्व की ही असंख्य संभावनाओं में से एक अभिव्यक्ति होती है। यह सप्राण रचना-तत्त्व यद्यपि वास्तव व्यष्टियों को देखने की प्रक्रिया से ही उपलब्ध होता है, किंतु यह विकल्पमूलक सामान्य (सबस्ट्रेक्शन) नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, बल्कि यह अव्यवहित बौद्धिक प्रत्यक्ष-गम्य है, यह आकृतियों की रचना के अविराम प्रवाह में स्थायी आधार रूप है, यह वस्तुओं की निरन्तर भाव्यमानता में अपरिवर्तित भावरूप, रहस्यपूर्ण और अक्षुण्ण निदर्श है, संपूर्ण जीवन इस शाश्वत निर्धारक निदर्श की अनुरूपता में ही अपने को रूपायित करता है। गोएथे के शब्दों में — "एक बार यह देख लेने पर कि सृजन-तत्त्व ने अधिक पूर्ण जीवों की रचना एक सार्वभौम योजना के अनुसार की है, क्या इस आदिम आकृति को अन्तश्चेतना की आँखों से देखना संभव नहीं है, चर्म-चक्षुओं से देखना संभव चाहे नहीं भी हो? और एक बार आधार-आकृति को देख लेने पर इस आदर्श के अनुसार हम अपने प्रेक्षणों और विवरणों को भी व्यवस्थित कर सकते हैं, और क्योंकि इस प्रत्यय पर हम विभिन्न आकृतियों के प्रेक्षणों से साधारण किरण द्वारा पहुँचते हैं, इसलिए अत्यंत समान आकृतियों को इसमें अनुक्रमशः पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं। और एक बार इस प्रकार के प्रत्यय का अवगमन हो जाने पर यह भी देखा जा सकता है कि संपूर्ण वैविध्य को केवल एक ही व्यवस्था में अनुस्यूत करना असंभव है। एक व्यक्ति समग्र के लिए प्रतिमान नहीं बन सकता, इसलिए हमें सबके लिए किसी एक में निदर्श नहीं देखना चाहिए। वर्ग, व्यवस्थाएँ, जातियाँ और व्यक्ति परस्पर इस प्रकार सम्बन्धित होते हैं जिस प्रकार नियम के साथ उसके उदाहरण, ये इसके अन्तर्गत होते हैं, किंतु ये इसके घटक नहीं होते।"

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आदिम वनस्पति, मूल आकृति, अथवा मूल संरचना का यह प्रत्यय 'सामान्य' का पर्याप्त नहीं है, और न व्यष्टि का प्रत्यय विशिष्ट' का पर्याय है। वास्तव में गोएथे के ये प्रत्यय 'सामान्य' और 'विशेष' से उससे भी अधिक दूर है जितने प्लेटो के प्रत्ययगम्य अलौकिक सत् (आइडियाज) और संवेद-विषय इनसे दूर हैं। गोएथे के आदिम आकृति और व्यष्टि-देह न तो उस प्रकार परस्पर विरुद्ध हैं जिस प्रकार प्लेटो की प्रत्ययगम्य वस्तुएँ और संवेद-विषय, अथवा जिस प्रकार यथार्थवाद और नाममात्रवाद (रीयलिज़्म ॲंड नामिनलिज़्म) के सामान्य और विशेष हैं, और न वे उस प्रकार परस्पर पूरक हैं जिस प्रकार अरस्तू के उपादान (मैटर) और आकार (फॉर्म) हैं, ये लगभग भाव्य और भाव (आइडियल ॲंड एक्चुअल) तथा मूल्य और अन्वेषण के समान है, जो दोनों ही एक साथ और समानरूप से वास्तव, परस्पराश्रित और परस्पराविष्ट हैं। उच्चतम उपलब्धि होगी प्रत्येक तथ्य को ही सिद्धांत की अभिव्यक्ति के रूप में देखना। आकाश की नीलिमा वर्ण-विज्ञान (क्रोमेटिक्स) के आधारभूत नियम को अभिव्यक्त करती है। सिद्धांत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रतिभास (फिनोमिना) के पीछे कुछ खोजे, क्योंकि प्रतिभास ही सिद्धांत है। सारांश में, यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहा जा सकता है कि मूल आकृति का जैव जातियों से वैसा ही संबंध होता है जैसा एक कथावस्तु का उसके विभिन्न कथा–रूपों से, अथवा एक प्रत्यय का उसके विभिन्न अवधारणों से।

यद्यपि एक प्रत्यय के विभिन्न अवधारण अथवा आदिम आकृति को रूपायित करनेवाले व्यष्टि–देह अपने मूल बिंब या आधार में सन्निहित होते हैं, किन्तु तब भी व्यष्टि देह एक अखंड रचना–नियम की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। वास्तव में गोएथे की व्यष्टि में उतनी ही रुचि थी जितनी मूल आकार में। एक कलाकार के मानस की यह अनिवार्य अपेक्षा है, जो कि गोएथे था। उसका आकृति–विज्ञान (मोर्फोलोजी) संबंधी सिद्धांत, बल्कि कहें आकृत्यतंरण (मेटामोर्फोसिस) संबंधी सिद्धांत, उसके कवि-हृदय की सूझ था, इसी कारण वैज्ञानिकों के लिए वह सहज बोधगम्य नहीं हो सका। यही बात इसके दार्शनिक पक्ष के लिए भी सही है। जैसा कि अंर्स्ट कासीरर ने कहा है उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप न केवल प्रकृति का एक कलात्मक चित्र ही उभरा, बल्कि स्थायी वैज्ञानिक परिणाम भी उपलब्ध हुए और अनुसंधान की नवीन और उर्वर विधियाँ भी आविष्कृत हुईं। यह सब उसकी प्रतिभा की विलक्षण शक्ति के कारण संभव हो सका। इसके अतिरिक्त, उसकी चेतना की विभिन्न शक्तियाँ जिस प्रकार परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया करती थीं और कल्पना तथा उद्योग को बनाये रखती थीं, और ये सब शक्तियाँ जिस प्रकार इस सूझ इस खोज को फलित करने के लिए सम्मिलित रूप से क्रियाशील होती थीं, उसमें यह कहना कठिन है कि इनमें प्रमुख योगदान किसका था। यह उस अद्भुत व्यक्तित्व का, जो कि गोएथे का था, उपयुक्त वर्णन है। प्रेक्षण और चिन्तन कल्पना और अनुभूति से उर्वर होकर अत्यधिक उत्तान और प्रातिभासिक का भेदन कर उसके सन्धारक तत्त्व को देखने में समर्थ हो जाते हैं। किन्तु क्योंकि कल्पना और अनुभूति विशेषपरक होती हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि इनसे उत्तानीकृत प्रेक्षण और विचार तत्त्वों का इंद्रियगोचर रूप में और इंद्रियगोचर का तात्त्विक रूप में ग्रहण कर सकें–

यद्यपि सब की आकृतियाँ समान हैं किन्तु तब भी किसी की भी आकृति दूसरे से अभिन्न नहीं है। इस प्रकार उनका यह संस्थान किसी अंतर्गुह्य नियम का, एक पावन पहेली का, संकेत देता है। प्रेयसि, इस बहुरंग छटा को जरा निहारो, और तुम पाओगी कि इसकी गति में एक क्रम, एक छंद, है, प्रत्येक पौधा एक शाश्वत नियम के अस्तित्व की घोषणा करता है......[४]

प्रत्येक प्राणी आत्मपूर्ण और आत्मसाध्य है। यह प्रकृति के गर्भ से आत्मपूर्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप में ही आविर्भूत होता है और अपने गर्भ से आत्मपूर्ण शिशुओं को जन्म देता है। सब अंग शाश्वत नियम की अनुसारिता में बनते और बढ़ते हैं, और अत्यंत विचित्र आकार भी अपने भीतर मूल आकार को धारण करता है।[५]

दार्शनिक रूप से यह प्रतिपादन एक अत्यंत अयुक्तिसंगत और तार्किक पदावली में कथन तक के अयोग्य प्रतीत होता है। यह भी सही है कि गोएथे ने कोई ऐसी दार्शनिक व्यवस्था प्रतिपादित नहीं की जिसमें इस अंतर्दृष्टि को एक तर्क–संगत सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया गया हो। किन्तु अरस्तू के उपादान और आकार (मैटर अंड फॉर्म) के सिद्धांत, हेगल के ठोस सामान्यों के और जगत् को ईश्वर–तत्त्व की अभिव्यक्ति मानने विषयक अनेक सिद्धांतों के रहते गोएथे की इस अन्तर्दृष्टि को, जो सामान्यों को व्यष्टि में व्यष्टिभूत और व्यष्टि को सामान्य में व्याप्त देख सकी थी, दार्शनिक रूप से समझने में कोई वैसी कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

गोएथे के इतिहास विषयक विचार

संभवतः यह कहना उचित नहीं होगा कि गोएथे ने कोई इतिहास-विषयक व्यवस्थित पद्धति का प्रतिपादन किया है। यदि वह इस दिशा में अग्रसर होता तो स्वभावतः उसका यह सिद्धांत उसके वानस्पतिक प्रकृति विषयक सिद्धांतों के अनुरूप होता और उसमें स्पेंग्लर के सिद्धांतों के पूर्वाभास उससे कहीं अधिक स्पष्टता से दृष्टिगत होते जितनी स्पष्टता से डेनीलेव्स्की और विको के सिद्धांतों में होते हैं। किन्तु उसने वास्तव में उस प्रकार इतिहास में कोई सत्–त्व नहीं देखा जिस प्रकार प्रकृति में देखा। कार्ल वीटर के अनुसार, अनुसन्धान के परिणामस्वरूप उसे जो प्रकृति के स्वरूप में अन्तर्दृष्टि मिली उसने उसे इतिहास से और अधिक दूर कर दिया, उसकी चकित स्तब्धता तथा गहनतम बौद्धिक आनंद का विषय यह गुह्योन्मेष था कि किस प्रकार निस्सीम प्रकृति, जो कि ईश्वर से एकाकार है अपने को एक आत्म–प्रतिष्ठित सावयव समग्रता में, सरस नियमों से शासित एक अपार जगत्-सृष्टि में, एक पूर्णतः निर्दोष और अखंड व्यवस्था में रचित कर पाती है? इसमें कहीं पर भी चपलता और संयोग के लिए अवकाश नहीं है। इसके विपरीत, इसमें सब कुछ, स्वयं विघटन और मृत्यु तक, एक ही महत् उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, और वह है जीवन की निरंतर सृष्टि, जिससे कहीं गतिहीनता कभी नहीं आने पाये। इसके विपरीत, यदि हम मनुष्य और उसके समाज और राष्ट्रों की ओर देखें, उन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की अकांक्षाओं और कार्यों का अवलोकन करें, उसके देशों और युगों का कैसे भी नामकरण हम चाहे करें, इनमें कहीं भी कोई युक्ति और तर्कसंगत योजना दिखाई नहीं पड़ती।इ

इतिहास को राजनीतिक घटनाओं, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के कार्यों और उनके प्रभावों, बाह्य आक्रमणों अथवा उनके अभावों, प्राकृतिक प्रभावों के अनुक्रम के रूप में यदि देखें तो इतिहास–संबंधी उपर्युक्त दृष्टिकोण ही एक मात्र उचित दृष्टिकोण प्रतीत होता है, क्योंकि इन सब में वासनाओं और स्वार्थों से प्रेरित यादृच्छिकता और संयोग ही एक मात्र नियमायक दिखाई देते हैं। किंतु यदि हम इतिहास को संस्कृति के विकास की प्रक्रिया के रूप में देखते है। तब हम एक ऐसी अतिवैयक्तिक चेतना का साक्षात्कार करते हैं जिसमें एक युक्ति और नियम है किन्तु इस सत्त्व की नियमानुसारिता विषयोन्मुख प्रकार की नहीं होकर विषयीमुख प्रकार की है, अर्थात् इसमें वैसी नियमानुसारिता नहीं है जैसी एक भूतवैज्ञानिक भौतिक प्रकृति में पाता हैं, उस प्रकार की भी नहीं जैसी गोएथे ने जैव प्रकृति में पायी, बल्कि उस प्रकार की जिस प्रकार की नियमात्मकता हम अपने भीतर अनुभव करते हैं। हमने अन्यत्र "इस विषयी के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया था, यहां इस की तुलना में गोएथे की 'प्राकृतिक सत्ता' के साथ करना स्थाने होगा।

जैसा कि हमने देखा, गोएथे एक जाति के जीवों को एक सजीव आदिम आकार की असंख्य विभिन्नताओं के रूप में देखता है। अब इस आदिम आकार का अपने विशिष्ट विभेदों से क्या संबंध है ? इस संबंध को अमूर्त प्रत्यय और भौतिक माध्यम में उसकी अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखना चाहिए। पहले प्रसंग में, एक ही चेतन तत्त्व आदिम प्रत्यय लेकर सजीव व्यष्टि तक क्रियाशील है, जब कि सांस्कृतिक रचनाओं में उपयोगी वस्तुओं से लेकर दार्शनिक कृतियों तक में चेतना अपनी अभिव्यक्ति एक ऐसे दूसरे माध्यम में खोजती है जो इससे भिन्न और पृथक् हैं परिणामतः यह (चेतना) अपनी अभिव्यक्ति के साथ ही आत्म-बहिष्कृत, आत्म-विमुख, विषयकृत, हो जाती है। इस प्रकार प्रथम स्थिति के संबंध में जब कि यह कहा जा सकता है कि एक ही शुद्ध नियम अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों में जीवन-यापन करता है और अपने को समृद्ध और परिपूरित करता है, दूसरी प्रत्यक्ष बुद्धि अथवा भावना में रूप ग्रहण कर अपने की सर्वथा भिन्न माध्यम में अभिव्यक्त करना चाहता है, किन्तु सफल नहीं हो पाता। किन्तु तब भी, यह रचित भौतिक पदार्थ इस चेतन तत्त्व के जीवन और आकार को धारण करता है और रूपांतरित होकर इस तत्त्व का व्यंजक प्रतीक बनता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह प्रतीक उस चैतन्य तत्त्व अथवा प्रत्यय की संरचना, अंतस्स्पन, लय और स्वर सबका धारण करता है। किंतु इसमें एक ऐसे गुण का अभाव रहता है जो इसे चैतन्य तत्त्व से पृथक् करता है, और वह गुण है विषयिता। सब जैव अवयवी विषयी हैं— क्रिया और क्रियान्वयन के केन्द्र, और यह गुण इन्हें भौतिक से-मात्र विषयमता से-पृथक् करता है। प्रतीक में इस गुण का अभाव है : यह शुद्ध रूप से विषय है, यद्यपि यह सही है कि यह विषयी से अंतर्गर्भ है।

गोएथे ने इतिहास को इस दृष्टिकोण से नहीं देखा। उसने इस अतीत में घटित घटनाओं के रूप में ही देखा। इतिहास को वह विगत शताब्दियों के मृत-पिंडों का ढेर, "क्लांत क्षेत्र" तथा "अत्यन्त निरर्थक और अत्यन्त भयावह प्रदेश" कहता है। इतिहास के प्रति उसकी उदासीनता का दूसरा कारण उसकी यह धारणा हो सकती है कि केवल व्यष्टि, तथ्य, व्यष्टि-क्रिया ही रोचक और ग्राह्य हो सकती हैं क्योंकि केवल यही सत्य हो सकती है। इतिहास के प्रति उसका यह दृष्टिकोण स्पष्टतः उसके प्रकृति संबंधी दृष्टिकोण के विपरीत था। इतिहास में उसका आकर्षण विशिष्ट व्यक्तियों को लेकर था, क्योंकि आलेख-बद्ध विचार अथवा अवशेष एक जीवित अवधारणा तभी बनते हैं जब ये किसी वास्तव व्यक्ति या व्यक्तियों से संबंधित किये जाते हैं, "क्योंकि अन्यथा तो उत्कृष्टतम इतिहास भी शव का-सा भाव उत्पन्न करता है, उसमें एक समाधि-स्थल की गन्ध आती है।[८] कार्ल वीटर के शब्दों में सृजनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति गोएथे की रुचि को इतना तीव्रता से आकर्षित करती थी कि वह समकालीन इतिहास के किसी ग्रंथ को केवल उसके लेखक के कारण ही पढ़ता था (लिखित के कारण नहीं।) बर्थोल्ड नीभूर की पुस्तक-रोम का इतिहास—पढ़ने के बाद उसने अपने एक मित्र जीटर को लिखा (जनवरी १७, १८३१ को लिखे एक पत्र में) कि इतिहास के अवसाद पूर्ण प्रदेशों से परिचय में उसकी कोई रुचि नहीं है। रोम के कृषि व्यवस्था संबंधी विधान, रोम—निवासियों और सेवियनों में युद्ध अथवा राज्य सभा और लोगों के बीच संबंधों में उसको कोई रुचि नहीं थी। उसे जिस बात ने आकर्षित किया वह था नीभूर की प्रतिपादन-विधि, जिस विधि से कि वह इस प्रकार के जटिल प्रश्नों को स्पष्ट कर पाता था— "यही है जो मुझे कर्म में प्रेरित करता है, मेरे पर कर्त्तव्य का आरोपण करता है। उदाहरण निर्देश (मॉडल) अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उज्जीवन, केवल इसी का मूल्य है।" यहाँ गोएथे के इस कथन का उल्लेख स्थाने होगा कि "जो केवल मेरी ज्ञान वृद्धि करता है उससे मुझे घृणा होती है।"[९] यद्यपि गोएथे ने विज्ञान तथा कला के इतिहास लिखे, किन्तु इनमें उसकी रुचि इनके विकास-क्रम के बजाय लेखकों और आविष्कारकों में अधिक थी। यद्यपि बाद के वर्षों में उससे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक इतिहास-दृष्टि दिखाई देती है और वह इतिहास में एक उर्ध्वमुखी वर्तुल गति (स्पाइरल मूवमेंट) देखता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह सब उसकी कल्पना को पकड़ नहीं रहा है। किन्तु जब भी कभी ऐतिहासिक के प्रत्यय ने उसे आकर्षित किया तब स्वभावतः उसने उसे अवयवीय अभिवृद्धि के निदर्श के अनुसार देखा। किंतु वह इस प्रकार की अवयवीय अभिवृद्धि की प्रक्रियाओं को जो कि परिपक्वता की ओर निश्चित दृढ़ चरणों से अग्रसर होती हैं, केवल विज्ञान और कला के क्षेत्र में ही स्वीकार करता है, अर्थात् वैज्ञानिकों और कलाकारों की व्यक्तिमूलक उपलब्धियों में। किन्तु उसकी मनुष्य में एक प्राणि-जाति के रूप में कोई आस्था नहीं थी, इसलिए स्वाभाविक ही था कि वह ऐसे किसी मानवीय तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था जो कि इतिहास के माध्यम से अपने अन्तर्गत अर्थ की सिद्धि की ओर अग्रसर होता है।

कमलनयन

राजकीय महाविद्यालय,
देवली, जि. टोंक (राज.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्दर्भ

१– ओस्वाल्ड स्पेंग्लर-दि डिक्लाइन आफ दि वैस्ट, खण्ड १, पृ. १०५

२– गोएथे अंग्रेजी अनुवादक डेविड ल्यूक, दि पेंग्विन पोएट्स, पृ. २७४, "इस उंड अल्लेस" कविता।

३– अंर्स्ट कासीरर द्वारा अपनी पुस्तक "दि प्रॉब्लेम ऑफ नॉलेज" में उध्दृत, पृ. १४०

४– गोएथे, दि पेंग्विन पोइट्स, पृ. १४६–५०।

५–वहीं पृष्ठ १५२।

६–कार्ल वीटर. गोएथे : दि थिंकर, जर्मन भाषा से अनुवाद– बेयर्ड मोर्गन, हार्वार्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९५०, पृ. १२६।

७– विको का इतिहास– दर्शन, (शीघ्र प्रकाश्य)

८– कार्लवीटर द्वारा उद्धृत, द्रष्टव्य उपर्युक्त, पृ. ११९–२०

९ - वही, पृ. १२१

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्म-दर्शन ‡

दर्शन अपने विचार-विषय के प्रामाण्य की जिज्ञासा करता है; प्रामाण्य (प्रूफ) का आधार अन्ततः कोई मूल प्रदत्त–आनुभविक अथवा तार्किक (पोस्चूलेशनल) : होता है। किन्तु मूल प्रदत्त भी दर्शन के लिए कोई स्वतःसिद्ध स्वतःस्पष्ट तथ्य नहीं होता, वास्तव में स्वतः स्पष्ट प्रतीत होनेवाले तथ्यों को दर्शन प्रायः ही मूल प्रदत्तों के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता। तो भी मूल प्रदत्त की एक सर्वस्वीकृत परिभाषा हो सकती है, और वह है : ज्ञान अथवा ज्ञेय का वह तत्त्व जिसे किसी दूसरे तत्त्व में नहीं घटाया जा सकता। यह तत्त्व क्या है, यह दार्शनिकों में सदैव विवादास्पद विषय रहा है। ब्रह्म, प्रकृति–पुरुष, विज्ञान-क्षण, संवेद-प्रदत्त और स्वलक्षण वस्तु, ईश्वर-जीव-प्रकृति, आदि आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। कोई कह सकता है, ब्रह्म, ईश्वर आदि दार्शनिकों द्वारा मूल प्रदत्तों के रूप में नहीं देखे गए हैं। इसके उत्तर में हम यहाँ केवल कहना चाहेंगे कि ये ऐसे मूल तत्त्वों के रूप में देखे गए हैं जिनमें अन्य सब ज्ञान और ज्ञेय घटाये जा सकते हैं और जो किसी अन्य में नहीं घटाये जा सकते।

किन्तु यहां हमारा जिज्ञास्य ऐसा तत्त्व नहीं है। यहाँ हमारा जिज्ञास्य धर्म-दृष्टि का प्रामाण्य है, अर्थात्, कि क्या धर्म का विषयी अथवा विषय के रूप में कोई अपना मूल प्रदत्त है, या कि यह विषयी अथवा विषय के रूप में किन्हीं अन्य तत्त्वों में घटाया जा सकता है? किन्तु यहीं कैसे जाना जाय कि जिसे हम धर्म कह कर यह जांच करना चाहते हैं, जिसके प्रामाण्य की परीक्षा करना चाहते हैं, वह क्या है? यह न तो विषयी रूप में उस प्रकार प्रदत्त है जिस प्रकार सुख-दुःख हैं, न विषय रूप में उस प्रकार प्रदत्त है जिस प्रकार मिट्टी-पानी हैं। सुख-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दुःख या मिट्टी-पानी मूल प्रदत्त हैं या नहीं, यह यहां विचारणीय नहीं है, किन्तु ये प्रदत्त हैं, यह यहां स्पष्ट है, इन्हें हम दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रदत्तों जैसे संवेद्य आदि, से पृथक् करने के लिए असमीक्षित प्रदत्त कह सकते हैं। किन्तु धर्म या-दृष्टि भी इसी प्रकार का प्रदत्त है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु कुछ इसी प्रकार प्रदत्त हुए बिना इसके बारे में विचार ही कैसे आरम्भ किया जा सकता है? विचार आरंभ करने के लिए यह प्रदत्त संभवतः लोक-परंपरा से प्राप्त किया जा सकता है। किंतु लोक-परंपरा में इसका कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है; कम से कम प्रकटतः इससे संबन्धित लोक-परंपराएँ बहुत भिन्न-भिन्न हैं। एक ओर पौराणिक-धार्मिक परंपराएँ हैं जिनमें कोई भी वस्तु अलौकिक सत्त्व (डीटी) के रूप में नाम ग्रहण कर लेती हैं और दूसरी ओर ईसाई और मुस्लिम धर्म हैं जिनमें एक ईश्वर-संज्ञक देवता जगत् का शासक और प्रवर्तक है। तीसरी ओर बौद्ध धर्म है जिसमें द्रव्यत्व या वस्तुत्व मात्र का निषेध है और इस प्रकार ईश्वर ही नहीं, मनुष्य का आत्मा और जगत् का वस्तुत्व या द्रव्यत्व, तथा जगत्गत विषयों का वस्तुत्व तक अस्वीकृत है।[1] कांट ने ईसाई धर्म के ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करते हुए उसकी व्याख्या तर्क की सीमाओं में भौतिक और नैतिक अनुभवों के अन्तर्गत दो प्रकार के तार्किक अतिक्रमणों (ट्रांसेंडेंसिस) के द्वारा की, किन्तु बौद्ध ईश्वर और तर्क दोनों को भ्रान्तियां मान कर पीछे छोड़ देते हैं और धर्म को एक सर्वथा दूसरा ही आयाम दे देते हैं। वास्तव में यह बौद्ध-दृष्टि सब औपनिषदिक धर्मों में भी देखी जा सकती है।[1] मैं समझता हूं, लोक-परपंरा के धर्मों और औपनिषद्-धर्मों (जिन्हें हम दार्शनिक धर्म भी कह सकते हैं) के दो विच्छेदक गुण कहे जा सकते हैं: प्रथम यह कि लोक परंपरा लौकिक-प्राकृतिक कारण-कार्य सम्बन्धों को अलौकिक यादृच्छिकता से नियम्य रूप में देखती है, और दूसरे, वह इस यादृच्छिकता का उपयोग मनुष्य की लौकिक सुख-समृद्धि के लिए करना धर्म का उपयोग मानती है। गणेश-पूजा, हनुमान-पूजा आदि इसके उदाहरण हैं। इसके विपरीत दार्शनिक परंपरा इच्छा को केवल लौकिक ही मानती है और इस प्रकार धर्म के लौकिक रूप को भी लौकिक-प्राकृतिक साध्योन्मुख ही मानती है, और दूसरे, वह धर्म का उपयोग या प्रयोजन सब लौकिक प्रयोजनों के त्याग और अतिक्रमण में और इस प्रकार व्यक्तित्व के अलौकिकीकरण : अतिक्रमण : में देखती है। बौद्ध नैरात्म्यवाद में इस अभिनिवेश की पराकाष्ठा है, क्योंकि वह ब्रह्म आदि की अवधारणा में भी किसी न किसी प्रकार से मनुष्य की अपने व्यक्तित्वः अहंकारः को बनाये रखने का लोभ देखता है, और परिणामतः वह किसी भी स्थायी सद्वस्तु का निषेध करता है। उसके दार्शनिक प्रतिपादनों के पीछे उस का यह धार्मिक प्रयोजन है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुस्लिम, ईसाई और वैष्णव आदि धर्म इन दो कोटियों के बीच में रखे जा सकते हैं। ये मध्यवर्ती धर्म धार्मिक चेतना के दो स्तरों के बीच के स्तर के रूप में इन कोटियों में एक तारतम्य को सूचित करते हैं। किंतु यह तारतम्य ऐतिहासिक विकासात्मक नहीं हो कर संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल), अथवा कहें बोधमूलक है। यदि यह सही हो तो इसका अर्थ होगा कि धर्म के सभी रूप चेतना के एक ही मौलिक भाव या अभिनिवेश को व्यक्त करते हैं अन्यथा यह कहना होगा कि चेतना के सर्वथा दो या तीन भिन्न भावों को एक ही नाम दिया जा रहा है। किन्तु हमारे लिए यहां यह विचारणीय प्रश्न नहीं है कि किस प्रकार लोक-धर्म और दार्शनिक धर्म एक ही बोध के दो स्तर हैं; यहां हम दार्शनिक धर्म को धर्म का शुद्धतम रूप मान कर उसके अनुसार ही धर्म का स्वरूप समझने का प्रयत्न करेंगे।

किंतु, धर्म का शुद्ध स्वरूप या अर्थ क्या है, यह निर्णय कैसे हो सकता है? वास्तव में यह समस्या दर्शन के लिए केवल धर्म के प्रसंग में ही नहीं है, बल्कि उसके विवेच्य किसी भी विषय के लिए है, क्योंकि दर्शन किसी भी विषय को उसकी अवधारणा और अनुभूति के मूल से ही समझता है। इस प्रकार ऐन्द्रिय विषय भी उसके अपने स्वरूप में नहीं (यदि उसका कोई ऐसा स्वरूप हो भी तो) बल्कि इन्द्रिय-विषयानुभूति में, उसके अवधारणात्मक मूल में, दर्शन के लिए विचारणीय होता है। किन्तु धर्म के सम्बन्ध में इस आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि धर्म अपनी मूल धारणा में पौराणिक नहीं हो कर दार्शनिक है? अधिकांश में तो धर्म के पौराणिक-लौकिक रूप को ही धर्म कहा जाता है, उसके दार्शनिक रूप को नहीं। इसी कारण बौद्ध धर्म को 'धर्म' उसकी अहंकार-क्षय की आत्यन्तिक दृष्टि के आधार पर नहीं बल्कि उसकी उपासना-विधि के बाह्य चिन्हों के आधार पर कहा जाता है। किन्तु वास्तव में यह अयुक्त है। अध्ययन की यह दृष्टि उन अध्येताओं के लिए ही रोचक हो सकती है जो ज्ञान के लिए भावनात्मक या बोधात्मक साक्षात्कार को प्रासंगिक नहीं मानकर केवल इन्द्रिय-ग्राह्य तत्त्व को ही प्रासंगिक मानते हैं। यह तथाकथित वैज्ञानिक विधि नियमन तथा नियोजन (मेनीपुलेशन) के लिए तो उपयुक्त है, ज्ञान के लिए नहीं, और दर्शन ज्ञान के लिए प्रयत्न है। इसी से दर्शन प्रामाण्य के अनुसन्धान में तर्क, विज्ञान या लोक-संज्ञान के समान किसी बाहरी प्रयोजन के आधार पर विश्राम नहीं लेता। इसीको दर्शन की प्रामाण्य तथा प्रदत्त की पूर्वमान्यता-रहित खोज कहा जाता है। ऐसे ज्ञान' के लिए उपयुक्ततम विषय विषयीगत बोध– आत्मोन्मुख बोध है, या फिर वह भाव (बीइंग) है जो विषयी-बोध के साथ एकाकार होते हुए उसे अपने भीतर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिष्ठित करता है। स्वयं अनुभववादी वैज्ञानिक भी आज अपने अध्ययन के लिए निदर्श (मॉडेल) को माध्यम बनाना आवश्यक पाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे भी स्वयं इंद्रिय-ग्राहच विषय को ज्ञान के स्तर पर ग्राह्य नहीं मानते, केवल बुद्धिमूलक कल्पनाओं को ही ग्राह्य मानते हैं। वास्तव में यह कांट के ट्रांसेंडेंटलिज्म का एक निम्नस्तरीय प्रयोग हैं। इस प्रकार यह इस बात की स्वीकृति है कि विषय का भाव (बींग) या आधार वास्तव में विषयीगत है, यद्यपि अनुभववादी वैज्ञानिकता-वादी इस सत्य को देखने से इन्कार करते हैं और अपनी दृष्टि निरन्तर विषयोन्मुख ही रखते हुए निदर्शों के प्रयोग को केवल विधिमूलक कल्पनाओं (मैथोडोलोजीकल हाइपॉथिसिस) के रूप में ही देखते हैं। ज्ञान-विषयक यह दृष्टि भौतिक जगत् के नियोजन के लिए उपयोगी हो भी सकती है; किन्तु यह सत्य भी है, कि यह मनुष्य या वस्तुओं के स्वरूप को देखने के लिए भी समीचीन है, यह बात इससे सिद्ध नहीं होती। ज्ञान अपने लिए उपयुक्ततम आधार विषयि-भाव (सब्जेक्टिविटी) में ही पाता हैं। किंतु विषयी-भाव चित्-सत् की अविभक्त स्थिती है। ज्ञान इस चित्-सत् की आत्म-विभक्ति है, यह अपने को अपनी प्रस्तुति है, यह अद्वय का आत्मविमर्श के लिए आत्मविश्लेषण है जो भाषा में विश्लेषणात्मक अध्यवसाय (एनेलिटिकल जजमेंट) के रूप में प्रकट होता है। "सब वर्णयुक्त विस्तारयुक्त है" में एक ही क्षण अपने को प्रकाशित करने के प्रयत्न में विश्लिष्ट हो रहा है। किंतु यह क्षण वैभव में अत्यंत क्षीण होने से इस एक हीं वाक्य में अपनी पूरी अभिव्यक्ति पा लेता है। इसके विपरीत एक गीत, उपन्यास, वैज्ञानिक व्यवस्था और दार्शनिक व्यवस्था आदि अत्यंत वैभवपूर्ण क्षण के आत्मविश्लेषण होते हैं। किंतु ये सब अनिवार्य रूप से विषयि-भाव के आत्म-विश्लेषण नहीं हैं। ये तब तक विषयि-भाव के क्रियान्वयनमात्र होते हैं जब तक यह क्रिया आत्मोन्मुख होकर अपने को ग्राह्य रूप में प्रकाशित नहीं करती है। उदाहरण के लिए नैतिक निर्णय को लें: "यह कार्य श्रेयस्कर है।" यह निर्णय विषयि-भाव का विषयोन्मुख क्रियान्वयन है। इस भाव से नितांत शून्य यह सूचनात्मक निर्णय है कि भारतीय समाज में पातिव्रत्य को श्रेयस्कर माना जाता है। यह निर्णय विषयमूलक है। अब, इनमें पहला निर्णय तब विषयि-भाव का आत्मविवेचन हो जाता है जब स्वयं श्रेयोमयता का बोध मननीय बनता है। उदाहरण के लिए नैतिक संदेह के क्षण में अथवा कर्त्तव्य-च्युति पर पश्चात्ताप के क्षण में; और एक दूसरे स्तर पर जब हम इस बोध की क्रियान्विति के मूल में जा कर इसके तत्व का ही स्वरूप देखने का प्रयत्न करते हैं। दर्शन में हम यह अन्तिम कार्य ही करते हैं। इसमें बोध की क्रिया या स्थिति केवल एक अवसर बनती हैं, जैसे गीता में अर्जुन का युद्ध-क्षेत्र में विषाद।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यही बात धर्म के साथ भी है। इसका एक नितांत विषयनिष्ठ ग्रहण हो सकता है, जो हम नृतत्त्वशास्त्रियों-समाजशास्त्रियों के अध्ययनों में देखते हैं। इसके विपरीत, जब हम जीवन की आगंतुकता का, लौकिक उपलब्धियों की निस्सारता का, या लोकोत्तर विराटता का अनुभव करते हैं और इस अनुभव को अपनी जीवन-दृष्टि और जगतदृष्टि का आधार बनाते हैं तब हम धार्मिक विषयिभाव में प्रतिष्ठित होते हैं, किंतु जब यह भाव अपनी घटना में अनुभूत नहीं होकर अपने स्वरूप में विमृश्य होता है तब वह विषयिभाव के आत्मविवेचन का प्रसंग होता है, जो धर्म-दर्शन का क्षेत्र है।

इस प्रकार धर्म की परिभाषा उपर्युक्त धार्मिक विषयिभाव से की जा सकती है। निश्चय ही यह परिभाषा पौराणिक धर्म पर पूरी तरह लागू नहीं होती, किंतु अंशतः यह उसपर भी लागू है। यह दृष्टि इंद्रियगोचर जगत् को अपर्याप्त पाकर इसे मानसगोचर जगत् के साथ संबंधित करके देखती है और इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि के लिए लोकोत्तर भाव इस दृष्टि के लिए इह लोक का एक केंद्रीय निर्धारक तत्त्व होता है। इस दृष्टि के विषयभूत जगत् में आत्मा, देव-शक्तियां, और मरणोपरांत जीवन आदि उसी प्रकार अस्तित्ववान होते हैं जिस प्रकार मेज, कुर्सियां आदि होते हैं। उनका अस्तित्व होता या नहीं, यहाँ हमारे लिए यह विचारणीय नहीं है। किंतु अवांतर टिप्पणी के रूप में यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि कांट ईश्वर आस्तित्व तर्क-विरुद्ध दिखाते हुए यह भूल जाते हैं कि एक तो किसी तर्क की मूल प्रतिज्ञाएँ स्वयं उस तर्क अंतर्गत नहीं होती, और दूसरे, स्वयं कांट की अपनी युक्ति के अनुसार भी, भौतिक वस्तुओं का कोई अस्तित्त्व नहीं है। जो भी हो, आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि, धर्म-दृष्टि, अस्तित्व के आग्रह के विपरीत, अस्तित्व की आगंतुकता के बोधके आग्रह के साथ प्रवृत्त होती है, और यही बोध वास्तत्व में धर्म को दूसरे बोधों से पृथक् करता है। मध्यवर्ती धर्म में हम लोकोत्तर अस्तित्व दृष्टि और लौकिक अस्तित्व की आगंतुकता की दृष्टि दोनों ईश्वर-भाव में आत्म-समर्पण के रूप में समन्वित देखते हैं। इस दृष्टि का स्वरूप और प्रामाण्य क्या है ?

जीवन की, अस्तित्व की, आगंतुकता का बोध एक साधारण तथ्य-विषयक ज्ञान नहीं है। 'यह पुस्तक चार सौ पृष्ठों की है' अथवा 'इस पुस्तक का रंग पीला है' ये कथन तथ्य-विषयक हैं और ये तथ्य आगंतुक हैं। किंतु इन तथ्यों का 'ज्ञान' और इनकी आगंतुकता का बोध ज्ञान और ज्ञेय मात्र के तथा कर्म, प्रवृत्ति और साध्य मात्र के अर्थ के संबंध में कुछ मौलिक प्रश्न उत्पन्न कर देता है और मनुष्य की जगत्-विषयक सहज आस्था को रूपान्तरित कर देता है। 'मैं हूँ' यह एक सहज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मौलिक तथ्य है जो तथ्य मात्र के भाव या अभाव का धारण करता है। यह सही है कि 'यह पुस्तक है' तथ्य अपने-आप 'मैं हूँ' पर आश्रित नहीं है, किंतु 'मैं नहीं हूँ' यह तथ्य (बोध) पुस्तक के होने के तथ्य को उसी धुरी पर नहीं रहने देता जिसपर यह तथ्य मेरे अभाव के इस तथ्य-बोध के बिना था, मेरे अभाव का तथ्य भाव मात्र को उसकी मूल धुरी से विचलित कर देता है। 'पुस्तक लाल रंग की है' की आगंतुकता उसके पीला हो सकने के कारण है; वास्तव में 'यह पुस्तक है' भी आगंतुक तथ्य है और इसकी आगंतुकता 'इस' के पुस्तक नहीं होने की शक्यता के कारण, अथवा कहें, 'पुस्तक होना' 'इस' की अनेक संभावनाओं में एक संभावना मात्र होने के कारण, है किंतु यह शक्यता और आगंतुकता कोई गंभीर समस्या उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि 'यह' से संकेतित भाव (बींग) इसमें अक्षुण्ण है। किंतु मेरी आगंतुकता, मेरी अभाव-शक्यता, इस 'यह' के भाव की अक्षुण्णता को भी समाप्त कर देती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'यह' की अक्षुण्णता 'मैं' की आगंतुकता से इसलिए समाप्त नहीं होती कि इसका निर्धारण 'मैं' का अपेक्षी है, क्योंकि यहाँ 'यह' से निर्दिष्ट सत् 'वह' से बाधित या व्यावृत्त रूप में अपेक्षित नहीं होकर अनिर्धारित या निरुपाधिक रूप में ही लक्षित है। इसकी अक्षुण्णता 'मैं' की आगंतुकता से इस कारण समाप्त होती है क्योंकि 'मैं' सत् का मूल है, मेरा असत् अकल्पनीय परम शून्य में ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

हम यह प्रतिपादन डेकार्टीय संदर्भ में नहीं कर रहे हैं जिसके अनुसार 'मैं' में संदेह असंभव है, न शांकर संदर्भ में ही कर रहे हैं जिसमें 'मैं' सब ज्ञान का अनिवार्य सहगामी है, यहाँ हमारा आशय है कि 'मैं' की आगंतुकता को ही परमार्थ रूप में स्थापित कर देती है। संभवतः बुद्ध की यही दृष्टि थी। सार्त्र में भी, जो बींग इन इट्सेल्फ को ही मूल और स्वतंत्र भाव मानता है, जगद्भाव का मूल 'मैं' में ही है। इस प्रकार सार्त्र में भी मैं की आगंतुकता या तो आगंतुकता को ही रूप परमार्थ में स्थापित कर देगी, अन्यथा निरपेक्ष परम जड़ भाव (इन इट्सेल्फ) को 'मैं' के आधार के रूप में प्रतिष्ठित कर देगी।[१]

अपनी आगंतुकता का त्रासक बोध यद्यपि मनुष्य को जरा और मृत्यु के बोध से होता है किंतु यह बोध जरा और मृत्यु के बोध पर आश्रित नहीं है; वास्तव में मृत्यु भी जीवन की आगंतुकता की द्योतक तभी हो सकती है जब चैतन्य में यह बोध मौलिक रूप से विद्यमान हो। "यह कुर्सी लाल रंग की है" में चारों पदार्थों वाच्यार्थों का परस्पर संबंध और अपना-अपना भाव (बींग) आगंतुक हैं, और यह हम इस कुर्सी को देखने के साथ ही जानते हैं; कहना चाहिए, यह बोध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारे इस विषय के ग्रहण का अंतरंग होता है। किंतु यहाँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि न केवल यह कुर्सी और वह मेज ही अंतरंग आगंतुकता के साथ प्रस्तुत होते हैं बल्कि विषय मात्र का आधार जगत् भी अंतरंग आगंतुकता से संवलित है। जगत् का भाव उसके अन्यथा भाव और असद्भाव की संभावनाओं से उतना ही संवलित है जितना इस कुर्सी का। और जैसा कि हम जानते हैं, जगत् की जरा और मृत्यु का हम कभी प्रत्यक्ष नहीं करते। मेरी आगंतुकता इसी से प्रकट नहीं है कि मैं मरूँगा, बल्कि इससे भी प्रकट है कि मैं जो कुछ हूँ उससे सर्वथा भिन्न भी हो सकता था। किंतु तब भी, मृत्यु में अपने असद्भाव का साक्षात्कार करता हूँ, ऐसा साक्षात्कार जैसा मैं अन्य किसी असद्भाव का नहीं करता। "भूतल पर घटाभाव" घट के अन्यत्र भाव का सापेक्ष है और घट-नाश घटाकृति के अन्यथा-भाव का किंतु मेरी मृत्यु न मेरा अन्यथा भाव है और न अन्यत्र भाव। यह पूर्ण अभाव है, भाव का पूर्ण विराम, पूर्ण निषेध।

किंतु क्या यह संभव है? क्या सत् असत् हो सकता है? क्या "भाव का अभाव होना," "सत् असत् होना" यह प्रतिज्ञप्ति संभव है? भाव अभाव से बाधित हो सकता है, उसी प्रकार अभाव का भाव से बाधित होना अनिवार्य है। इस प्रकार पूर्ण अभाव संभव नहीं है। अभाव की भाव से बाधितता उसकी सीमितता की द्योतक है, इसी प्रकार भाव के अभाव होने का अर्थ है भाव की काल में सीमितता। किंतु ये सब सीमितताएँ किसी दूसरे व्यापकतर भाव में धारण होती हैं; काल में सीमितता अर्थात् भाव और अभाव की काल में परस्पर व्यावृत्ति, काल की अबाधता: अव्यावर्तनीयता में धारण होती है, इसी प्रकार भूतल भ$_1$ पर घट भाव और भ$_2$ पर उसका अभाव भूतल की अबाधता में धारण होता है; काल का स्वयं में भाव और देश तथा सामान्य आदि में अभाव जगत् के भाव की अबाधता में धारण होते हैं। किंतु जगत् भी पूर्ण भाव नहीं है; जैसा कि हमने पीछे देखा, इसका असद्भाव और भाव का अन्यथात्व संभव है। किंतु जगत् के भाव और अभाव का धारण किस में हो सकता है? यह व्यापकतर आधार क्या हो सकता है? यह आधार कुछ लोगों ने भूत-तत्त्व में देखा है। किंतु भूततत्त्व जगत् के भाव का आधार तो हो सकता है, उसके अन्यथाभाव और अभाव का आधार नहीं हो सकता, जो कि उसके जगत् के व्यावर्त्तक होने से जगत् के भाव की अनिवार्य और अंतरंग अपेक्षाएँ हैं। इस प्रकार भूत-तत्त्व जगत् के भाव का आधार भी नहीं हो सकता, क्यों कि उसके भाव का आधार वही हो सकता है जो उसके अन्यथा भाव और अभाव का भी धारण कर सके। और वास्तव में भूत-तत्त्व भाव में जगत् के भाव से संकुचिततर भी है, क्योंकि वह, अधिक से अधिक, जगत् का उपादान कारण ही हो सकता है, जब कि जगत् का भाव कम से कम निमित्त, प्रयोजन और कल्पना को भी समाविष्ट करता है। और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब हम उसके व्यावर्तकों: अन्यथा भाव और अभाव: की सापेक्षता में उसका ग्रहण करें तो पायेंगे कि केवल विकल्पात्मक चित् ही जगत् के अभाव और अन्यथात्व का धारण कर सकता है। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि जगत् का अभाव और अन्यथा भाव अनिवार्यतः विकल्पमूलक होनें से अवास्तविक ही क्यों नहीं माने जाय? इसका उत्तर इसके भाव की ही विकल्पमूलकता के आधार पर दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि उपर्युक्त आपत्ति में जगत् के भाव की पूर्णता गृहित है। इस अवस्था में इसके अभाव और अन्यथा भाव की कल्पनीयता कुछ सिद्ध नहीं कर सकती। यहाँ जगत् के भाव के स्वरूप के संबंध में विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता।[४] यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जगत् अपने भौतिक पक्ष में नितांत सामान्य गणितीय नियम को और जैव पक्ष में जैव सप्रयोजनता और विकल्प को व्यक्त करता है। गणितीय नियम के रूप में इसे मानवीय विकल्प का आक्षेप भी कहा सकता हैं, जैसा कि बौद्धों, विशेषतः दिङ्नाग ने और कांट ने दिखाया है, किंतु जैव प्रयोजन मानव-संकल्प के अधीन नहीं देखा जा सकता। उदाहरण के लिए मधुमक्खियों का छता और पक्षियों की प्रवास-यात्राएँ आदि स्वतंत्र प्रयोजन और बुद्धि-कौशल को प्रदर्शित करते हैं। जिनका कर्तृत्व न मनुष्य के अधीन हैं; न उन प्राणियों के। जहाँ तक मानवीय विकल्प का प्रश्न हैं, वह भी उसके व्यक्तिगत या जातीय संकल्प के अधीन नहीं होने से वैश्व संकल्प और बुद्धि को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार जगत् के आधार में बुद्धि की विद्यमानता एक असंदिग्ध तथ्य है।[५] यह बुद्धि ही विमर्श रूप में विषय-वैविध्य को और उसके अभाव तथा अन्यथा भाव को धारण करती है। यही वैश्व बुद्धि-तत्त्व धर्म में कर्तृत्व की शक्ति से संयुक्त हो कर ईश्वर के नाम से स्थापित होता है। किंतु कर्तृत्व अहंकारोपाधि को पूर्वकल्पित करता है, जो ईश्वर में संभव नही है। इसी से दार्शनिक धर्मों—बौद्ध, वेदांत, सांख्य आदिः में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। किंतु जगत् का आधार चित् को स्वीकार किया गया है।[६] वैष्णव धर्म में ईश्वर को स्वीकार किया गया है किंतु उसमें भी उसे व्यक्ति और कर्ता के रूप में नहीं वल्कि ईश्वर तत्त्वः लीला-तत्त्वः के रूप में स्वीकार किया गया है। यह चित् या लीला—तत्त्व ही जगत्तत्त्व के भाव की पूर्णता है।

किंतु चित्तत्त्व की कर्तृत्व से : अहंकारोपाधि से: रहित पूर्ण भाव के रूप में कल्पना, जो कि नागार्जुन और वसुबंधु के 'बुद्ध' में और शंकर के ब्रह्म में उपलब्ध होती हैं, अत्यधिक साहसपूर्ण दार्शनिक चिंतन के लिए ही संभव हो सकती है, धर्म के लिए यह सहज सुलभ नहीं है। क्योंकि धर्म अभाव (नान्—वीगं) की जिस अनुभूति को जीतने के जिस प्रयत्न के रूप में आरंभ होता है उसमें आस्था के लिए अपेक्षाकृत ठोस आधार की आवश्यकता होती है। इसी सामान्यतः धर्म व्यक्तित्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्तृत्व सम्पन्न ईश्वर या देवता में आगन्तुकता: अभाव: के अनुभव से जनित त्रास का आश्रय खोजता रहा है। इसीसे शंकर ने उपासना के लिए ईश्वर की व्यवस्था की और कुछ बौद्ध धर्म—सम्प्रदायों ने व्यक्तित्व-सम्पन्न बुद्ध की। किंतु तब भी, पूर्ण निरुपाधिक भाव के रूप में चैतन्य की अत्यंत साहसपूर्ण दार्शनिक कल्पना का श्रेय भी आगन्तुकता की धार्मिक अनुभूति से प्रेरित कुछ मनस्वियों को ही है, क्योंकि यह बोध हम केवल उपनिषदों में, और अपने स्फुटतम रूप में बुद्ध में ही सब से पहले पाते हैं (इसमें कितना साहस अपेक्षित है, यह पश्चिमी धर्म के ही नहीं दर्शन के इतिहास से भी देखा जा सकता है, जिसमें फिख्ते से पहले दार्शनिक कल्पना व्यक्तित्व या अहंकारोपाधि का अतिक्रमण नहीं कर सकी और जिसमें मनुष्य के व्यक्तित्व को आत्यंतिक तथा ईश्वर को व्यक्ति रूप में देखा गया। वास्तव में फिख्ते भी हेगल में भी अहंकारोपाधि का अतिक्रमण निरुपाधिता में नहीं है बल्कि बुद्ध्युपाधि में है।) किंतु वास्तव में यह आगन्तुकता के बोध का ही तर्क है कि जो वैयक्तिकता मात्र की औपाधिकता को प्रकट करता है।

ऊपर हमने धर्म को परिभाषित करके भी दर्शन से उसके भेद को परिभाषित नहीं किया। यहाँ वह करना आवश्यक हो गया है। वास्तव में दर्शन की एक स्पष्ट और निश्चित परिभाषा कठिन है, क्योंकि जहाँ एक ओर दर्शन को धर्म-दृष्टि के रूप में ही देखा गया है, जैसे सामान्य रूप से भारतीय दार्शनिकों द्वारा और सुकरात, प्लेटो और ईसाई सन्तों द्वारा, वहाँ दूसरी ओर इसे दृष्टि के निरपेक्ष आकार : ऊहा, युक्ति, विश्लेषण : के रूप में देखा गया है जैसे भारतीय नैयायिकों द्वारा और पश्चिम के पिछली तीन शताब्दियों के कुछ दार्शनिकों द्वारा। यदि दर्शन को दृष्टि के आकार मात्र के बजाय दृष्टि : वस्तु-दर्शन, तत्व-दर्शन भी माना जाय तब भी उसे केवल धर्म तक तो सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि चार्वाकीय दृष्टि भी वास्तव में तत्त्व-दृष्टि ही थी। किंतु इस पर आपत्ति की जा सकती है कि चार्वाकीय दृष्टि वास्तव में दृष्टि नहीं थी, वह केवल आकार में ही दृष्टि थी अन्यथा उसमें 'दृष्टि' का व्यवस्थित रूप से निषेध था। यदि इस मत को स्वीकार किया जाय तो केवल धर्म-दृष्टि ही 'दृष्टि' रह जाती है और इस प्रकार धर्म-दर्शन ही दर्शन रह जाती है। भारतीय दार्शनिकों के अतिरिक्त फिख्ते, शैल्लिंग तथा हेगल आदि का बहुत कुछ यही मत था। यह मत विचारणीय और युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। इसके पीछे युक्ति यह है कि जीवन के तत्त्व-विषयक कोई भी समग्र और सम्यक् दृष्टि विभिन्न रूपों, पक्षों और प्रकारों को एक ही तत्त्व के रूप में देख सकती है और वह तत्त्व है परमात्मा, परम बुद्धत्त्व। ऊपर जिसे हमनें परम भाव निरूपाधिक सत् कहा है उसे ही परमात्म तत्त्व भी कह सकते हैं। किंतु दार्शनिक दृष्टि इस दृष्टि से इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बात में भिन्न है कि यह तत्त्व को देखने के बजाय उसके प्रामाण्य की पूछ करती है, प्रामाण्य की पूछ विशिष्ट रूप से बौद्धिक चतन्य का स्वोन्मुख अभिगमन है। यह कहा जा सकता है कि प्रामाण्य का यह अनुसन्धान केवल एक ही तत्त्व की प्रामाणिकता के निश्चय में पर्यवसित हो सकता है, जिस तत्त्व का धर्म-दृष्टि प्रदत्त के रूप में साक्षात्कार करती है। किंतु यह एक दूसरी बात है।

धर्म दर्शन के समान प्रामाण्य का अनुसंधान नहीं है, यह भाव या तत्त्व (बींग) का साक्षात्कार और उस स्थिति में अपने को बनाये रखने का प्रयत्न, अथवा साक्षात्कार का प्रयत्न, है। इस प्रकार धर्म साधना या प्रयत्न है। इसमें साक्षात्कृत अथवा साक्षात्करणीय तत्त्व का प्रथम आभास जगत् में जीवन की आगंतुकता और परिणामस्वरूप इसकी आतत्त्वता : निस्सारता : के साक्षात्कारात्मक बोध से होता है। जीवन की अतत्वता का साक्षात्कार तत्त्व को भी एक ही साथ और अनिवार्य रूप से प्रस्तुत कर देता हो, ऐसी बात नहीं है; दूसरे, यह साक्षात्कार बौद्धिक नहीं होता, क्योंकि यदि यह बौद्धिक होता तब यह दर्शन ही हो जाता। यह साक्षात्कार तद्भाव की : तत्त्व की : नकारात्मक पदावली में कहें तो, अतत्व के अपक्षय की सिद्धि है, यह 'हुए होने' से 'हो जाना' है, यह 'संभाव्य' से मुक्त होकर 'भाव की पूर्णता पा लेना' है।

'अतत्व का अपक्षय', 'भाव की सिद्धि' ये पद पूर्णतः बौद्धिक, ज्ञानात्मक-तर्कात्मक, पदावली में अनवगम्य हैं, क्योंकि उस पदावली में मानदण्ड सत्य होता है; जो ज्ञान के और भाव के द्वैत के बीच समन्वय की स्थिति है। किंतु आश्चर्यजनक स्थिति यह है कि हमारे साधारण लौकिक जीवन में यह समन्वय नितांत सांयोगिक है और ज्ञानमीमांसा तथा तर्कशास्त्र सदैव भ्रम के विवेचन के प्रति चिन्तित रहते हैं ये भ्रम की विद्यमानता के रहस्य और उससे मुक्ति के लिए प्रयत्नों के संबंध में प्रायः ही विचार नहीं करते। ऐन्द्रिक विषय का साक्षात्कार ऐन्द्रिक सत्य है, किंतु इसमें भ्रम सदैव होता है। दर्शन भ्रम के स्वरूप पर विचार करता है, किंतु इस की विद्यमानता के हेतु और इसके निवारण के उपायों पर विचार नहीं करता, उन उपायों पर आचरण में तो कभी भी प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार तर्कशास्त्र प्रतिज्ञाप्तियों में बुद्धि-ग्राहय संबंधों के स्वरूप की खोज करता है और उस मानदण्ड से सत्य और असत्य संबंधों का निर्णय करता है। किंतु असत्य संबंधों की विद्यमानता के रहस्य और तज्जनित उद्विग्नता और त्रास का अनुभव यह नहीं कर सकता और न असत्य की संभावना के निवारण के प्रयत्न में प्रवृत हो सकता है। इसी से यह विचार, इंद्रिय और मनस् आदि की प्रवृत्ति की दिशा की युक्तता-अयुक्तता का निर्णय भी नहीं कर सकता। उदाहरणतः, क्यों मैं दर्शन-विचार ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करें, लोक-व्यवहार की समस्याओं के समाधान में ही विचार प्रवृत्त क्यों नहीं रहूँ, यह बोध ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र के अपने क्षेत्रों में नहीं है, यह बोध नीति और धर्म-मूलक है : कर्म के सन्दर्भ में नीति मूलक और अस्तित्व सामान्य के संदर्भ में धर्म-मूलक।

वास्तव में भ्रम, अविवेक, अतत्त्व, अभाव, जो आगंतुकता के ही विभिन्न पक्ष हैं, की विद्यमानता रहस्यों का रहस्य परम रहस्य है, क्योंकि इनकी वस्तुता नहीं है, ये 'शून्य' हैं; किंतु तब भी ये हैं। ये अवस्तु हैं, तभी इन से मुक्ति संभव है किंतु क्योंकि अवस्तु होने पर भी ये हैं, इसी से प्रयत्न की विद्यमानता और सार्थकता है। यह सब हम सहज रूप से जानते हैं, यह बोध वास्तव में रहस्य बोध के अन्तर्गत ही है। इसी से धर्म चर्या है, आचरण है, विपश्यनता नहीं, यह भी कह सकते हैं कि धर्म इस पक्ष में अविपश्यनता के निवारण का प्रयत्न है, विपश्यनता उसका फल है।

भ्रम, अविवेक, अविपश्यनता और इसी प्रकार ज्ञान, विवेक और विपश्यनता प्रथमतः चित् और सत् के द्वैत को सूचित करतें हैं, और अधिकांश दर्शनों और धर्म-दर्शनों ने यह भेद स्वीकार किया है। धर्म ने यह द्वैत मनुष्य और ईश्वर के द्वैत के रूप में देखा है। किंतु वास्तव में यह द्वैत मूलगामी रूप में कल्पित करना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यदि द्वैत वास्तविक हो तब अभाव का निवारण असंभव होगा यदि मुझे ईश्वर से मेरी सीमितता ही पृथक् करती है तब सीमितता मेरा स्वरूप है और परिणामतः वह अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में इसके निवारण की संभावना ही समाप्त हो जाती है। यदि चित् और सत् की पदावली में विचार करें तो चित् से भेद कैसे करेंगे ? क्योंकि चित् भी असत् नहीं हो सकता। यदि द्वैत को द्रव्यगत मानें तब एक और विपश्यनता की सिद्धि का कोई निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि तब या तो ज्ञान स्वतः सिद्ध है अथवा वह है ही नहीं, इसमें अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति का कोई अर्थ नहीं रह सकता। और दूसरी ओर, इसका आगंतुकता के धार्मिक बोध से कोई संबंध नहीं हो सकता। और वास्तव में मनोमूलक असत्य अविवेक, दिशा-भ्रष्ट राग और बुद्धिमूलक असत्य में द्रव्यगत द्वैत का वैसे भी कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि नैतिक-धार्मिक उचित, और विचारात्मक युक्तता या सत्य स्वयं मनोगत और बुद्धिगत आत्म-बोध है, किसी द्रव्यान्तर की अपेक्षा से इनका निर्धारण नहीं। अमुक कर्म उचित है या या नहीं, इसका एकमात्र निर्धारण इस बोध की अपेक्षा से होता है कि कर्त्ता की मनोवृत्ति क्या थी, दूसरे शब्दों में कर्त्ता के आत्मसाक्षात्कार के द्वारा। इसी प्रकार विचार की युक्तता या सत्य का निर्धारण विचार के अपने सूत्रों में अन्तर्गत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संगति की सिद्धि से होता है, अपने से बाहर किसी वस्तु की अपेक्षा से नहीं'। धार्मिक आगंतुकता का बोध स्वयं अस्तित्वमूलक ही होने से उसके द्वैतपरक होने का कोई अर्थ नहीं है। कि अधिकांश धार्मिक लोगों ने इस सत्य को नहीं देखा, यह केवल इसी बात का द्योतक है कि विषयीगत अर्थ का अवलम्बन बहुत, अधिक दुस्साध्य होता है।

ऐतिहासिक रूप से, आगंतुकता के धार्मिक बोध की आदिमतम अभिव्यक्ति हम मृत्यु से संबंधित संस्कारों में पाते हैं। मृत्यु से उद्घाटित आगंतुकता की चुनौती को मनुष्य ने मृत्यु के पश्चात् जीवन की कल्पनाओं द्वारा विजित करने का प्रयत्न किया और जीवित मनुष्य की ओर उसके जगत् की ससीमता के बोध को देवलोक की कल्पनाओं द्वारा आपूर्त किया। इस बोध के प्रति मनुष्य की आरम्भिक प्रतिक्रिया पूर्णतः बाह्योन्मुख तथा जगत् के स्वरूप के निर्धारण के प्रति चिन्ताकुल थी। किंतु पीछे क्रमशः यह बोध स्थूल अस्तित्व के बजाय आन्तर भाव-बोध की ओर, वस्तु के बजाय आशय वस्त्वर्थ की ओर, उन्मुख होता चला गया। अब चिन्ता का विषय मृत्यु के बाद मनुष्य की भौतिक-जैविक या मानसिक काया का नैरन्तर्य नहीं रह कर व्यक्तित्व का, बोध का रूपान्तरण हो गया। इसी से धर्म के साथ नैतकता, श्रेयस्, आर्षत्व, आन्तर शान्ति, औदार्य और सामरस्य आदि का अनिवार्य संबंध हो गया। कुछ लोग धर्म के साथ नैतिकता का अनिवार्य संबंध नहीं मानते, मानो अनैतिक व्यक्ति भी धार्मिक हो सकता हो। ये लोग वास्तव में धर्म के लिए नीति को आप्रासंगिक मानते हैं '। किंतु यह सही नहीं है। यह धारणा बहुत कुछ नीति को संकुचित अर्थ में लेने के कारण और बहुत कुछ धर्म को सही अर्थ में नहीं लेने के कारण है। धर्म पौराणिक आदिम स्तर पर अपने स्वरूप से अनवगत रहता है, उसमें अवश्य नीति उसके लिए अप्रासंगिक होती है। दिवाली पर गणेश-पूजा जिस व्यवस्था की अंग है उसमें नीति वास्तव में ही प्रासंगिक नहीं है; किंतु इस व्यवस्था को पूरी तरह धार्मिक भी नहीं कहा जा सकता। इसमें देवता एक ऐसी लोकोत्तर शक्ति के रूप में कल्पित होता है जो मनुष्य की लौकिक असामर्थ्य और असहाय्य-भावना को संबल देता और उसकी लौकिक सुखाकांक्षा की पूर्ति करता है। किंतु धार्मिक चेतना के विकास के साथ 'देवता' उस दिव्य शक्ति का प्रतीक हो जाता है जो मनुष्य में व्यक्त सीमित प्रकाश, प्राण और बोध का असीमित स्रोत है। ' यह स्रोत सहज प्रसादक है सहज भरण करनेवाला है, किंतु उस दान को प्राप्त करने के लिए अपने में पात्रता उत्पन्न करना आवश्यक होता है। '° यह पात्रता यज्ञ द्वारा और उपासना द्वारा प्राप्त हो सकती है। यज्ञ देवता को देने का कर्म है और उपासना उससे रागात्मक एकीभाव स्थापित करना। देवता को देने का क्या अर्थ है? जिसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वभाव ही देना है और जो शाश्वत और असीम दाता है, उसे देने का क्या अर्थ ? अर्थ स्पष्ट है; इसका अर्थ है दिव्य व्यवस्था में अपने को समर्पित करने के माध्यम से अपने में उस दिव्य शक्ति का अंश जागृत करना। यह धर्माचरण है, किंतु साथ ही यह नैतिक आचरण भी है। धर्म को नीति-निरपेक्ष माननेवाले विचारकों का कहना है कि, धर्माचरण के साथ अनैतिक आचरण असंगत नहीं है, अर्थात् यह सर्वथा कल्पनीय है कि नितांत धार्मिक व्यक्ति नितांत अनैतिक भी हो, जैसे तांत्रिक। इसी प्रकार, यह संभव है कि कोई बहुत भक्तिपरायण व्यक्ति दूसरों के दुःख-दर्द के प्रति और सत्य-निष्ठा के प्रति उपेक्षापूर्ण हो जैसे ईसाइयों और मुस्लिमों ने धर्म के लिए भयानक नर-संहार किये। ये उदाहरण सही हैं, किंतु तब भी ये इस सिद्धांत को पुष्टि नहीं करते कि धर्म-भाव नीति-भाव से निरपेक्ष होता है। इनमें अन्तिम उदाहरण को लें, जब कि यह सही है कि ईसाइयों और मुस्लिमों ने भयानक नर-संहार किये, यह भी सही है कि इन दोनों धर्मों में नैतिक आचरण पर बहुत बल है और इसके बहुत कड़े नियम हैं। इसलिए इस उदाहरण से धर्म और निति का असंबंध सिद्ध नहीं होता। तब ऐसा क्यों है कि इन धर्मावलंबियों ने धर्म के लिए नर-संहार किये ? इस का समाधान यह है कि उन्होंने इस आचरण को अनैतिक नहीं समझा, अधिक सही शब्दों में कहें तो इन्होंने इस आचरण के नैतिक तत्त्व का मर्म ठीक से नहीं समझा। जहाँ तक दूसरे उदाहरण का प्रश्न है, उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भक्तिपरायण व्यक्ति का सत्य के प्रति उपेक्षापूर्ण होना ऐसा ही है किसी अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण और निस्स्वार्थ व्यक्ति का सत्य-भाषण के प्रति उपेक्षापूर्ण होना। ऐसा होता है, यह हम सब जानते हैं। तब, ऐसा क्यों होता है कि एक नैतिक गुण से संपन्न व्यक्ति दूसरे नैतिक गुण से रहित हो सकता है ? इसका कारण यह होता है कि अधिकांश में हम अपने प्रति पर्याप्त प्रबुद्ध नहीं रहते, और या तो नीति का संबंध किसी बाह्य आचरण या आचरणों से स्थिर कर लेते हैं अथवा भावुकतावश कुछ आचरण करते हैं और उसे नैतिक मान लेते हैं और इस भावुकता की परिधि से बाहर कछ देख नहीं पाते। जहाँ तक तांत्रिक का संबध है, उसे धार्मिक ही नहीं कहा जा सकता, वह एक प्रकार का मेकेनिक होता है, जो एक प्राकृतिक (विषय-जगत् परक) स्थिति को उत्पन्न करने के लिए प्राकृतिक साधनों का अविष्कार और उपयोग करता है। केवल उसकी प्रकृति भौतिक नहीं होकर उससे भिन्न होती है। इस प्रकार ये उदाहरण धर्म की नीतिनिरपेक्षता के संबंध में कुछ नहीं करते। इस समस्या के समाधान के लिए नीति के स्वरूप का निश्चय करना आवश्यक है। नीति की न्यूनतम परिभाषा 'कर्म का किसी मानदण्ड के अनुसार अनुशासन' कही जा सकती है। किंतु यह परिभाषा पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इस मान-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दंड का स्वरूप निश्चित होना आवश्यक है। कांट ने इसका आधार श्रेयोर्मय भावना : शुभ संकल्प : को बताया है, कालिदास ने इसी को "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः" के द्वारा अभिव्यक्ति दी है। ठीक यही परिभाषा मनु ने "स्वस्य च प्रियमात्मनः" शब्दों में दी है। वास्तव में मनु ने इसे धर्म का लक्षण कहा है, क्योंकि 'धर्म' शब्द भारत में "धारण करनेवाले नियम" मात्र का वाचक था। बौद्धों ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः सत् के अर्थ में किया है। इस प्रकार इनके अनुसार नीति वह नियम है जो मानव-चेतना की श्रेयस् के प्रति आस्था का, और इस प्रकार उसके अपने सत् का, धारण करता है। इस प्रकार नीति की परिभाषा "आत्म-सिद्धि" अथवा "स्वरूप सिद्धि के लिए अपने कर्म का अनुशासन" यह दी जा सकती है। कुछ लोग नीति को अनिवार्यतः समाजमूलक सामाजिक संबंधों की व्यवस्था मानते हैं और इसका स्रोत मनुष्य की तर्कोचित विवेक की सामर्थ्य को मानते हैं। नीति के इस तत्त्व को ही "आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत" में तथा कांट के 'फोर्म आफ मॉरलला" (नैतिक नियम के आकार) में अभिव्यक्ति मिली है, किंतु तब मनुष्य का तर्कोचित का विवेक मानव-समाज तक ही सीमित क्यों रहे? इसीसे "अहिंसा" की भारतीय अवधारणा ने बाहर इसका विस्तार प्राणि मात्र तक किया और भीतर मानोभाव तक। और यदि मनुष्य समाज का ही नहीं, प्राणि-जगत् का ही नहीं, विश्व-व्यवस्था का सदस्य है, तब फिर उसको विश्व-व्यवस्था में ही अपने तर्कोचित के विवेक का प्रसार करना चाहिए। यज्ञ की अवधारणा में यही बोध है, किंतु तर्कोचित का बोध अपने आप का धारण नहीं कर सकता। क्यों मैं अपने कर्म के औचित्य की कसौटी सार्वभौमता (कांट) को बनाऊं? क्यों मैं परेषां की चिन्ता करूं? और फिर मनुष्य में केवल तर्कोचित का विवेक ही नहीं है, उससे कहीं अधिक वासना राग और अहंकार का आग्रह भी है। तब 'मनुष्य का स्वरूप' प्रथम को कैसे कहा जाय, द्वितीय को कैसे नहीं कहा जाय? इसलिए मनुष्य में स्वरूप बोध को मौलिक स्वीकार करना आवश्यक होगा। जो बोध उसे अपनी चेतना के वासनात्मक : देहेंद्रियात्मक : स्तर को स्वरूप विरुद्ध देखने और उसका अतिक्रमण करने की सामर्थ्य देता है। यदि इस बोध को मौलिक साक्षात्कारात्मक नहीं माना जाए तो कोई तर्क इसकी प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। यह स्वरूप-बोध ही नीति का आधार है : यह मनुष्योचित नहीं है, और यह मनुष्योचित है : यह बोध ही वास्तव में नीति का मूल है जिसके अनुसार सब कर्म की प्रतिष्ठा अंत में भगवत्-भाव में है। गीता में कर्म को इसी भागवत् (वाह्य) संदर्भ में देखा गया है : कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।" नैतिक कर्म इसी कर्म-बोध का एक प्रसंग है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस भागवत् बोध से पृथक् नीति-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोध संभव ही नहीं है, यह बोध कांटीय संदर्भ की सीमा में भी समझा जा सकता है, क्योंकि भागवत् बोध से रहित व्यक्ति केवल बौद्धिक स्तर पर भी युक्तता; तर्कौचित्य का भावन कर सकता है। किंतु यहाँ द्रष्टव्य यह है कि युक्तायुक्त कर्म का विवेक मनुष्य में उतना ही सहज है जितना पशु में (और एक होने से मानव में भी) वस्तु-अवस्तु-विवेक है। और उतना ही सहज मनुष्य में भागवत् बोध भी है। नैतिक और भागवत् बोधों की उत्तरोत्तर कम सुलभता इनकी प्रामाणिकता को कम नहीं करती, जैसे पशु में स्वोन्मुखता या मननशीलता का अभाव मनुष्य में उसकी विद्यमानता को अप्रामाणिक नहीं बनाता।

यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि 'कर्ता की स्वरूप-सिद्धि' पद में नैतिकबोध की व्यक्तिमूलकता अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि इस स्वरूप-सिद्धि में सबसे पहला चरण व्यक्त्योपाधि का अतिक्रमण अभिप्रेत होता है। यह अतिक्रमण भागवत् भाव में तो होता ही है, और वहाँ वह आत्यंतिक होता है: जैसे बुद्ध के द्वादश-निदानात्मक प्रतीत्य समुत्पाद के अपक्षय में: यह तर्कोचित विवेक में भी आधारभूत होता है। क्योंकि इस में 'मैं' और "पर" की कक्षाएं समाप्त कर इन्हें एक ही स्तर पर देखना आवश्यक होता है। किंतु यदि नीति का मूल समाज को बनाया जायगा तब व्यक्ति उसमें न केवल अनिवार्य हो जायगा बल्कि केंद्र भी हो जायगा, क्योंकि तब सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति–व्यक्ति के बीच संबंधों का संस्थान मात्र होगी और सामाजिक संबंधों की प्रामाणिकता का आधार व्यक्तिगत हितों की सिद्धि में उनकी उपयोगिता होगी। यूरोप की प्रजातंत्र और नैतिक चिन्तन दोनों की अवधारणाएं व्यक्ति की अखंडता और मौलिकता के सिद्धांत पर प्रतिष्ठित हैं। किंतु व्यक्ति की यह अवधारणा न धर्म–दृष्टि के साथ संगत है और न नैतिक बोध के साथ ही संगत है, न दार्शनिक प्रामाण्य–चिन्तन ही इसका समर्थन कर सकता है। उदाहरण के लिए ऍंस्लम और डेकार्ट के ईश्वर की सत्ता-विषयक प्रमाणों को लें। इनके अनुसार, मेरी असीमता एक प्रदत्त तथ्य है, और यह तथ्य प्रदत्त होने पर असीमता का अस्तित्व तर्क–सिद्ध है। किंतु तब नागार्जुन कहेंगे कि असीमता अभाव–परिछिन्न भाव है और इस प्रकार स्वरूपतः अन्याश्रित होने से शून्य या निस्स्वभाव है। ऐसी अवस्था में यह मूल प्रदत्त नहीं हो सकती और परिणामतः व्यक्ति की अखंडता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यद्यपि डेकार्ट के लिए 'मैं हूं' यह मूल तथ्य है, किंतु यह मूल तथ्य उसके अनुसार भी मूल प्रदत्त नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि यह मूलगामी संदेह (रैडीकल डाउट) के द्वारा चैतन्य के आत्मलाभ के प्रयत्न का, प्रत्यङमुख होने की साधना का, फल है।[१३] किंतु इस प्रयत्न में चैतन्य की ससीमता, आगन्तुकता या औपाधिकता का साक्षात्कार आत्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के रूप में नहीं होता बल्कि आत्मलाभव्य प्रयत्न के आरंभ में ही होता है : जिसे पर संदेह नहीं किया जा सकता वह ससीम नहीं हो सकता; असीम ही हो सकता है। यदि मेरा भाव ('मैं हूँ') एक ससीम (आश्रित–आगन्तुक) घटना या स्थिति मात्र है तब इसका होना केवल एक संभावना का घटित होना है, वह संदेहों के अतिक्रमण की स्थिति नहीं हो सकती। डेकार्ट ने अपनी ईश्वर-मीमांसा में अपने तर्क के इस दोष को देखा था, यद्यपि उसे पूरी तरह पहचाना नहीं था, क्योंकि पश्चिमी संस्कृति ने वैयक्तिकता को मौलिक मान कर इस प्रकार की पहचान को असंभव बना दिया था। किंतु अन्यथा वैयक्तिकता ईसाई धर्म और दर्शन के अनुसार भी केवल औपाधिकता और अतएव सत्य और श्रेयस के साक्षात्कार में अनिवार्य बाधा ही है,क्योंकि इसी के कारण, उनके अनुसार, मनुष्य सत्य और श्रेयस का साक्षात्कार नहीं कर सकता और ईश्वर पर निर्भर करता है।

ईसाई धर्म-दर्शन मनुष्य की ससीमता के कारण उसके लिए सत्य और श्रेयस् का ज्ञान असंभव मानता है, उसके अनुसार केवल ईश्वर में ही यह ज्ञान संभव है, यहाँ तक कि उस दर्शन के अनुसार, मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि में इसका आभास पा सके इसके लिए ईश्वर का अवतरण अनिवार्य है। किंतु यदि ईश्वर असीमित चैतन्य और ज्ञान है और मनुष्य सीमित चैतन्य है, तब इनमें भेद चैतन्य का नहीं होकर आवरण और निरावरणता का ही हो सकता है। अब, यह किसी भी युक्ति से प्रमाणित नहीं हो सकता कि चैतन्य का आवरण उसका स्वभाव हो सकता है। यह अनुभव-सिद्ध भी नहीं है, क्योंकि हम अपनी सीमित चेतना में भी ज्ञान और भाव (बींग) का विस्तार देखते हैं। तब, व्यक्ति इस विस्तार में आवरण का पूर्णतः निराकरण नहीं कर सकता, यह नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, आवरण चैतन्य का स्वभाव नहीं होकर उसके स्वभाव का निषेध है, इसलिए व्यक्ति-उपाधि मौलिक नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार, इस उपाधि का, आवरण का, अतिक्रमण और ईश्वर-भाव की सिद्धि (और इस सिद्धि की यह कल्पना उपलब्ध नहीं होने पर ईश्वर-कृपा की सिद्धि) यह धर्म के लिए एक अनिवार्य पूर्वप्रतिज्ञा है और इस प्रतिज्ञा के अनुसार जीवन का, अपने अस्तित्व के सब स्तरों का, अनुशासन और नियोजन धर्म है। धर्म का दर्शन से यह एक आधार-भूत वैशिष्ट्य है कि धर्म जीवन का नियोजन है, यह आचरण है; दूसरे शब्दों में, धर्म धर्माचरण है, जो दर्शन का भी एक अंग के रूप में समावेश करता है, जबकि दर्शन इस, अथवा किसी भी बोध का, आत्मावगमन और आत्मविमर्श है। जो चैतन्य की बुद्धि-वृत्ति की विशेषता है। इसी से नागार्जुन उसे केवल बौद्धिक पदावली में समझने का प्रयत्न करते हैं जो बुद्ध में भाव (बींग) के रूप में सिद्ध है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ आचरण का आशय समझना आवश्यक है। 'आचरण' का अर्थ है "साध्य और सिद्ध के बीच के अंतर को भरने के प्रयोजन के अनुसार कर्म।" धर्म के प्रसंग में इसका अर्थ होगा "प्राप्तार्थ और साध्य परमार्थ के बीच के अंतर को पाटने के अनुकूल कर्म।" यह एक अद्भुत और रहस्यमय स्थिति है, क्योंकि यह अंतर वास्तव में भाव या सत् का अपने-आप से अंतर है जो तर्क की लौकिक कोटियों के लिए अग्राह्य हैं; जैसा कि नागार्जुन के, और एक सीमा तक कांट के, विवेचनों में देखा जा सकता है।[१३] कांट ने लौकिक कोटियों को अस्तित्व की वास्तविक कोटियाँ मानकर इस रहस्यानुभूति को आस्था (फेथ) के रूप में स्थान दिया था और व्यक्त्युपाधि को सत् मानकर ईश्वर को पार्यन्तिक कल्पना (लिमिटिंग कांसेप्ट) और आस्था के कल्पित आश्रय के रूप में स्थान दिया था। नागार्जुन ने इनको अपारमार्थिक, सापेक्ष और परिणामतः सच कहकर इस अंतर को पारमार्थिक सत् के प्रमाण के रूप में देखा था। किंतु वास्तव में भाव का यह अंतर्गत व्यवच्छेद जैव क्रिया मात्र का स्वरूप है। केवल जैव क्रिया में यह आत्म-चेतन आत्मप्रकाशक नहीं होता और पूर्णतः विषय में तदाकार रहता है। इसका आत्मचेतन रूप मनुष्य के नैतिक बोध में, और अपनी आगंतुकता, अभाव-परिच्छिन्नता, की अनुभूति में, प्रकट होता है। धार्मिक बोध के स्वरूप की यह विशिष्टता इसकी तुलना विज्ञान-बोध और दार्शनिक-बोध के साथ करने पर और अधिक प्रखरता के साथ व्यक्त हो सकती है।

जैसा कि हमने आरंभ में ही देखा, दर्शन बुद्धि का आत्मविमर्श है। यह विमर्श एक विश्लेषणात्मक (एनेलिटिकल) व्यवस्था की खोज के प्रयत्न के रूप में होता है। विश्लेषणात्मक व्यवस्था एक अखंड बोध का अंतर्विभक्त होकर अभिज्ञान के माध्यम से अपनी अखंडता की पुनः प्राप्ति का प्रक्रम है।[१४] अंतर्विभक्ति और बोध की अखंडता का आभास ये दोनों बुद्धि-व्यापार के स्वरूप में निहित हैं, जैसे चेतना की किसी भी अन्य वृत्ति में अपने से अपना विच्छेद और उसको विजित करने का प्रयत्न अंतर्निहित है। किंतु आंतर व्यवच्छेद को विजित करने के ये सब प्रयत्न चेतना की उस-उस उपाधि से संबंधित होते हैं, किंतु ये बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी वृत्ति के स्तर पर आत्मचेतन नहीं होते। यह केवल बौद्धिक प्रयत्न है जो अनिवार्यतः, आत्मचेतन, आत्मोन्मुख, होता है, यह दूसरी बात है कि सभी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दार्शनिक समान रूप से अपने कर्म की इस प्रकृति के संबंध में जागरूक नहीं होते; किंतु धर्म का मूल ही अस्तित्व मात्र की आत्म-विभक्ति (आत्म-व्यवहितत्व) की आत्मचेतन अभिज्ञता से जनित व्याकुलता है और परिणामतः वह चेतना के सभी स्तरों– दैहिक, ऐन्द्रिक, मानसिक और बौद्धिक–पर एकसाथ इस आत्मव्यवहितत्व को विजित करने का प्रयत्न करता है।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि दैहिक या ऐन्द्रिक स्तरीय चैतन्य का आत्मव्यवहितत्व को विजित करने का प्रयत्न क्रमशः क्षुधाओं और विषयाकर्षणों की संतुष्टि के रूप में होता है, जब कि धर्म में या तो ये दोनों वर्जित होते हैं, जैसे बौद्ध, जैन, ईसाई आदि धर्म-संप्रदायों में, अथवा ये पूर्णतः रूपांतरित रहते हैं, जैसे वैष्णव धर्म में। यह सही है और यह सत्य धार्मिक बोध की, और इस बोध के द्वारा लक्षित भाव की अतल गंभीरता को व्यक्त करता है– देहार्थ क्षुधा-शामकों में और इंद्रियार्थ इंद्रियविषयों में चरितार्थ होता है, किंतु यह चरितार्थ न चेतनागत अर्थ के विस्तार, गांभीर्य या प्रकर्ष की संभावनाओं से शून्य संवेद के घटित होने मात्र तक सीमित रहता है, और इस स्तर पर आत्म-विभक्ति या आत्म-व्यवहितत्व को विजित करने का प्रयत्न इस विजय में आगे बढ़ने के बजाय उसी स्तर पर आत्म-विभक्ति को पुनः पुनः उत्पन्न करता है, जब तक कि यह क्षीण-प्राण होकर प्रयत्न में असमर्थ नहीं हो जाता। इस स्तर के संधानों का यह मूलगत स्वरूप है। विभक्ति पर विजय में क्रमिक प्रगति और भाव या सत् के ऐश्वर्य की वृद्धि केवल चैतन्य के उन स्तरों पर घटित होती है जिनपर वह बाह्योन्मुख नहीं होकर प्रत्यङ्मुख होता है। दार्शनिक, वैज्ञानिक और कलात्मक आदि प्रकार के संधान इसी प्रकार के हैं। 'प्रत्यङ्मुखता' का यहाँ आशय है अर्थ की विषय-मूल के बजाय विषयि-मूल में उपलब्धि। उदाहरण के लिए, विज्ञान का प्रसंग इंद्रियार्थ है, किंतु विज्ञान इंद्रिय-सन्निकृष्ट अर्थ (इंद्रिय-विषय) का अनुसंधान नहीं होकर इसके उस तत्त्व का, तथता या आधार का, अनुसंधान है जो विषयी में अवधारणात्मक रूप से स्फुट होता है। कांट द्वारा विज्ञान को "प्रागनुभविक संश्लेषण" कहने का यही औचित्य है। किंतु ये सब चैतन्य के औपाधिक अनुसंधान हैं; अर्थात्, चैतन्य इनमें उपाधियों के आवरण को नहीं देख पाता, केवल दर्शन में ही इस अवलोकन और इनके अतिक्रमण की संभावना रहती है। किंतु धर्म का आरंभ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही चैतन्य के सब अनुसंधानों की औपाधिकता की अनुभूति से होता है– "सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं शून्यम्", अथवा "येनाहं नामृतास्याम किमहं तेन कुर्याम् ?" किंतु जैसा कि हमने पीछे कहा, सर्व-शून्यता का यह बोध वास्तव में युगपत् रूप से परिपूर्णता, परमार्थता, अमृतत्व और परमैश्वर्य का भी बोध है।

यशदेव शल्य

डी। ३१, बापुनगर
जयपुर-४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सन्दर्भ

‡ यद्यपि यह लेख अपने में पूरा है, किन्तु तब भी यदि इससे पहले मेरे दो अन्य लेख "दर्शन का आरंभ-बिन्दु "(परामर्श, मार्च-जून '८०)तथा "मनुष्य और जगत्" (दार्शनिक त्रैमासिक) के साथ पढ़ा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। ये लेख एक क्रम में लिखे गए हैं आगे इस क्रम में यह तीसरा है।

१– शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निस्सरणं जिनैः, येषां तु शून्यतादृष्टिस्तान-साध्यान् बभाषिरे। (नागार्जुन-मूलमाध्यमिक कारिका, १३।८) (भगवान् बुद्ध ने शून्यता का उपदेश हमें बुद्धि की समस्त कोटियों, धारणाओं और दृष्टियों से ऊपर उठने के लिए किया है, न कि उनमें फँसने के लिए। शून्यता का अर्थ है सब दृष्टियों का त्याग। जो शून्यता को भी सत् कोटि द्वारा पकड़ कर उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं, उनको भगवान् ने असाध्य कहा है।)

२–यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां, विज्ञात मविजानताम्। केनोपनिषद २। ३

जो ब्रह्म को अविज्ञेय मानता है, वही इसे जानता है, जो इसे ज्ञात मानता है, वह नहीं जानता। वह ज्ञान से (बुद्धि से) उपहितों को अज्ञात रहता है, उसका उत्तीर्ण करनेवालों को उसका अवगमन होता हैं।

३– ज्यां पॉल, सार्त्र– बींग एंड नथिंगनेस, पृ. १२७–१३३,
अंग्रेजी में अनुवाद–हेज़ल इ बर्नेस, वाशिंगटन स्क्वेयर प्रेस, १९६८
(चतुर्थ आवृत्ति).

४– इस पर देखें हमारा लेख – मनुष्य और जगत, दार्शनिक त्रैमासिक में शीघ्र प्रकाश्य।

५– "दर्शन का आरंभ-बिंदु" द्रष्टव्य।

६. यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि इन्होंने बुद्धि को चित् नहीं मानकर अचित् ही माना है और शुद्ध चित् में उसकी अविद्यमानता मानी है। किंतु यह द्रष्टव्य है कि इन्होंने जगत् को बुद्धिमूलक ही माना है। हमारे लिए यहाँ इतन ही प्रासंगिक है।

७–पीछे देखें।

८–रुडोल्फ ओट्टो–दि आइडिया आफ होली, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९– एको वशी, सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। कठोप. २।१२।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । वहीं २।१५।

(जो सब प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में स्थित उनका एक नियामक है, जो अपने एक रूप को ही अनेकधा व्यक्त करता है, उसको जो अपने भीतर अपने आधार के रूप में देखते हैं, वे ही शाश्वत सुख को प्राप्त करत सकते हैं ।)

(जो भी कुछ विश्व में है, सब उसी की कान्ति से उद्भासित हो रहा है ।)

१०– यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं, तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्,
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।
श्वेताश्वतर, २ । १४

(जिस प्रकार मलोपलिप्त बिम्ब स्वच्छ होने पर तेजोमय होकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पाप-मुक्त आत्म तत्त्व होता है । उस वीतमल आत्म तत्त्व को देखकर मनुष्य आनन्द को प्राप्त करता है ।)

११– गीता– ३–१५.

१२. यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट ने "मैं हूँ" को असंदिग्ध तथ्य के रूप में इसके असंदिग्ध प्रदत्त होनेके आधार पर ही प्रमाणित किया था। किंतु "मैं हूँ" की ज्ञानात्मक असंदिग्धता मूलगामी तत्व-बोधोन्मुख संदेह के द्वारा ज्ञान के विषय से अपनी ओर निवर्तन के परिणामस्वरूप साधित होती है, विषयोन्मुख सहजता में नहीं । इसी से, "यह पुस्तक है" रूप ज्ञान में "मैं हूँ" ज्ञान सहज प्रस्तुत नहीं होता । यदि यह सहज प्रदत्त होता तो यह पशु में भी होना चाहिए था किंतु वास्तव में यह (मैं हूँ) सद्यः प्रदत्त विषय-ज्ञान में कहीं भी नहीं होता । यदि इसे कांट के अर्थ में विषय-ज्ञान में सहभागी आकार भी मान लिया जाए तो भी यह डेकार्ट का प्रयोजन सिद्ध नहीं करता और प्रदत्त या तथ्य नहीं होता। इसकी असंदिग्ध प्रदत्तता और तथ्यता केवल मूलगामी संदेह के द्वारा विषय की शून्यता के दर्शन के माध्यम से ही फलित हो सकती है। (इसपर हमने "विषय और आत्म" पुस्तक में तथा "दर्शन का आरंभ-बिंदु" लेख में विस्तार से विचार किया है) द्र. परामर्श– अप्रैल-जुलाई, १९८० । अधिक अध्ययन के लिए "विषय और आत्म" में ग्रंथ-निर्देश द्रष्टव्य ।

१३ द्रष्टव्य– यशदेव शल्य– "इम्मेनुअल कांट"; दार्शनिक त्रैमासिक, जनवरी १९७७, तथा "तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा" दार्शनिक त्रैमासिक—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१४. बौद्ध इसे केवल विभाजक के रूप में ही देखते हैं और परिणामतः इसे, विकल्प कहकर सत् के प्रापण में बाधक मानते हैं, किंतु वे भी अतर्कित रूप से इसे अखंड के आत्म-पुनरभिगमन का प्रक्रम स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरणतः दिङ्नाग के अनुसार "शब्द वस्तु-स्वरूप को प्रकट करने के स्थान पर परस्पर व्यावृत्त विकल्पद्वंद्व सृष्ट करते हैं जिनके सहारे पुरुषार्थी ऐसी क्षण-संतान तक पहुँचता है जो अनभीष्ट नहीं होती। उदाहरण के लिए 'जल' शब्द से उपस्थापित 'जल और अजल' का विकल्प-द्वंद्व जलार्थी पुरुष के लिए मृत्तिका और मृग-तृष्णा आदि को छोड़कर नदी, कूप आदि के जल-संतानों तक पहुँचने में संकेत बनाता है।" (द्रष्टव्य-रत्नकीर्ति विरचित अपोहसिद्धि, हिंदी अनुवाद डा. गोविंदचंद्र पांडे, पृष्ठ ३०) यहां यह द्रष्टव्य है कि संवेद-ग्राह्य जल, जिसे दिङ्नाग सत कहता है, इस विकल्प-द्वंद्व के बिना मात्र संवित् रूप में नितांत विपन्न भाव है। किंतु वही जब विकल्प-द्वंद्व के माध्य से होकर आत्म-साक्षात्कार का क्षण बनता है तब वह बुद्धत्व के परमैश्वर्य से मंडित हो जाता है। किंतु बौद्ध, या अन्य भारतीय दर्शन भी, इसे स्वीकार नहीं करते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभंगवाद प्रकरण

(समीक्षात्मक अनुवाद)

'आत्मतत्त्वविवेक' या 'बौद्धधिक्कार' यह मूर्धन्य भारतीय नैयायिक आचार्य उदयन की एक स्वतंत्र कृति है जिसमें बौद्धों के तथा कुछ अन्य न्याय वैशेषिकेतर– भारतीय दार्शनिकों के मतों का सुविस्तृत खण्डन प्रस्तुत किया गया है। उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र के परवर्ती तथा नव्यन्यायके संस्थापक गंगेशोपाध्याय के पूर्व वर्ती एवं अपने समयके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक चिन्तक तथा व्याख्याकार माने जाते हैं। उन्होंने जैसे 'न्यायकिरणावली', 'न्यायवार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि' के समान व्याख्यात्मक ग्रंथों की रचना की है वैसेही 'न्यायकुसुमांजलि,' 'आत्मतत्वविवेक' तथा 'लक्षणावली' नामक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं। 'आत्मतत्वविवेक' में बौद्धों के 'क्षणभंगवाद' 'विज्ञानवाद' जैसे प्रमुख सिद्धान्तों का जिस प्रखर तर्कों के द्वारा खण्डन प्रस्तुत किया है उनकी दार्शनिक रचनाओं में कोई भी बराबरी नहीं कर सकता। यही कारण है कि परंरागत धारणाके अनुसार आत्मतत्व विवेक के प्रतितर्कों का यथावत् खण्डन कोई भी परवर्ती बौद्ध दार्शनिक नहीं कर पाया और संभवतः इसी कारण बौद्ध दर्शन का दबदबा ही भारतवर्ष में समाप्त हो गया। चौदहवी शतीके बौद्धपंडित शान्तिरक्षित ने अवश्य, अपने तत्वसंग्रह नामक ग्रंथ में बौद्धमत प्रस्थापन के लिये भरसक चेष्टा की किन्तु उदयनके तर्कोंका निराकरण करने में वे सफल हुए ऐसा नहीं कहा जा सकता। आचार्य उदयन एक असामान्य तार्किकही नहीं, एक प्रौढ तथा प्रभावशाली दार्शनिक भाषाशैली के जनक भी हैं। इन्होंने जितने सुन्दर ढंग से संस्कृत भाषाका दार्शनिक चिन्तन के लिये प्रयोग किया है वैसा केवल कवितार्किक चक्रवर्ति श्रीहर्ष ही कर पाये हैं।

भारतीय परंपरा के अनुसार ग्रंथारंभ या किसी भी कार्यके आरंभ में मंगलाचरण किया जाता है जिसके द्वारा भगवान् की प्रार्थना (ग्रंथ के निर्विघ्न

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिसमाप्ति के हेतु) ग्रंथकार की गुरु परंपरा का निर्देश एवं ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय या ग्रंथकार की दार्शनिक भूमिका का निर्देश ये सारी बातें एक ही साथ संपन्न कर ली जाती हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में भी इस परंपरा का अनुसरण कर आचार्य उदयन ने अपने पुरस्कृत न्यायमत के कुछ मुख्य सिद्धांतों का भगवान की प्रार्थना करते हुए मंगलाचरण में निर्देश कर डाला है। मंगलाचरण इस प्रकार है–

स्वाम्यं यस्य निजं जगत्सुजनितेष्वादौ ततः पालनम् ।
व्युत्पत्तेः करणं हिताहित विधिव्यासेध संभावनम् ।।
भूतोक्तिः सहजा कृपा निरुपधिर्यत्नस्तदर्थात्मकः ।
तस्मै पूर्वगुरुत्तमाय जगतामीशाय पित्रे नमः ।।

इस पद्य में परमेश्वर के जो स्तुतिपरक विशेषण प्रयोग में लाए गए हैं वे सब न्याय (वैशेषिक) संमत परमेश्वर की अवधारणा की ओर तथा परमेश्वर के अस्तित्वानुमान के हेतुओं की ओर इंगित करते हैं। यह सर्वविदित ही है कि नैयायिक ईश्वर की सत्ता अनुमानगम्य मानते हैं किंतु पश्चिमी दार्शनिकों के समान अवधारणा की सत्ता पर से ईश्वर के अनुमान (Ontological Proof) कारक प्रयास नहीं करते। विश्व के कर्ता, उपदेष्टा ज्ञानदाता आदि रूपों से ही वे ईश्वर की सत्ता प्रस्थापित करते हैं। यह प्रस्थापना अर्थापत्तिसदृश है। (अर्थापत्ति का नैयायिक अनुमान प्रमाण में अंतर्भाव करते हैं।) अतः ईश्वरानुमानसंबंधी जो कठिनाइयाँ पश्चिमी दार्शनिकों ने उद्भावित की हैं उनकी संभावना का निराकरण हो जाता है। दृश्य घटनाओं के स्पष्टीकरण या उनके दृश्य विरोध के निराकरण के हेतु, जैसे अदृश्य कारणों की कल्पना वैज्ञानिक (तथा लौकिक भी) अनुसंधानों में युक्तिसंगत मानी जाती है– वैसे ही विश्वसंबंधी कई तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए ईश्वर की सत्ता का अनुमान करना नैयायिक तर्कसंगत समझते हैं। उदयनाचार्य ने ईश्वरानुमान की विस्तृत चर्चा 'न्यायकुसुमांजलि' में की है। उसका प्रसंग यहाँ प्रस्तुत न होने के कारण उक्त मंगलश्लोक में निर्दिष्ट हेतुओं के स्पष्टीकरण तक ही हम यहाँ अपने को मर्यादित रखेंगे। भगवान को आदि गुरु, विश्व का उत्पादक तथा पालक (संहारक नहीं बतलाया गया है), धर्माधर्म का तथा मूलभाषा (मानव की आदिम भाषा) के शब्दों का संकेत बोधक अकारण प्राणियों का उपकारकर्ता तथा अकारण और असीम रूप से कृपाशील आदि बतलाया गया है। इन विशेषणों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। मानव जाति के सर्वश्रेष्ठ गुरु भगवान ही हो सकते हैं। इंद्रियजन्य ज्ञान कोई भी व्यक्ति अपने प्रयास से ही प्राप्त कर सकता है। किंतु प्रातिभज्ञान (Intuitive Knowledge) जिसका विषय अलौकिक वस्तुएँ या तथ्य ही हुआ करते हैं, ऋषि-मुनियों को ही तप प्रभाव से प्राप्त होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। भगवान के लिए ऐसा ज्ञान नितांत स्वाभाविक है। यही नहीं, ऐसे ज्ञान के उपदेश का अधिकार भी भगवान के लिए स्वाभाविक ही है। इसके लिए मानों, एक कारण प्रस्तुत करते हुए दो अन्य विशेषण पद्य में प्रस्तुत किए गए हैं। वे हैं, विश्व का निर्माणकत्व एवं पालकत्व तथा, पिता का अपने कुटुंबीयों के प्रति जैसा अधिकार होता है वैसा संपूर्ण विश्व पर भगवान का अधिकार होना। विश्व जैसे असीम तथा मानव-बुद्धि के लिए अगम्य वस्तु का निर्माण ईश्वर ही कर सकता है और निर्माण के अनंतर विश्वान्तर्गत प्राणियों को आवश्यक जीवनोपयुक्त साधन-सामग्री उपलब्ध कराने का कार्य भी ईश्वर ही कर सकता है। इसी प्रकार उचित अनुचित या धर्माधर्म का ज्ञान तथा मूल शब्दों के अर्थों का ज्ञान ईश्वर से ही सर्व-प्रथम मानव जाति को प्राप्त हो सकता है। ईश्वर की कृपा को अकारण बतलाकर परिवार के लिए पिता के समान विश्व के लिए पिता का कार्य ही भगवान संपन्न करता है ऐसा इस पद्य का मंतव्य है। इस प्रकार, प्रथम शब्दसंकेतों का उद्भावन, धर्माधर्म का उपदेश, जगन्निर्माण तथा जगद्रक्षण, एवं प्रातिभज्ञान का आद्य प्रसारण ये सब ईश्वर के अस्तित्व के न्यायसंमत आनुमानिक आधार हैं यह तथ्य उक्त पद्य से प्रकट होता है।

अब ग्रंथरचना के प्रयोजन को विशद करने के लिए भारतीय दार्शनिक विचार परंपरा में सामान्यतया पुरस्कृत आत्मज्ञान की उपयुक्तता को बौद्ध-दर्शन की आलोचना के संदर्भ में ग्रंथकार स्पष्ट कर दिखाते हैं–

मू. : इह खलु निसर्गप्रतिकूल स्वभावं सर्वे जनसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः सर्व एव तद्धानोपायमविद्वांसः अनुसरन्तश्च सर्वाध्यात्मविदेकवाक्यतया तत्त्वज्ञानमेव तदुपायमाकर्णयन्ति न ततोऽन्यम्, प्रतियोग्यनुयोगितया च आत्मेव तत्वतो ज्ञेय तथा हि यदि नैरात्म्यं यदि वा आत्मास्ति वस्तुभूतः उभययापि नैसर्गिक आत्मज्ञान-मतत्त्वज्ञानमेव इत्यत्राप्येकवाक्यैतैव वादिनाम्. अतः आत्मतत्वं विविच्यते।

इस विश्व में प्राणिमात्र ही दुःख विनाश का उपाय ढूंढने में निरत रहते हैं। दुःख वह है जो निसर्गतः सभी जीवों को प्रतिकूल प्रतीत होता है। इसलिए शारीरिक कष्ट या श्रम को हर हालत में दुःखद मानना आवश्यक नहीं होता यदि कसरत, खेलकूद, दौड़धूप आदि के श्रम से मनुष्य को आनंद होता हो तो उसे सुखकारक ही मानना उचित होगा। सुखद स्थिति, आलस्य, निष्क्रियता या जाड्य के समतुल्य नहीं माननी चाहिए। किसी भी वस्तु या स्थिति की सुख-दुःख-कारकता उससे प्राप्त होनेवालें अनुभव पर ही निर्भर होती है। दुःखों के निरास का एकमात्र उपाय आत्मतत्त्वज्ञान है ऐसा सभी अध्यात्मवेत्ताओं का मंतव्य है। इस मंतव्य का आधार यह है कि दुःखानुभव होना या न होना दुःखद स्थिति के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साथ व्यक्ति के सात्मीभाव के अनुभव का ही परिणाम हो सकता है—यदि आत्म-भावना को इस स्थिति से अलग रखने में व्यक्ति सफल हो पाए तो उसे कभी दुःखी न होना पड़े। इसलिए आत्मज्ञान प्राप्त करना मनुष्य जीवन का चरम ध्येय मानना आवश्यक है। यह आत्मज्ञान अन्य वस्तुओं से आत्म की भिन्नता का जैसे ज्ञान है वैसे ही आत्मादि अन्य वस्तुओं की भिन्नता का भी वह ज्ञान है। इन दो ज्ञानों का सामान्य स्वरूप एक जैसा होने पर भी उनके मुख्य लक्ष्य क्रमशः आत्म और अन्य वस्तुएँ ही होने के कारण दोनों की प्राप्ति के बिना आत्मज्ञान को परिपूर्णता नहीं प्राप्त हो सकती। अन्य प्रकार से भी द्विविध आत्मज्ञान की उपयुक्तता सिद्ध की जा सकती है। बौद्ध नैरात्म्यवादी हैं अतः नैरात्म्य के प्रस्थापनार्थ प्रतियोगिरूप आत्म के सत्य स्वरूप को जानना जैसे आवश्यक है वैसे ही आत्म का स्वीकार करनेवाले आत्मिक विचारकों को इतर वस्तुओं के भेद के आधार या अनुयोगिक रूप में आत्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्यतया आवश्यक है। लौकिक आत्मज्ञान, जिसका विषय शरीर या अन्य वस्तुएँ हुआ करती हैं, यथार्थ नहीं हो सकता। इस संबंध में सभी विचारक एकमत हैं ऐसा कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा, इसलिए चाहे आत्म निषेध के लिए हो चाहे आत्म-समर्थन के लिए, आत्मतत्त्वविवेचन आवश्यक ही है।

इस भूमिका के आधार पर ग्रंथकार प्रस्तुत दार्शनिक विवेचन का, मानव मात्र के लिए ईप्सित लक्ष्य के साथ जो संबंध है उसे विशद कर उसकी उपयुक्तता का समर्थन करते है। दार्शनिक चिन्तन भी साक्षात् परंपरया पुरुषार्थ साधक ही होना चाहिए। सत्यान्वेषण भी तब तक दार्शनिक चिंतन का उचित विषय माना नहीं जा सकता जब तक सत्य स्वयं परमपुरुषार्थ रूप नहीं समझा जाता। जिस सत्य का किसी भी पुरुषार्थ के साथ किसी भी प्रकार संबंध नहीं उसका अनुसंधान करते रहना – यदि यह श्रमसाध्य हो तो – अतीव कठिन होगा या यह अनुसंधान अंततोगत्वा केवल शाब्दिक विश्लेषण तक सीमित रह जाएगा। यदि किसी व्यक्ति की दृष्टि में सत्य ही परम अभिलाषा का विषय हो तो उसके लिए सत्य और चरम पुरुषार्थ एक ही होंगे।

मू० : तत्र बाधकं भवदात्मनि क्षणभंगोवा बाह्यार्थभंगो वा गुणगुणिभेदभंगो वा अनुपलभ्यो वेति।

आत्मसत्ता के बाधक या प्रतिकूल सिद्धांत कुल मिलाकर चार कहे जा सकते हैं। ये विचार न्यायसंमत आत्मस्वरूप के ही बाधक हैं। वेदान्त या अन्य दर्शनों में जिस प्रकार आत्मस्वरूप का विचार उपस्थित किया गया है उसका पूर्णतया प्रतिवाद उक्त सिद्धांतों से नहीं प्राप्त किया जा सकता। नैयायिक आत्म को नित्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात् अनाद्यनंत मानते हैं। यह मत बौद्धों के क्षणभंगवाद के या पुग्दल नरात्म्य-वाद के बिलकुल प्रतिकूल है। प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली तथाकथित मनोवृत्तियों के प्रवाह को ही सत्य माननेवाले नित्य आत्मा को किसी भी हालत में सत्य नहीं समझ सकते। इसी प्रकार नैयायिक आत्म को बाह्य तथा आंतरिक विषयों का ज्ञाता मानते हैं, किंतु विज्ञानवादी बौद्ध प्रतिक्षण विनाशी विज्ञानधारा को ही एकमात्र सत्य समझते है। ज्ञानविषय मानी जानेवाली वस्तुएँ ज्ञान के आकार ही हैं ऐसा इनका कथन है। यह मत नैयायिकों के ज्ञान स्वरूप विचार के विपरीत है। ऐसे ही आत्म और आत्मनिष्ठ ज्ञानादि गुण इनमें नैयायिक भेद करते हैं किंतु गुण-गुणि भेद को अस्वीकार करनेवाले सांख्य जैसे दर्शन या द्रव्य की सत्ता का ही त्याग करनेवाला बौद्ध दर्शन इस भेद से सहमत नहीं होगा। आत्म, ज्ञानविषय ही नहीं ऐसा भी एक मत—संभवतः चार्वाकों का—है जो नैयायिकों के ही नहीं सभी दार्शनिकों के मतों का विरोधी है। इन चारों मतों की इस ग्रंथ में विस्तृत चर्चा की जानेवाली है।

(क्रमशः)

नारायणशास्त्री द्रविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
दर्शन विभाग, नागपूर विद्यापीठ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान संबंधी पाश्चात्य मत : एक तुलनात्मक दृष्टि

ज्ञानमीमांसा संबंधी दो प्रश्न विशेष रूप से उभरकर सामने आते है। (१) ज्ञान क्या है ? व (२) ज्ञान की सीमायें क्या है ?

ज्ञान क्या है ? इस प्रश्न पर भारतीय मत-मतान्तरों को देखने पर हम पाते हैं कि भारतीय दर्शन में ज्ञान की स्थिति को लेकर कहीं भी संदेह नहीं प्रकट किया गया है। वे यह मानकर चलते हैं कि ज्ञान है। भले ही वह प्रकट हो रहा हो अर्थात् केवल उसकी अभिव्यक्ति हो रही हो या वह उत्पन्न हो रहा हो अर्थात् सर्वथा नवीन ढंग से अस्तित्व में आ रहा हो। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान के होने या सत्ता पर भारतीय दार्शनिक कहीं भी संदेह प्रगट करते नहीं दिखाई देते। और ज्ञान जब है, तो किसी वस्तु का या किसी विषय का ही है, यह भी वे मान लेते हैं। यद्यपि निर्विषय ज्ञान की स्वीकृति भी मिलती है। उदाहरणार्थ हम अद्वैत वैदान्तियों के मत में आत्मतत्व की अपरोक्षानुभूति की स्थिति पाते हैं। यह अनुभूति निर्विषय है और ज्ञान ही है। विज्ञानवादी मतों में इसकी स्वीकृति देखी जा सकती है, किन्तु वस्तुवादी मत ऐसे किसी ज्ञान को स्वीकृति नहीं देते, जो निर्विषय हो। जैन दर्शन ने वस्तुवादी दर्शन होते हुए भी आत्म-चेतना की स्थिति को स्वीकार किया है, किंतु वह उसे दर्शन की संज्ञा देता है, ज्ञान नहीं मानता। ज्ञान के लिए अनिवार्यतः ज्ञेय तत्व आवश्यक है। थोड़े से मतभेदों के बावजूद भारतीय दार्शनिकों में ज्ञान की, ज्ञाता व ज्ञेय सापेक्षता पर मतैक्य दिखाई देता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में मुख्यतः आनुभविक ज्ञान आलोच्य बना है। इस सन्दर्भ में दूसरा कारण यह भी है कि भारतीय में ज्ञानमीमांसा का प्रारंभ मुख्यतः आनुभविक ज्ञान की असंगतियों पर विचार करने के लिये हुआ है। इसीलिए बौद्धिक या तार्किक ज्ञान के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्लेषण में न पड़कर आनुभविक ज्ञान का ही विश्लेषण किया गया है। भारतीय दर्शन में तार्किक विवेचन ज्ञानमीमांसा का अंग बनकर प्रस्तुत हुआ है। जैसा कि हम अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत देखते हैं। भारतीय ज्ञानमीमांसा का विषय मुख्यत: आनुभविक ज्ञान है, जो कि अनुभवों से ही प्राप्त होता है। इन अनुभवों के लिए ज्ञेय भी आवश्यक है और ज्ञान के साधन भी। इनके बिना ज्ञान असंभव ही है। तात्पर्य यह कि "ज्ञान बाह्य तत्त्वों पर निर्भर हो चलता है और वही बाह्य तत्त्व जब उसमें संशय, भ्रम एवं बाध की संभावनाओं को बढ़ा देते है"[1] तब ज्ञान की सत्यता का प्रश्न सिर उठता है। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन की ज्ञानमीमांसा का इतिहास बतलाता है कि वहाँ ज्ञान की स्थिति अनिवार्य रूप से मान्य नहीं रही है। कई ऐसे दार्शनिक भी हैं, जिन्होंने ज्ञान के प्रति भी संदेह व्यक्त किया है। डेकार्टेज ने अपना दर्शन संदेह से ही प्रारंभ किया था।

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान पर बड़ी व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है। ज्ञान के चार प्रकारों की मुख्यत: चर्चा मिलती है (१) आनुभविक अर्थात अनुभव जन्य या अनुभवों से प्राप्त (२) तात्विक अर्थात् तत्त्वमीमांसा संबंधी (३) तार्किक अर्थात् तर्कत: प्राप्त और (४) मनोवैज्ञानिक जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के भावनात्मक ज्ञान समाविष्ट किये गये हैं।

यहाँ यह विशेषत: द्रष्टव्य है कि ज़हाँ भारतीय दार्शनिक केवल आनुभविक ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की चर्चा करते हैं, वहाँ पाश्चात्य दार्शनिक उपर्युक्त सभी प्रकार के ज्ञानों की प्रामाणिकता की चर्चा करते दिखाई देते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि इनमें से किसी एक विशेष प्रकार पर वे अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार बल देते हैं। जैसे वस्तुवादी (Realist) दार्शनिक प्राय: आनुभविक ज्ञान की प्रामाणिकता की चर्चा करते हैं। विज्ञानवादी (Idealist) प्राय: तात्विक दृष्टि से ज्ञान की सत्यता या असत्यता की चर्चा करते हैं। और उसी की सापेक्षता में अन्य ज्ञानों का मूल्यांकन करते हैं। तार्किक दार्शनिक, तार्किक ज्ञान का ही मूल्यांकन करते हैं। और बर्टेण्ड रसेल जैसे कई दार्शनिक विश्वास (Belief) अर्थात मनोवैज्ञानिक ज्ञान की प्रामाणिकता के बारे में विचार करते हैं। जब कि भारतीय दर्शन का अध्यात्मवादी दृष्टिकोण तात्विक ज्ञान पर तो कहीं भी संदेह करता नहीं दिखाई देता है इसलिए इस प्रकार के ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य की तो चर्चा ही नहीं की गई है और यदि उनका मूल्यांकन आ भी है, तो मोक्ष प्राप्ति के संदर्भ में ही।

भारतीय दर्शन में ज्ञान की सीमा का प्रश्न भी अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है। "लक्ष्य मोक्ष है और ज्ञान उसका साधन मात्र"।[1] अतः एस लक्ष्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की प्राप्ति ही ज्ञान की अधिकतम या अंतिम सीमा है। मोक्ष ही सर्वोच्च या अधिकतम ज्ञान है। मोक्षावस्था ही पूर्ण ज्ञान की अवस्था है। इसलिए, यद्यपि ज्ञान की सीमा पर स्वतन्त्र विचार हमें उपलब्ध नहीं होता, तथापि हम मोक्ष-प्रतिपादन के द्वारा जान सकते है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान की कोई सीमा नहीं खींची गई है। "यावज्ज्ञेयं तावज्ज्ञानं" कहते हुए ऐसा कुछ भी नहीं माना गया है, जो अज्ञेय छूट जाता हो। पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति असंभव नहीं है। इस प्रकार ज्ञाता कहीं भी अक्षम नहीं है।

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञाता की सीमा ही ज्ञान की सीमा है। ज्ञान की सीमाओं व संभावनाओं पर पाश्चात्य जगत् में बराबर विचार होता रहा है। क्योंकि "इनका लक्ष्य भारतीयों की तरह मोक्ष नहीं था, अपितु विश्व का ज्ञान इनका लक्ष्य रहा है।"[1] प्रायः पाश्चात्य दर्शन में ऐसे क्षेत्र का भी उल्लेख मिलता है जो अज्ञेय बुद्धि से परे है उदाहरणार्थ कांट का "अज्ञेयवाद" इत्यादि। सीमित बुद्धि उसे प्राप्त नहीं कर सकती, इसलिये वह क्षेत्र ज्ञान की सीमा के बाहर हो जाता है। यही कारण है कि उस अज्ञेय के संबन्ध में लिये जानेवाले निर्णयों की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता को न तो कोई कसौटी बतलाई जा सकती है, न ही उन्हें सत्य या असत्य किसी एक श्रेणी में रखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि ज्ञान की सीमा के भीतर जितने निर्णय संभव है उन्हीं के प्रामाण्य का विचार संभव है।

भारतीय मतों से पाश्चात्य मतों की भिन्नता एक और विषय को लेकर है। और वह है "प्रामाण्य किसका ?" भारतीय जहाँ ज्ञानके प्रामाण्य अप्रामाण्य की चर्चा करते हैं, वहाँ पाश्चात्य दार्शनिक निर्णयों (Judgement) के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की चर्चा करते हैं। यद्यपि भारतीय दार्शनिक निर्विकल्प और सविकल्प के रूप में ज्ञान के दो भेद करते हैं (निर्विकल्प अर्थात नामजात्यादिहीनं अर्थात अभिव्यक्ति से पूर्व और सविकल्प अर्थात इन विकल्पों से युक्त अथवा अभिव्यक्त ज्ञान) किंतु फिर भी वेज्ञान और अभिव्यक्ति में विशेष अंतर नहीं मानते, इसलिए निर्णयों का न कहकर ज्ञान का ही प्रामाण्य या अप्रामाण्य कहते हैं। परंतु बौद्धों का मत तो इसी निर्विकल्प और सविकल्प के भेद पर आधारित है, इसलिए बौद्ध इसके अपवाद कहे जा सकते हैं। जब कि "अद्वैत वेदान्तियों के मत में सत्यता या असत्यता के प्रश्न अनिवार्य रूप से अनुभूति से ही संबंध रखता है न कि निर्णयों से।"[2] एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह भी है कि प्रामाण्य चर्चा मुख्यतः प्रत्यक्ष ज्ञान तथा उससे संबंधित निर्णयों की है।

पाश्चात्य दार्शनिक निर्णयों के सत्यासत्य के बारे में चर्चा करते हैं। क्योंकि किसी वस्तु के बारे में जानने का मतलब उसके बारे में निर्णय लेना ही है। इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदर्भ में बहुत से विद्वानों को उद्धृत किया जा सकता है।[५] देकार्त के अनुसार "सच्चे अर्थों में देखा जाय तो सत्यता वस्तुतः केवल निर्णयों में ही पाई जाती है।" लाक के अनुसार "सत्यता तर्कवाक्यों (Propositions) में ही रहती है।" काण्ट के अनुसार "असत्यता सत्यता की विरोधी है, जो कि सत्य के रूप में ग्रहण किये जाने पर भ्रम कहलाती है। प्रमात्मक निर्णय यह है, जो सत्य की भ्रामक प्रतीति को सत्य के रूप में ग्रहण करता है। यह भी एक तथ्य है कि सत्य साथ ही असत्य भी केवल निर्णयों में रहता है।" योजांक्वे का कथन है कि "सत्यता और असत्यता दोनों ही निर्णय के समव्यापी हैं।"

ज्ञान और निर्णय में अधिक अंतर नहीं है। केवल "अभिव्यक्त" और "अभिव्यक्ति" का अंतर है। और जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, भारतीय दार्शनिक इनमें विशेष अंतर नहीं मानते, कुछ प्रसंगों में "निर्णय" और "ज्ञान" का मिश्रण भी देखा जा सकता है। कुछ पाश्चात्य दार्शनिक सत्यता और असत्यता को निर्णयों में नहीं, अपितु विश्वास में धारणाओं में निहित मानते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य मतों में एक विभिन्नता और है, वह है सत्य असत्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति संबंधी चर्चा। भारतीय मतों में सत्य की उत्पत्ति और सत्य की ज्ञप्ति दोनों पर पृथक पृथक् विचार हुआ है, किंतु पाश्चात्य मत में सत्य की उत्पत्ति पर विचार नहीं हुआ है। हाँ, सत्य का लक्षण व उसकी कसौटी बतलाते हुए सत्य की ज्ञप्ति अर्थात् सत्य कैसे जाना जाता है, इसी पर विशेष रूप से विचार हुआ है। इस प्रकार पाश्चात्य मत ज्ञप्ति विषयक भारतीय मतों के समानातंर कहे जा सकते हैं। पाश्चात्य मत में सत्य की उत्पत्ति की कहीं चर्चा नहीं मिलती, क्योंकि हमारा संबंध जानने की प्रक्रिया से ही होता है। ज्ञान के अस्तिव में आने के बाद की समस्या ही हमारे लिए मुख्य होती है। इसलिए सत्य की चर्चा ज्ञप्तितः ही की जा सकती है।

सत्य की उत्पत्ति से संबंधित भारतीय मतों के संबंध में जे. एन. मोहन्ती का कथन है कि ये मत भारतीय तत्वमीमांसा के एक प्रमुख सिद्धांत कारणवाद से प्रेरित हैं।[६] भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में कार्य-कारण का प्रश्न बहुत महत्व-पूर्ण है। बिना कारण के कोई वस्तु नहीं है। फिर प्रामाण्य का कोई कारण कैसे न होगा। इसलिए सत्य के लक्षण व कसौटी के अतिरिक्त सत्य के कारणों पर भी विचार किया गया है।

श्रीमती छाया शर्मा
संस्कृत विभाग
शासकीय कन्या महाविद्यालय
मुरार, ग्वालियर (म. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदर्भ

१. एस. एस. बार्लिगे, ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इंडियन लॉजिक, पृ. १६०
२. डा. देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पृ. ५८
३. डा. देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पृ. ५८
४. आशुतोष भट्टाचार्य, स्टडीज़, इन पोस्ट शंकर डायलेक्टिक पृ. ७
५. जोखिम, लॉजिकल स्टडीज़, पृ. १८०
६. मोहन्ती—गंगेश थ्योरी ऑफ ट्रुथ, पृ. ५६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में काव्यमूल्य की पहचान : आधुनिक समीक्षादृष्टि

कविता अंधेरे में अदृश्य को शब्दायित करना नहीं है वह तो उस प्रखर आलोक की माँग है जिसमें सब कुछ साफ उभरता हो और धीरे-धीरे अनुभवों की गहराई तक उतरता जाता हो क्योंकि कोरी कल्पना में शब्दों को उछालना कविता का भ्रम भले ही हो कविता नहीं है। "शब्दार्थौ काव्यम्" एक ऐसी मान्यता है जो शाश्वत कही जा सकती है। आधुनिक समीक्षक भी शब्द–अर्थ का निषेध कर ही नहीं सकता। काव्य सृजन और काव्यवस्तु को पहचानने की प्रक्रिया में ही रस, अलंकार रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य जैसे काव्यमूल्य अनायास प्रतिस्थापित हो गए। भारतीय दर्शन के तर्कजाल में अपने आप उलझते ये मूल्य इतने ठोस आधार पर समीक्षा की पृष्ठभूमि बनाते गए कि आज का समीक्षक इन सबसे परे कुछ कहने की परिकल्पना कर ही नहीं सकता और यदि कोई समीक्षादृष्टि इन काव्यशास्त्रीय मूल्यों का निषेध करती है तो वह अपने उद्भव काल में ही प्रश्न-चिन्हों के दायरे में इस प्रकार बाँध दी जाती है कि उसके विकास की संभावना ही नहीं रह जाती। काव्यशास्त्र के कलेवर में उन सारे प्रश्नों का समाधान है जो काव्य की स्वरूप सर्जना और आस्वाद प्रक्रिया के आंगोपांग से संबंध है।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र का आदिग्रंथ है। नाट्यकाव्य की चर्चा में यथा-प्रसंग काव्य लक्षण, काव्यालंकार और गुण-दोष का विवेचन मिलता है। 'रसो वै सः' कहकर यूँ तो उपनिषदों में रस की स्थापना हो चुकी थी किंतु रस को साहित्य में सर्वाधिक महत्व नाट्यशास्त्र में ही मिला। वासुकि, सदाशिव, अगस्त्य व्यास, नंदिकेश्वर आदि की कृतियाँ उपलब्ध नहीं है। भरतमुनि ने स्पष्टतः रस

परामर्श (हिन्दी) वर्ष १ : अंक २, दिसंबर, १९८०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को परिभाषित किया– " विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस–निष्पत्तिः। "[१] संयोग, निष्पत्ति इनकी व्याख्या में ही भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त ने सारा चिन्तन किया है। यहाँ तक कि ध्वनिवादी आचार्यों ने वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रसध्वनि में रस को प्रतिष्ठा दी, आलंकारिकों ने रसदादि अलंकार रूप में इसकी महत्ता स्वीकार की उदाहरणार्थ आचार्य दंडी को ही ले सकते हैं–

'मधुरं' रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥ [२]

अग्निपुराणकार काव्य में चमत्कार की प्रधानता मानते हुए भी रस को काव्य का जीवन मानते हैं। वामन के मत में रस की दीप्ति रीतिशोभा में योगदान करती है। रसवादी आचार्यों को तो संपूर्ण चिन्तन ही रसाश्रित है। रस को 'ब्रह्मानंद सहोदर, अलौकिक, विलक्षण' आदि विशेषण देने के बाद भी इसके स्वरूप विश्लेषण का प्रयास हुआ। काव्य रसास्वाद ही है इसी से जुड़ी वात साधारणीकरण से संबद्ध है। भट्टनायक ने सबसे पहले रस की सामाजिक गत अनुभूति पर प्रकाश डाला। जब कोई व्यक्ति आत्मानुभूति को इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह उसकी न रहकर सभी की बन जाती है तभी साधारणीकरण की अवस्थिति मानी जाती है। रस संपूर्ण साहित्य संहिता का मेरुदंड है इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि प्रान्तीय भाषाओं के काव्यशास्त्र से आधुनिक समीक्षा पर्यंत इसका महत्व रहा है।

मराठी का काव्यशास्त्र अत्यधिक समृद्ध है। रससिद्धांत के विविध पक्षों पर गंभीर व स्वतंत्र चिंतन हुआ है। डॉ. वाटवे के मत में– 'कल्पना की सहायता से प्राप्त आल्हाददायक अनुभव को ही रस कहा जाता है। इस रस को उत्पन्न करने वाली मूल सामग्री काव्य में ही होती है अर्थात् एक अर्थ में रस कारण रूप से काव्य में भी होता है।'[३] ग. त्र्यं. देशपांडे भी इसी मत का समर्थन करते हैं। श्री जोग भावानुरूप रसोत्पत्ति को मान्यता देते हैं। हाँ, साधारणीकरण संबंधी प्रश्न को लेकर इनमें काफी मतभेद हैं। इसमें तादात्म्य, स्वायत्त तादात्म्य, ताटस्थ्य, जिज्ञासु ताटस्थ्य और अखंड अनुभूति जैसे मूल्य प्रतिष्ठित हैं। बंगला आलोचक आनंद के पक्ष में ही हैं। अतुलचंद्रगुप्त ने इसका मानसिक उपादान 'भाव' दुःखमय होते हुए भी परिणाम से नित्यानंद हेतु माना है। मोहितलाल मजुमदार के शब्दों में–' भारतीय जीवन दर्शन स्वतंत्र है, उसमें रस के भी उस वस्तु का आस्वादन है जिससे देह और मन का बंधन समाप्त होकर एक अपूर्व मुक्ति सुख का उदय होता है।'[४] विष्णुपद भट्टाचार्य ने रस को आत्मा माना है। गुजराती आलोचकों ने पाश्चात्य के प्रभाव में भारतीय काव्यसिद्धांतों का पुनराख्यान किया है। रस का अभिप्राय ही वहाँ रसास्वादन से है सब कुछ भूल कर तल्लीन होना रसानुभूति है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तेलगु के सी. आर. रेड्डी, जी. पी. कृष्णराव, डॉ. पुट्टप्पा आदि की दृष्टि आख्यानात्मक रही। तमिल के प्राचीन ग्रंथ 'थुलकाप्पियम्' में 'पोसल के अंतर्गत रस-विवेचन है। कन्नड के श्री कंठय्या के मत में रसकविता का आधिदैव है।

हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा का सूत्रपात मध्यकाल से हुआ और उसमें रससंबंधी बृहद् वाङ्मय मिलता है। पंडित रामदहिन मिश्र के विचार, डॉ. वाटवे से पूर्णतः मेल खाते हैं। डॉ. भगवान दास, आ. केशवप्रसाद मिश्र और अन्य रीतिकालीन आचार्य रस को आनंदमय मानते हैं। इन आचार्यों का प्रधान कर्म नवरसों का साधारण परिचय देना है। इन सभी ने रसराज शृंगार को ही माना है– आ. केशव की मान्यता है–

नवहू रस को भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि, नायक है शृंगार॥ [५]

रसाभिव्यक्ति, साधारणीकरण और रसास्वाद-संबंधी गंभीर विषयों का चिंतन करने की इन आचार्यों ने न आवश्यकता ही समझी न इनके पास इसके लिए अवकाश ही था। आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने रस को कविता का सबसे बड़ा गुण बताया। मैथिलीशरण गुप्त के भारत-भारती की पंक्तियाँ–

'मृत जाति को कवि ही जिलाते
रस सुधा के योग से।' [६]

आ. शुक्ल जी ने रससिद्धांत को एक सार्वभौम साहित्य सिद्धांत के रूप में विकसित करने का प्रयास किया। उनके मत में 'हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।' वही कविता सार्थक है जिसे लोकहृदय की पहचान हो। प्रगतिवाद की प्रमुख मान्यता समष्टिगत चेतना को साधारणीकरण सिद्धांत के साथ सहसंबंध है। संघर्ष द्वंद भावना भी रस के अंतर्गत उसी प्रकार ग्राह्य हैं जैसे प्रेम व शांति। नयी कविता के संबंध में रस की समस्या उठायी गई क्योंकि नयी कविता सहज संप्रेषणीय नहीं होती जो रस का एकमात्र लक्ष्य है। क्षणांश की अनुभूति, वैयक्तिक जीवन की उपेक्षा बौद्धिकता भावुकता का अभाव आदि नयी कविता की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो रसवादी सांचे का पूर्णतया अतिक्रमण करती प्रतीत होती हैं। किंतु यहाँ भी रस का निषेध नहीं है। आनंदोपलब्धि, भले ही अनिवार्य न हो किंतु, नयी कविता का भी लक्ष्य है और रस का भी। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवि मानवीय अनुभूति, रागात्मकता के प्रबल समर्थक हैं और तो और बुद्धितत्व का रेखांकन करनेवाले डॉ. जगदीश गुप्त स्वयं मानवीय सह अनुभूतिसंवेदना आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का बार बार उल्लेख करते हैं। संवेदना जो केवल मानवीय चेतना को ही वरदान रूप में प्राप्त है– रस की चरम सिद्धि है।

इधर की रस संबंधी व्याख्याएँ विशुद्ध रूप से पाश्चात्य मानदंडों पर आधारित है। शैली-वैज्ञानिक समीक्षा भी इसे अंगीकार करती है। साहित्य का भाषिक अध्ययन होने के कारण भाषासंरचना के माध्यम से कवि लेखक की अनुभूति तक पहुँचना इसका लक्ष्य है। रस जीवन का पर्याय है– रस का निषेध होगा जीवन का निषेध, जो इस अनास्थावादी युग में भी असंभव है।

सुंदर को सुंदरतम बनाने की प्रवृत्ति ने अलंकरण को जन्म दिया। अलंकार सुंदरता में ही नहीं विरूपता में भी होता है। अलंकार शब्द अपने व्यापक अर्थ में काव्यशोभा व काव्य सौंदर्य बोधक शब्द है। आचार्य दंडी के शब्दों में–

'काव्यशोभाकरान धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'[८]

हारादि आभूषण जैसे कंठादि का सौंदर्य बर्धन करते हैं तद्वत् उपमादि अलंकार शब्द और अर्थ रूप अंग के सौंदर्यवर्धक हैं। आचार्य वामन सौंदर्य का आधान तत्व अलंकार को मानते हैं– 'सौंदर्यमलंकारः।'[९]

अलंकार यहाँ भावात्मक अलंकृति है न कि शाब्दिक चमत्कार, अध्यात्मवादी आचार्यों ने इसे ब्रह्म संज्ञक बताया है। जहाँ भामह अलंकारहीन काव्य के अस्तित्व को ही नकार देते हैं चंद्रालोककार जयदेव यहाँ तक कहते हैं कि यदि कोई काव्य को अलंकार रहित मानता है तो अपने को पंडित समझनेवाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेता? अलंकारों को जीवनाधायक तत्व मानने की अपेक्षा उत्कर्षाधायक तत्व मानना अधिक उपयुक्त है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने इसी अर्थ में अलंकारों को पारिभाषित किया है। शब्द– अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले ये धर्म अंततः काव्य के आत्मभूत रस-ध्वनि के अभिव्यंजन में सहायक हैं। वक्रोक्ति जीवितकार कुंतक की मान्यतानुसार काव्य स्वयं अलंकृत होता ही है। रसाभिव्यक्ति में भी ये सहायक हैं। अलंकार यूँ तो एक अनिवार्य तत्व है किंतु मात्र अलंकारों की नुमायश करने से कोई कृति शाश्वत नहीं होती।

प्रांतीय काव्यशास्त्रों में भी अलंकार को एक सौंदर्य विधायक तत्व रूप में स्वीकृति मिली है। बंगला समीक्षक अलंकारशास्त्र की गवेषणा को कलाशिल्प और सौंदर्यविज्ञान के अंतर्गत ही स्थान देते हैं। गुजराती के नरसिंहराव की दृष्टि में सौंदर्य वस्तुगत नहीं भावगत हैं। हाँ, वह काव्य का सर्वस्व नहीं हो सकता है। रामनारायण पाठक की समीक्षा में भी छंद और अलंकार से लेकर काव्य के अंतःतत्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के आंगोपांग की सप्रमाण व विशुद्ध चर्चा की गई है। तेलुगु के श्री चर्ल गणपति शास्त्री का 'साहित्य सौंदर्य दर्शनमु' अलंकार शास्त्र का विशद ग्रंथ है इसे एक उपलब्धि मान सकते हैं। मलयालम समीक्षा यह मानकर चलती है कि 'अत्यधिक अलंकरण काव्य को कष्टसाध्य और कृत्रिम बना देता है। अलंकरण को अनिवार्य मानकर कवि को सायास अपने काव्य में उनका समावेश नहीं करना चाहिए।[10] तमिल के आदि ग्रंथ 'थुलकाधयम्' में तृतीय भाग में अलंकार का विवेचन है लेकिन अलंकार को समीक्षा में कभी महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में यहाँ नहीं स्वीकारा गया। उपमा का स्थान सर्वोपरि है– 'उवमैइयल' (उपमाध्याय) ही इसका प्रमाण है। मराठी काव्यशास्त्र का अलंकार विवेचन मम्मट के 'काव्य प्रकाश' पर आधारित है। ग. त्र्यं. देशपांडे शब्द प्रयोगों से निर्मित वाच्यार्थ विशेष को अलंकार संज्ञा देते हैं। केलकर के मत में भी रस यदि काव्य की आत्मा है तो अलंकारयुक्त भाषा रस रूपी आत्मा की देह है। मराठी विद्वानों ने अलंकार को साधन माना है साध्य नहीं उसकी सार्थकता रसोद्दीपन में है।

हिंदी में रीतिकाल तक अलंकार को संस्कृत अलंकार शास्त्र के सदृश ही अनिवार्य तत्व रूप में मान्यता मिली। कवित्व अलंकार में ही निहित है। और अलंकार शब्दार्थ में धर्म हैं ऐसा विचार अनेक समीक्षा शास्त्रियों ने व्यक्त किया। व्यापक अर्थ में अलंकार जहाँ काव्यशिल्प का पर्याय है वहाँ सीमित अर्थ में उक्ति चमत्कार व अभिव्यंजना शिल्प का। यद्यपि इसे काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयास हुए किंतु यह देहवादी सिद्धांत के रूप में काव्य में बाह्य पक्ष या कलापक्ष का ही समर्थक है। वीरगाथा काल से ही अलंकार को एक मूल्य के रूप में मान्यता दी गई। अलंकार को प्रतिष्ठा देना रीतिकालीन कवियों की परिवेशगत विवशता थी। कुलपति के शब्दों में–

'व्यंग जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण, भूषण भूषणौ, दूषन दूषण एह॥'[11]

आधुनिक युग में अलंकारों के सायास प्रयोग की प्रवृत्ति कम होने लगी। अलंकारों द्वारा कविता को बोझिल बनाने की जो प्रथा अब तक काव्य में एक फैशन की तरह व्याप्त हो गई थी– आधुनिक युग के प्रथम उत्थान में धीरे-धीरे कम हो चली।[12] श्यामसुंदर दास की दृष्टि में अलंकार वस्तुस्थिति स्पष्ट करने की एक शैली है वर्ण्य विषय नहीं। मैथिलीशरण गुप्त अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म मानते हैं। अलंकार बाह्य हैं जो काव्यात्मा का उत्कर्ष अवश्य करते हैं पर आत्मा नहीं कहे जा सकते। अलंकार को छायावाद ने एक नये आयाम पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिष्ठित किया। पंत कहते हैं–'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं वे, भाव की अभिव्यक्ति के विशेषद्वार हैं।'[१३] बेरोजगारी भूख की समस्या ने जीवन के प्रति अनास्था कुण्ठा को जन्म दिया और इन्हीं प्रवृत्तियों के बीच प्रयोगवादी कविता ने जन्म लिया तभी तो इन कवि समीक्षकों को उपमान मैले लगने लगे और प्रतीकों के देवता कूच करते दिखाई दिये। इनके लिए चाँद, दूध के कटोरे-सा उगता है और चाँद सूरज रोटियाँ देखते हैं। नई समीक्षा जिस भाषा संरचना को केन्द्र में रखकर कृति को मूल्यांकन करने की बात करती है उससे सादृश्य प्रतीक, मिथक जैसे तत्व स्वयं ही जुड़े होते हैं। अतः ये मानना कि नई समीक्षा तक आते-आते सारे मूल्यों का निषेध हो जाता है, गलत है। शैलीविज्ञान परक अध्ययन भी रूपक, उपमा के माध्यम से कृति के सौंदर्य को उद्घाटित करता है।

रीति को भरतमुनि ने स्पष्टतः न कहकर भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रवृत्ति के रूप में बताया। भामह के काव्यालंकार में सर्वप्रथम इसकी चर्चा हुई परंतु वहाँ न 'पंथ' का उल्लेख है न 'रीति' का। वैदर्भी, गौंडी आदि भेदों को अमान्य ठहराते हुए भामह ने उत्कृष्ट निकृष्ट रीति भेद करनेवालों का 'अमेधस' कहकर उपहास भी किया है। दंडी ने 'वर्त्म' व मार्ग का प्रयोग रीति अर्थ में किया। आचार्य वामन ने ही 'रीतिरात्माकाव्यस्य' और 'विशिष्ट पद-रचना रीतिः'[१४] कहकर इसे आत्मत्व प्रदान किया। देशगत आधार पर वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तीन भेद किए गए। समस्त गुणसंपन्न हैं– वैदर्भी, गौंड़ी में ओज और कांति गुणों का तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का प्राधान्य है। रीति की उपमा मानव अंगों के आधार पर दी गई जैसे कोई अंग अपने स्थान से च्युत होने पर शरीर को विरुप बना देता है वैसे ही शब्दों की संघटना है। पदों में विघटन काव्य को विरुप करता है। रुद्रट ने रीति विवेचन में गुणों का उल्लेख नहीं किया है अपितु रचना चारुत्व पर विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। पदों की संघटना को ही रीति माननेवाले आनंदवर्धन के मत में रीति मात्र साधन है– साध्य नहीं– 'सा संघटनारसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठतीति।'[१५] कुंतक ने रीति की व्याख्या परंपरा से हटकर की है। देशगत आधार का खंडन करते हुए वे सुकुमार विचित्र और मध्यम इन त्रिविध मार्गों को कविस्वभाव के आधार पर कल्पित करते हैं। गुणों की स्थिति सभी में है उत्तम, अधम की कोटियाँ यहाँ नहीं है। रीति कवि स्वभाव संस्पर्श से शैली बनती है, परंपरामुक्त कुंतक अपने विवेचन में अनायास ही आधुनिक समीक्षा के निकट आ जाते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बंगला समीक्षक अथवा यूँ कहें कि आधुनिक सभी समीक्षक रीति को आत्मतत्त्व मानने से पूर्णतया इन्कार करते हैं। डॉ. एस. के. दे ने भारतीय रीति को निर्वैयक्तिक रचना कौशल माना तो विष्णुपद भट्टाचार्य की दृष्टि में रीति के भीतर से कवि आत्म प्रकाशन करता है। उड़िया के श्री नंद शर्मा की कृति 'श्री भारत दर्पण' में रस और अलंकार के साथ ही रीति पर आधारित भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का संश्लेष मिलता है। तमिल भाषा का उपजीव्य संस्कृत काव्य शास्त्र ही है। कन्नड़ समीक्षा पाश्चात्य प्रभावित है गुण के निरूपण के लिए वहाँ शैली का प्रयोग है। प्रो. ती. नां. श्री कंठय्या ने रीति, मार्ग तथा शैली के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया। शैलीगत समीक्षा मलयालम में भी उत्कर्ष नहीं प्राप्त कर सकी। मराठी काव्यशास्त्र के आरम्भिक लेखकों ने संस्कृत रीति विवेचन का भाषान्तर मात्र प्रस्तुत किया। केलकर ने वैदर्भी आदि नामों को व्यवहार्य नहीं माना तो श्री जोग ने संस्कृत–पाश्चात्य विचारकों का संश्लेप प्रस्तुत किया है। डॉ. वाटवे रीति तथा गुण को एक मानते हुए रीति को कवि व्यक्तित्व से संवद्ध बताते हैं। वस्तुतः सभी ने समस्त गुणों के समुच्चय को ही आदर्श रीति का लक्षण बताया है।

हिन्दी की रीतिकालीन कविता में रीति के दो रूप हैं – १ काव्यशास्त्रीय विधानरूप में और २ – वैदर्भी आदि रीतियों के अर्थ में। केशव द्वारा प्रयुक्त रीति शब्द भी शास्त्रीय विधान की अपेक्षा 'व्यवहार' अर्थ का वाचक है जैसे–

'मुग्धा लज्जा प्राइ रति वर्णत हैं इति रीति'[१६]

यहाँ ध्यातव्य है कि रीति की न तो आत्मतत्त्व रूप में चर्चा है और नहीं वैदर्भी आदि भेदों के संदर्भ में अधिकांशतः वृत्यानुप्रास के अंतर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों (रीतियों) की चर्चा है। वस्तुतः इस क्षेत्र में इनकी कोई उपलब्धि नहीं है, हाँ एक काव्यमूल्य मानकर कर्तव्य की इतिश्री मान लेना ही इनका आचार्यत्व है। द्विवेदी युगीन समीक्षा में विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रवृत्ति लक्षित होती है भले ही अंकुर रूप में पं. रामदहिन मिश्र के मतानुसार पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है। श्याम सुंदरदास जी ने भी रीति की स्वतंत्र परिभाषा न देकर गुणों के आधार पर पद या वाक्य रचना की तीन रीतियों–वैदर्भी गौडी पांचाली का निरूपण किया। डॉ. नगेंद्र ने रसवादी आचार्यों की भाँति ही रीति को शब्दार्थ पर आश्रित और रसाभिव्यक्ति का माध्यम माना है। छायावाद तक आते-आते समीक्षा पूर्णतः पाश्चात्य प्रभाव में आ चुकी थी। लाक्षणिकता, विम्बविधान, सांकेतिकता, भाषा, अंलकृति, नवीन शब्दों की उद्‌भावना आदि इसकी शैली की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। कवियों की शैली के साथ ही उनका निजी व्यक्तित्व जुड़ा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हुआ है। शिल्पगत आधार पर प्रयोगवादी काव्य अपने पूर्ववर्ती काव्य की तुलना में अधिक समृद्ध है। नयी कविता जहाँ प्रास के रज पाश से मुक्त हो चुकी है, छन्दों की पायलें उतार चुकी हैं, उपमान मैले हो गए हैं और प्रतीकों के देवता कूचकर गए हैं वहाँ किन्हीं प्रतिमानों की बात असंगत भले ही लगे लेकिन कविता भाषा का संघटन है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

ध्वनि का मूल स्रोत वैयाकरणों का स्फोटवाद है। कन्नड़ भाषा का 'कवि-राज मार्ग्ग' प्राचीन ग्रंथ है अतः 'ध्वन्यालोक' को पहले से चली आ रही परंपरा का एक महत्त्व पूर्ण आयाम मान सकते हैं। आनंदवर्धन, ध्वनि काव्य की आत्मा है ये मानते हुए भी स्पष्ट उल्लेख करते है कि मात्र ध्वनि से ही काव्य रचना सार्थक नहीं होती—शब्द—अर्थ को गुण, अलंकार से भी संयुक्त होना चाहिए। आ. विश्वनाथ की मान्यता भी यही है कि व्यंग्य रूप अर्थ ही अतिशय चमत्कारी हुआ करता है और इसी आधार पर ध्वनिकाव्य सर्वोत्तम काव्य प्रकार है—

'वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।' १७

ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलंकार आदि का ग्रहण वाच्यार्थ में होता है और ध्वनि का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ में। व्याकरण में जहाँ ध्वनि अभिव्यंजनार्थ प्रयुक्त है वहाँ ध्वनि सम्प्रदाय के अंतर्गत यह शब्द-अर्थ दोनों के लिए आया है। अभिनव-गुप्त रस के कारण ही ध्वनि की महत्ता प्रतिष्ठित करते हैं और कुंतक ध्वनि की स्वीकृति में ही प्रतीयमान और व्यंग्य दोनों का प्रयोग करते हैं। आ. मम्मट मूलतः ध्वनिवादी हैं। व्यंजना की स्थापना वे समस्त विरोधी मतों का खण्डन करके करते हैं उनकी काव्य परिभाषा ही है —

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।' १८

आनंदवर्धन ने युक्तियों और कौशल से इस प्रकार ध्वनि सिद्धांत का विवेचन किया कि वह एक प्रतिमान बन गया।

बंगला समीक्षक ध्वनि अथवा व्यंग्य को स्वीकारते तो हैं पर काव्यात्मा उसे नहीं मानते। नलिनीकान्त गुप्त ने अवश्य 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' लेख में ध्वनि को काव्य का प्राण घोषित किया है यद्यपि पाद-टिप्पणी में यह कहा है कि ध्वनि काव्य का प्राण है और आत्मा रस है। श्री कंठय्या रसध्वनि का पक्ष लेते हैं। मलयालम समीक्षा भी आत्मारूप ध्वनि को नहीं स्वीकारती। तमिल में अलंकार ध्वनि, रसध्वनि की उपमा अलंकार से संबद्ध बताया गया है। 'ध्वनितोपमा' रूप में उसका उल्लेख किया गया है। मराठी विद्वान भी ध्वनि के बिना काव्य की कल्पना ही नहीं करते हैं। ध्वनि का संबंध कल्पना तत्त्व से होता है। ग. त्र्यं. देशपांडे ध्वनि तथा रस की एकात्मकता के पक्ष में हैं। डॉ. वाटवे ध्वनि को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साधन रूपे मानकर काव्य का आत्म तत्त्व ध्वनि की अपेक्षा रस को स्वीकारते हैं। ध्वनि तत्व का आधारभूत तत्व शब्दशक्ति है। वस्तुतः प्रान्तीय भाषाओं में ध्वनिमात्र को काव्य का मुख्य प्रतिमान न मानकर उसे अलंकार और रस से संपृक्त मानना ही समीक्षकों का लक्ष्य रहा है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में कल्पना के विपरीत संस्कृत की यह परम्परा अत्यन्त उपेक्षित व स्थूल दायरे में रही। रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत की उत्तर ध्वनिकालीन परंपरा ग्रहण की। कुलपति व प्रताप साहि ने व्यंग्य को काव्यपुरुष का जीव बताया——

'वाच्य अपेक्षा अस्थ की, व्यंग चमत्कृत होइ।
शब्द अर्थ में प्रकट जो, धुनि कहियत है सोइ॥' [१९]

बीसवीं सदी के आरंभ में आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ध्वनि पर भाषा प्रयोग के प्रसंग में विचार किया है। लक्ष्मीनारायण सुधांशु भी मानते हैं कि इतिहास का काम शुद्ध अभिधा से हो जाता है पर काव्य में लक्षणा, व्यंजना अपेक्षित है। पं. रामदहिन मिश्र ने भी संस्कृत साहित्यशास्त्र की ध्वनि संपत्ति से ही हिंदी काव्य-शास्त्र का भंडार भरने की कोशिश की। श्यामसुंदरदास ने साहित्य की आत्मा ध्वनि या लावण्य को परखने की आवश्यकता पर बल दिया है। आ. शुक्ल रस को व्यंजना उद्भूत मानते हैं। मनोविज्ञान का आधार लेकर ध्वनि को डॉ. नगेंद्र भी व्याख्यायित करते हैं—— 'अनुभूति की वाहक (व्यंजक) बनकर ही ध्वनि में रमणीयता आती है अन्यथा वह काव्य नहीं बन सकती है।' [२०] छायावादी समीक्षक पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद से पूर्णतया परिचित हो चुके थे। पन्त के 'पल्लव' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– 'भाषा संसार का नादमय चित्र है ध्वनिमय रूप है। यह विश्व के हृत्तंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।' [२१] नंददुलारे वाजपेयी ध्वनि सिद्धांत के आविर्भाव को रस व्याख्या के लिए अनिवार्य मानते हैं। ध्वनि लय, ताल, अनुगूंज आदि सारे मूल्य आज की समीक्षा के अनिवार्य तत्त्व हैं। शैलीविज्ञान की मान्यतानुसार भी सौंदर्यवृत्ति की व्यंजना एक कलाकृति की संरचना के ढाँचे के भीतर होती है। [२२]

वक्रोक्ति सिद्धांत एक लंबी परंपरा की परम परिणति है। बाणभट्ट की 'कादंबरी' में प्रयुक्त यह शब्द 'भंगी विच्छित्ति' अर्थ का द्योतक है? वक्रोक्ति को व्याख्यायित करनेवाले प्रथम आचार्य भामह हुए। इनकी दृष्टि में काव्यात्मा अलंकार है पर उसके मूल में है——वक्रोक्ति——

'वक्रोभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।' [२३]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दंडी, वामन, रुद्रट आदि ने अलंकार के अंतर्गत ही इसे व्याख्यायित किया। काव्य का जीवित वक्रोक्ति को स्वीकारनेवाले आचार्य कुन्तक हुए उनके शब्दों में—

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भंगीभणिति रुच्यते। [२४]

वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता, पदपरार्द्धवक्रता, प्रकार वाक्यवक्रता, प्रकरण और प्रबंधवक्रता इन छः भेदों में संसार की लघुतम इकाई वर्ण से लेकर महत्तम रूप 'महाकाव्य' तक को परिकल्पित किया गया है। काव्यभाषा के अनन्य रूप को उजागर करने वाली वक्रोक्ति है इसीलिए संस्कृतेतर भाषाओं में भी इसे महत्त्व मिला है।

बंगला समीक्षकों में विष्णुपद भट्टाचार्य, एस. के. दे, सुरेंद्रनाथ दास गुप्त आदि ने वक्रोक्ति के आत्मपक्ष का विवेचन किया है। डॉ. सुधीर कुमार दासगुप्त के शब्दों में– 'काव्य में जहाँ रचना की वक्रता अर्थात वैदग्ध्यपूर्ण भंगिमा ही प्रधान है वहाँ वक्रकाव्य या वक्रोक्ति है।' [२५] डॉ. सुरेंद्रनाथ दासगुप्त वक्रता का सौंदर्यगत अर्थ करते हुए 'इमोशन' कहकर उसे भावात्मक बना देते हैं। उर्दू समीक्षा काव्यरचना के समय वाक्य विन्यास में चमत्कार समावेश, उपयुक्त शब्द चयन पर विशेष ध्यान देने की पक्षधर है। उड़िया विद्वान दीनकृष्णदास कवि के कथन चातुर्य की प्रशंसा करते हैं। तमिल समीक्षा में कविता में विलक्षणता की-सृष्टि गुणों और अलंकारों के सामंजस्य से मानी गई है। तेलुगु के कट्टमचि राम लिंगारेड्डी चमत्कारी शक्ति के अभाव में उत्तम कविता की संभावना से ही इन्कार करते हैं। मराठी के अधिकांश विद्वान वक्रोक्ति को अलंकार रूप मानते हैं। प्रो. द. के. केलकर रसको आत्मतत्त्व मानते हुए भी सिद्धांतत: वक्रोक्ति को अभिव्यक्ति पद्धति पर अवलंबित मानते हैं। डॉ. वाटवे कवि के उत्कट मनोभाव को काव्य का जीवित मानते हैं इसे अभिव्यक्ति करनेवाले शब्द तथा अर्थ रूप साधनों का रमणीय उपस्थापन ही वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति चिंतन का दायरा यहाँ तक सीमित था।

इसे एक व्यापक आधार मिला– हिन्दी में। चमत्कार सृष्टि, नाथ परंपरा से ही है। रीतिकाल में इसका स्वतंत्र अध्ययन नहीं हुआ। हाँ इसका संपूर्ण साहित्य वक्रत्व की महिमा से मंडित तो है ही। मिश्रबंधुओं ने इसकी गणना अर्था-'लंकार के अंतर्गत की है। वक्रोक्ति का स्वरूप विवेचन न कर आधुनिक समीक्षक इसके महत्व पर प्रकाश डालते हैं। रामनरेश त्रिपाठीजी की मान्यता भी यही है कि कवि की कोई बात चमत्कारहीन होनी ही नहीं चाहिए। इस सिद्धांत को रस-वाद की तुला पर तौलने का काम आ. रामचंद्र शुक्लजी ने किया है। वे मानते हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि 'वचन की जो वक्रता भावप्रेरित होती है वही काव्य होती है 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' से यही वक्रता अभिप्रेत है। वक्रोक्ति अलंकार नहीं।[२६] डॉ. नगेंद्र के विचार में वक्रता सदैव भावप्रेरित होती है भावसौंदर्यहीन शब्द क्रीडा में चमत्कार ही होता है, काव्यत्व नहीं। वक्रत्व की पुष्कल अनुशंसा छायावादी कवि समीक्षकों में हुई है। प्रसाद के शब्दों में 'शब्द और-अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता, विच्छित्ति, छाया और कांति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है।[२७] प्रयोगवादी समीक्षकों ने चमत्कार को काव्य का अंतरंग गुण माना है। यह कहना गलत न होगा कि नई समीक्षा में वक्रत्व ने प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली है। वस्तुतः काव्य का काव्यत्व ही वक्रोक्ति है।

औचित्य की सत्ता उतनी ही सनातन है जितना स्वयं जीवन। सृष्टि के मूल में ही 'साम्यावस्था प्रकृतिः' का सिद्धांत है। ऐतिहासिकता के परिप्रेक्ष्य में देखने पर भी सृष्टि का पर्याय औचित्य ही लगता है। भरतमुनि, भामह और पंडित-राज जगन्नाथ ने प्रधान या गौण रूप में औचित्य को महत्व दिया है। निरुक्त के अनुसार औचित्य दो वस्तुओं की परस्पर अनुरुपता का ही नाम है। इसके प्रत्यक्ष-दर्शी आचार्य हैं रुद्रट। काव्य का जीवित औचित्य को माननेवाले हैं– काश्मीरी विद्वान क्षेमेंद्र, आपके मत में–

'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'[२८]

काव्यांगों पर उन्होंने औचित्य की सिद्धि दिखाई है। अलंकार जिस प्रकार उचित विन्यास पाकर ही सार्थक होते हैं वैसे ही औचित्य से स्खलित गुण गुण संज्ञा पाने के अधिकारी ही नहीं हो सकते। औचित्य की स्थिति समष्टिगत है– व्यष्टिगत नहीं। इसे एक काव्य संप्रदाय के रूप में मान्यता नहीं मिली, फिर भी ये तो मानना ही होगा कि– 'क्षेमेंद्र के यहाँ औचित्य इसी प्रकार का सांप्रदायिक सिद्धांत है जो रस, रीति, अलंकार वक्रोक्ति और ध्वनि संप्रदायों की फूलमाला बनाता हुआ डोरे की भाति इनके अंतराल से निकलकर सब का सुमेरू बन बैठा है।[२९] बंगला समीक्षक औचित्य, ध्वनि तथा रस के सामंजस्य में ही काव्य का आत्मतत्व स्वीकार करते हैं। मराठी विद्वानों ने इसकी समीक्षा रसवादी दृष्टि से की है। काव्यत्व के निर्धारक तत्व रूप में इसका विवेचन है। औचित्य गुण हैं धर्म है गुणी या धर्मी नहीं। डॉ. जोग इसे रीति की भाँति ही अभिव्यक्ति पक्ष से संबंध बताते हैं। वे इस तत्व की व्याख्या 'सौंदर्य शोध' के आधार पर करते हैं। गुजराती समीक्षक सुगठित योजना पर विशेष बल देते हैं। तमिल समीक्षा भी काव्यसौष्ठव को आधार मानती है। कन्नड़ समीक्षकों का विचार संस्कृत विचारकों से मेल खाता है। काश्मीरी समीक्षा साहित्य को औचित्य साधन व विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण मूल्यांकन की कला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानती है। गुण, रस, अलंकार सभी की योजना में यह एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में व्याप्त है अनौचित्यपूर्ण शब्दों से काव्य सर्जना ही संभव नहीं है परंतु इसे एक अलग संप्रदाय का रूप देना अनुचित है।

रीतिकाल में काव्यशास्त्र का अवतरण ही इस बात का साक्षी है कि हिंदी साहित्य में औचित्य के योगक्षेत्र की आवश्यकता आ पड़ी थी। केशव को काव्य में अनौचित्य बिल्कुल असह्य था। भिखारीदास के शब्दों में भी औचित्यविरुद्ध वर्णन दोष है। आधुनिक काल में हरिऔध उपयुक्त शब्द को कविता की सजीवता के लिए आवश्यक ठहराते हैं। डॉ. शंकरदेव अवतरे की मान्यता है – 'औचित्य की सिद्धि के लिए रस की सत्ता यहाँ नहीं है बल्कि सिद्ध रस के उत्कर्ष के लिए या अपकर्षभाव के लिए औचित्य की सत्ता वहाँ है।[१०] नये साहित्य में औचित्य का प्रश्न साहित्य की प्रवृत्तियों और जीवन दर्शन से भी जुड़ जाता है। परंपरा के प्रति विद्रोह, नवीनता का आग्रह, बदलते जीवन मूल्यों के साथ भाषा का निरंतर उद्योन्मुख होना या उसका अनपढ़पन अभिव्यक्ति का औचित्य ही तो है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों के बनाए इन काव्य मूल्यों की नींव इतनी मजबूत है कि संस्कृत साहित्य ही नहीं गुजराती, तमिल, तेलगु, मराठी, बंगला, उड़िया, कन्नड, मलयालम से लेकर हिंदी तक ने इसी पर अपने नये मूल्यों को रूपातंर के साथ स्थापित किया। नयी समीक्षा जो सारे प्रतिमानों को तोड़ने में अपनी सार्थकता प्रकट करती है वह भी इनकाव्य-मूल्यों का निषेध नहीं कर सकती है। इस प्रकार एक लंबी परंपरा की ऐतिहासिकता की जड़ें हमारे संस्कृत काव्यशास्त्र में ही है जो नयी समीक्षा तक आते-आते अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं के रूप में फैल गई हैं और अनेक प्रतिमानों के रूप में पुष्पित-पल्लवित हो रही हैं। शैलीविज्ञान भी इसी भाषिक संरचना की एक नवीन उद्भावना या रूपांतर मात्र है। हाँ, पाश्चात्य तत्व भी इसमें जुड़ गए हैं।

अर्चना श्रीवास्तव

एफ। ३, आयकर कालोनी,
सिविल लाईन्स, गोरखपूर (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदर्भ

१. भरतमुनि नाट्यशास्त्र ।

२. दंडी काव्यादर्श १।५१

३. डॉ. वाटवे– रसविमर्श पृ. ७३

४. मोहितलाल मजुमदार– साहित्य वितान

५. केशवदास– रसिकप्रिया १।१६

६. मैथिलीशरण गुप्त– भारत भारती पृ. ७२

७. आ. रामचंद्र शुक्ल– रसमीमांसा– पृ. ५

८. दंडी– काव्यादर्श– द्वि. परि. पृ. ७४

९. वामन– काव्यालंकार सूत्र– १।६

१०. भारतीय समीक्षा– पृ. २९७, लेख– डॉ. के. एम. जार्ज, अनु. डॉ. नगीनचंद सहगल

११. कुलपति– रसरहस्य १।३४

१२. डॉ. कैलाश वाजपेयी– आधुनिक हिंदी कविता में शिल्प पृ. १२२

१३. सुमित्रानंदन पंत– पल्लव (प्रवेश) पृ. ३२

१४. वामन, काव्यालंकार सूत्र– २।६, २।७, ८, पृ. १४–१५

१५. आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक– ३।५

१६. केशव– रसिक प्रिया– ३।२४

१७. आ. विश्वनाथ– साहित्यदर्पण, चतुर्थ परिच्छेद–पृ. २७९

१८. मम्मट– काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास– पृ. ९

१९. प्रतापसाहि– काव्यविलास– तृ. प्र. छंद सं. २

२०. डॉ. नगेंद्र– हिंदी ध्वन्यालोक, भूमिका– ७०

२१. सुमित्रानंदन पंत, पल्लव– पृ. १९–२१

२२. डॉ. सुरेशकुमार– शैली विज्ञान– पृ. २०२

२३. भामह– काव्यालंकार १।६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२४. कुन्तक– वक्रोक्ति जीवितम् १।१०

२५. डॉ. सुधीरकुमार दासगुप्त– काव्यालोक– पृ. ५३

२६ आचार्य शुक्ल– भ्रमर गीतसार– भूमिका– पृ. ७१

२७. जयशंकर प्रसाद– काव्य और कला तथा अन्य निबंध– पृ. १२५

२८. क्षेमेंद्र– औचित्य विचार चर्चा

२९. डॉ. चंद्रहंस पाठक– औचित्य संप्रदाय का हिंदी काव्यशास्त्र पर प्रभाव पृ. १२०

३०. डॉ. शंकरदेव अवतरे– शास्त्रीय समाधान– पृ. २९४

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दार्शनिक कारिकाकार : नागार्जुन और भर्तृहरि

यों तो उपनिषद्–ग्रन्थों में कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि वैदिक भाषा में उपनिबद्ध कारिकाओं के समर्थ उदाहरण हैं, परंतु लौकिक संस्कृत की कारिकाओं का परिनिष्ठित दर्शनों के क्षेत्र में सूत्रपात करने का यश महामुनि व्याडि को जाता है जो पाणिनि के समसामयिक (५०० ई. पू.) थे और जिन्होंने अपने विस्तृत 'संग्रह' ग्रंथ द्वारा व्याकरण वेदांग का दर्शन प्रतिष्ठित किया था। दुर्भाग्य से संग्रह ग्रंथ अनुपलब्ध है– महाभाष्य और वाक्यपदीय की टीकाओं में कुछ उद्धरण ही अब सुलभ हैं। पतञ्जलि और भर्तृहरि के मध्य में आनेवाले बौद्ध मनीषी, नागार्जुन पर संग्रह का प्रभाव संभावना की सीमा में है। पालि-कारिकाओं की परंपरा व्याडि से भी प्राचीन हो सकती है। यहाँ कतिपय तथ्यों के आधार पर यह देखना है कि क्या भर्तृहरि, अपनी कारिकाओं की रचना करते समय, नागार्जुन की कारिकाओं को दृष्टि में रखते थे ? शैली की दृष्टि से प्रभाव ग्रहण मान्य करने में कठिनाई नहीं है, परंतु कथ्य– निरूपण में यह प्रभाव किस प्रकार आँका जाय, यही प्रतिपाद्य है।

यामुनाचार्य (१२०० ई.) ने भर्तृहरि को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है, इससे इतना तो स्पष्ट है कि कुछ विचारक उन्हें बौद्ध दर्शन से प्रभावित मानते आये हैं। ईसा की चौथी शताब्दी में भर्तृहरि का आविर्भाव माना जाता है। उनके गुरु वसुरात बौद्ध– विरोधी आचार्य थे। भर्तृहरि ने विविध न्याय प्रस्थानों का अध्ययन किया था, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं :

न्याय-प्रस्थान-मार्गास्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागम-संग्रह :॥ २।४८४

इन न्याय-प्रस्थानों में बौद्ध प्रस्थान भी रहा होगा और तब नागार्जुन (प्राय: २०० ई.) को प्रभावक माना जा सकता है। कतिपय कारिकाओं में प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। नागार्जुन का कथन है–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यवहारा विरुध्यन्ते सर्व एव न संशयः ।
पुण्य-पाप-कृतानैव प्रविभागश्च युज्यते ।। म. शा. १७।२४

अर्थात् सभी व्यवहार विरुद्ध होते हैं अतः पुण्यकर्ता और पापकर्ता का विभाग योग्य नहीं। भर्तृहरि ने इस कथन का विरोध सा किया है –

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये ।

आचाण्डालं मनुष्याणां स्वल्प शास्त्रप्रयोजनम् ।। १।४०

अर्थात् पुण्य और पाप का ज्ञान व्यवहार से ही मनुष्य को होता है, तदर्थ शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती ।

'अलात-चक्र' का प्रयोग महाभाष्य में भी आता है और महाभाष्यकार का समय नागार्जुन से प्रायः ३०० वर्ष पहले हैं, परंतु नागार्जुन ने उसका प्रयोग प्रतीत्यसमुत्पाद एवं शून्यवाद की पुष्टि हेतु किया है –

अलातचक्रं गृह्णाति यथा चक्षुर्विपर्ययात् ।
तथेन्द्रियाणि गृह्णन्ति विषयान् सांप्रतानिव ।। रत्नावली ४।२७

– अर्थात् नेत्र अलातचक्र को भ्रम से ग्रहण करता है, उसी प्रकार सभी इंद्रिय विषयों को वर्तमान जैसा ग्रहण करते हैं – शून्यवाद में विषय असत् ही होते हैं ।

इसका स्पष्ट विरोध करते हुए भर्तृहरि सत्ता को मान्य करते देखे जाते हैं–

स्पर्श-प्रबोधो हस्तेन यथा चक्रस्य सन्ततः ।
न तथालातचक्रस्य विच्छिन्नं स्पृश्यते हि तत् ।। २।२९१

अर्थात् स्थूल चक्र के स्पर्श का हाथ से निरंतर बोध होता है जबकि अलातचक्र का वैसा न होकर विच्छिन्न स्पर्श होता है – अतः दोनों को तुलनीय नहीं ठहराया जा सकता कि बोधमात्र को भ्रम कहा जा सके । हाँ, क्रिया के क्षणिक व्यापार-खण्डों का एकीभाव अवश्य ही भ्रम है –

इंद्रियैरन्यथाप्राप्ती भेदांशोपनिपातिभि : ।
अलातचक्रवद् रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते ।। ३।८।१८

अर्थात् क्षणिक खंडांशों की सत्ता होती है, तभी समुदाय का एकीभाव देखा जाता है – इंद्रियों का संपर्क उन भेदांशों से होकर समुदाय का अन्यथा ग्रहण कर लेता है। फलतः अलातचक्रवत् क्रिया की एकात्मक प्रतीति होती है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैयाकरणों के सत्तावाद में 'अस्ति' का निषेध नहीं हो सकता, निषेध भी बुद्धिगत सत्ता को लेकर ही बनता है। शून्यवादी नागार्जुन का कहना है—

सतश्च तावदुत्पत्तिरसतश्च न युज्यते।
न सतश्चासतश्चेति पूर्वोपपादितम् ॥ म. शा. ७।२०

अर्थात् यदि वस्तु सत् है तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? यदि असत् है तो भी उत्पत्ति से उसका जनन क्या होगा ? सदसत् उभयात्मक की कोई स्थिति नहीं बनती। इसके विपरीत सत्तात्मवादी भर्तृहरि का कथन है—

नाभावो जायते भावो नैति भावोऽनुपाख्यताम्।
एकस्मादात्मनोऽनन्यौ भावाभावौ विकल्पितौ ॥ ३।३।६१

न ह्यभावस्य सद्भावे भावस्यात्मा प्रहीयते।
न चाभावस्य नास्तित्वे भावस्यात्मा प्रसूयते ॥ ३।३।७४

अर्थात् अभाव कभी भावरूप में उत्पन्न नहीं हो सकता और न ही भाव अनुपाख्य या निःस्वभाव हो सकता है जो शून्यवाद की अवधारणा है। [1] वस्तुतः आत्मसत्ता एक एवं शाश्वत है जिसमें अनन्यभाव से भाव और अभाव दोनों विकल्प स्वरूप-लाभ करते हैं। अभाव भी जब सत्तारूप है, तब उस अभाव के रहते हुए भी भाव का स्वरूप हीन नहीं होता (क्योंकि बुद्धि में सत्ता मान कर ही अभाव बनता है) और यह भी नहीं है कि अभाव हो जाने पर भाव की उत्पत्ति होती हो—वस्तुतः सत्ता अविच्छिन्न रहती है। क्योंकि वैयाकरण के अनुसार—

यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम्।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वमाहुस्त्रय्यन्तवेदिनः ॥ ३।३।७२

अर्थात् जिस सत्ता में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की त्रिपुटी विकल्प लेती है, वह सत्ता ही वेदवादियों के मत से तत्त्व है। इसके विपरीत इसी त्रिपुटी को नागार्जुन भी लेते हैं—

द्रष्टव्यं दर्शनं द्रष्टा त्रीण्येतानि द्विशो द्विशः।
सर्वशश्च न संसर्गमन्योन्येन व्रजन्त्युत ॥ म. शा. १४।१

अर्थात् द्रष्टा, दृश्य और दर्शन ये तीनों ही न परस्पर संसर्ग लाभ करते हैं और न ही इनमें से किन्ही दो संसर्ग बन पाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट है कि दोनों मनीषियों ने त्रिपुटी का यथावत् उल्लेख करके स्वमत-स्थापन का प्रयास किया है। निश्चय ही भर्तृहरि के समक्ष नागार्जुन रहे हैं जिनके निर्वेदवाद का उत्तर अपने वेदवाद द्वारा उन्होंने किया है।

शून्यवाद और सत्तावाद का विरोध जन्म अथवा उत्पत्ति के विषय में चिरंतन है। दोनों मनीषी परस्पर विरुद्ध चर्चा-प्रवण देखे जाते हैं। नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद का पल्ला पकड़ कर कहते हैं –

नोत्पपद्यमानं नोत्पन्नं नातुत्पन्नं कथंचन।
उत्पद्यते तथाख्यातं गम्यमान-गतागतैः ॥ म. शा. ७।१४

जिस प्रकार वर्तमान, अतीत और अनागत में कोई संबंध नहीं उसी प्रकार जायमान जात ओर जनिष्यमाण में से किसी की उत्पत्ति और उसके कर्ता का स्वरूपाकलन असंभव है। इस प्रकार क्रियाकारक-संबंध का एक ही मार्ग प्रतीत्यसमुत्पाद बचता है –

प्रतीत्य कारकः कर्म तं प्रतीत्य च कारकम्।
कर्म प्रवर्तते, नान्यत् पश्यामः सिद्धिकारणम् ॥ म. शा. ८।१२

अर्थात् कारक क्रिया की अपेक्षा में (प्रतीत्य) कारकत्वभागी होता है और कारकापेक्षा में कर्म (क्रिया) का कर्मत्व वनता हैं, इस सापेक्षता के बिना उत्पत्ति का कोई अर्थ नहीं वनता। पिता-पुत्र के संवंध में यह समस्या और उलझ जाती है –

पित्रा यद्युत्पाद्यः पुत्रो, यदि तेन चैव पुत्रेण।
उत्पाद्यः स यदि पिता, वद तत्रोत्पादयात् कः कम् ॥ विग्रह-व्यावर्तनी ५०

अर्थात् यदि पिता द्वारा पुत्र उत्पाद्य है तो पुत्र द्वारा पिता भी उत्पाद्य है क्योंकि पुत्र के विना पिता का स्वरूप ही नहीं वन सकता। अतः अपेक्षा-वुद्धि या प्रतीत्यसमुत्पाद ही क्रिया-कारक-व्यवहार की व्याख्या का आधार है न कि तत्त्वतः कोई संबंध मान्य हो सकता है क्योंकि कर्म से ही कारक का कारकत्व है और कारक से ही कर्म का कर्मत्व। अब भर्तृहरि को लिया जाय –

पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम्।
संमूर्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते ॥ ३।७।११८

अर्थात्मा द्रव्य है, उसकी सत्ता संमूर्छित या घनीभूत सी वृद्धिगत होती है और वह अर्थात्मा जब पूर्वदशा [२] का त्याग न करता हुआ ही उत्तरावस्था का स्पर्श करता है तब उसे जायमान कहा जाता है। इससे जात और जनिष्यमाण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दशाओं की भी व्याख्या हो जाती है – उत्तरावस्था की पूर्ति में उत्पन्नावस्था और पूर्वावस्था से पूर्व जनिष्यमाण दशा कही जाती है–

पुत्रस्य जन्मनि यथा पित्रोः कर्तृत्वमुच्यते ।
अयमस्यामियंत्वस्मादित भेदो विवक्षया । ३।७।१९

अर्थात पुत्र के जन्म में माता-पिता दोनों उत्पादक हैं, परंतु विवक्षा के अधीन यह भेद आता है कि यह इस माता में और इस पिता से उत्पन्न हुआ है । [3]

साधन-व्यवहारश्चः बुद्ध्यवस्था-निबंधनः ।
सन्नसन् वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते ।। ३।७।३

कारकीय व्यवहार बुद्धि की अवस्थाओं पर अवलंवित है । कारकों का भेद सत् भी हो सकता है और असत् भी, परन्तु अर्थ के विविध रूपों में यह कारक भेद बुद्धि से कल्पित होता है । भर्तृहरि कारक-व्यवस्था को बुद्धि-कल्पित मान कर उसकी बुद्धिगत अर्थसत्ता मान कर चलते हैं– बाह्य जगत् में चाहे कोई अर्थरूप असत् ही क्यों न हो ।

तथागत की सत्ता पर विचार करते हुए नागार्जुन कहते हैं–

तत्त्वान्यत्वेन यो नास्ति मृग्यमाणश्च पंचधा ।
उपादानेन स कथं प्रज्ञप्येत तथागतः ।। मध्यमक शा. २२।८

पंचस्कन्धों के उपादान द्वारा तथागत तत्त्वतः और न ही अतत्त्वतः ज्ञेय हो सकता है– वह न स्कन्धरूप है और न स्कन्धभिन्न (वह तो निरुपाख्य या निःस्वभाव कहा जा सकता है) भर्तृहरि इसका परोक्षतः ग्रहण करके कहते हैं–

न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः ।
अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाविचारितम् ।।
विकल्परूपं भजते तत्त्वमेवाविकल्पितम् ।
न चात्र कालभेदोऽस्ति कालभेदश्च गृह्यते ।। ३।२।७–८

अर्थात् तत्त्व और अतत्त्व में तात्त्विक अन्तर नहीं है । बिना विचार किये ही तत्त्व को ही अतत्त्व मान लिया जाता है । निर्विकल्प तत्त्व ही विविध विकल्प ग्रहण करता है उस में कालभेद नहीं है फिर भी कालभेद बुद्धि-विकल्प से ग्राह्य बनता है । यहाँ नागार्जुन वही कहते है जिसे भर्तृहरि ने दुहराया है–

अपरप्रत्ययं शांतं प्रपंचैरप्रपंचितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ।। म. शा. १८।९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संबंध के विषय में व्याडि का कथन है--

संबंधस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः ।
शब्दैरेव हि शब्दांना संबंधः स्यात् कृतः कथम् ।।

वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ टीका में व्याडिकृत
संग्रह का उद्धरण १।२६

अर्थात् संबंध तत्त्व उत्पादच नहीं है, संबंधियों द्वारा ही संबंधियों का संबंध जनित कैसे हो सकता है ? यह २५०० वर्ष पूर्व की मान्यता है जो नागार्जुन के मन में अवश्य घुमड़ती थी जब उन्होने कहा—

न तेन तस्य संसर्गो नान्येनान्यस्य युज्यते ।
संसृज्यमानं संसृष्टं संसृष्टा च न विदचते ।। म. शा. १४।८

अर्थात् वस्तु का अपने से या अन्य से संबंध नहीं वन सकता अतः किसी रूप में संबंधी की भी सत्ता नहीं है । व्याडि के उक्त अवतरण से संबंध की सत्ता मान्य होती है और भर्तृहरि उसी परंपरा में नागार्जुन को उत्तर सा देते हुए कहते हैं—

ज्ञानं प्रयोक्तुबाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते ।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां संबंधः समवस्थितः ।। ३।३।१

अर्थात् उच्चारित शब्दों से, उच्चारणकर्ता का ज्ञान, बाह्य पदार्थ और उसका स्वरूप प्रतोत होता है अतः उनमें संबंध की स्थिति प्रमाणित है । सत्ता के शक्तिविशेष को ही संबंध कहते हैं—

शून्यवाद में काल की सत्ता अमान्य है—

भावं प्रतीत्य कालश्चेत् कालो भावादृते कुतः ।
न च कश्चन भावोऽस्ति कुतः कालो भविष्यति ।। म. शा. १९।६

अर्थात् भाव की अपेक्षा में काल को मान्य किया जाय तो भाव (क्रिया) से भिन्न काल क्या हो सकता है ? भाव का कोई अस्तित्व नहीं और तब काल कहाँ से होगा । नागार्जुन के 'भाव' शब्द को लेकर ही भर्तृहरि कालशक्ति का निरूपण करते देखे जाते हैं— उनके अनुसार काल भावसत्ता की शक्ति है—

एकस्य शक्तयस्तिस्रः कालस्य समवस्थिताः ।
यत्सम्बन्धेन भावानां दर्शनादर्शने सताम् ।। ३।६।४६

अर्थात् एक ही काल की तीन—भूत, भविष्यत् और वर्तमान—शक्तियाँ हैं जिनके संबंध से भावों का दर्शन और अदर्शन व्यवहृत होता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वाभ्यां स किल शक्तिभ्यां भावानां वरणात्मकः ।
शक्तिस्तु वर्तमानाख्या भावरूप-प्रकाशिनि ॥ ३।९।५०

भूत और भविष्यत् शक्तियों से काल भावों का आवरणकारी वनता है जब कि वर्तमान शक्ति भावरूप का प्रकाशन करती है ।

कालसत्ता मान लेने पर नाश और नास्ति का व्यवहार कैसे होता है ? इसे समस्या के रूप में ही नागार्जुन उपस्थापित करते हैं–

विना वा सह वा नास्ति विभवः संभवेन वै ।
विना वा सह वा नास्ति संभवो विभवेन वै ॥ २१।१

अर्थात् उत्पत्ति और नाश न साथ हो सकते हैं और न एक दूसरे के विना हो सकते हैं (अतः शून्य के अतिरिक्त नाश की व्याख्या का कोई आधार नहीं वनता) यहाँ भर्तृहरि सत्ता को अविच्छिन्न मान कर कहते हैं–

तिरोभावाभ्युपगमे भावानां सैव नास्तिता ।
लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति प्रतीयते ॥
पूर्वस्मात् प्रच्युता धर्मादप्राप्ता चोत्तरं पदम् ।
तदन्तराले भेदानामाश्रयाज्जन्य कथ्यते ॥ ३।१।३८–३९

सत्ता की तिरोभाव दशा मान लेने पर भावों की 'नास्ति' का व्यवहार होता है परंतु तिरोभाव की क्रमिकता में सत्ता का ही 'नाश' प्रतीतिगोचर होता है। वही सत्ता जव पूर्व धर्म (कोटि) से प्रच्युत होकर पद को प्राप्त नहीं करती तव अन्तराल-काल में भेदग्रहण करती है, इसी को जन्म कहते हैं ।

अंत में यह कहना वहुत असंगत न होगा कि नागार्जुन की कारिकाएँ कहीं-कहीं उथली लगती हैं जिन्हें दार्शनिक निरूपण में उतना महत्त्व दे पाना संभव नहीं होता । जैसे–

यदि स्वात्मानमयं त्वद्वचनेन प्रकाशयत्यग्निः ।
परमिव न त्वात्मानं परिद्रक्ष्यत्यपि हुताशनः ॥ विग्रह-व्यावर्तनी १।३६

अर्थात् यदि अग्नि, तुम्हारे कथन के अनुसार, अपने आपको प्रकाशित करता तो वह अपने को जलाता क्यों नहीं । यह उस व्याकरणादि-परंपरा पर प्रहार है जिसके अनुसार तेजस्तत्त्व को स्वयंप्रकाश कहा जाता है । उसी पुरातन परंपरा को अधिक संश्लिष्ट दार्शनिक रूप में भर्तृहरि प्रस्तुत करते हैं–

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ति तेजसी यथा ।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥ १।५५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्नितत्त्व और शब्दतत्त्व को स्वयं प्रकाश्य तथा प्रकाशक मानने में भर्तृहरि नागार्जुन को सन्निबद्ध न करते हों, यही संगत है क्योंकि वे वैदिक परम्परा का दर्शन उपस्थापित कर रहें हैं जब कि नागार्जुन उसके विरुद्ध आग्रह रखते है। परन्तु ऊपर जितना कुछ कहा गया, उससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि यथावत्सार वाक्यपदीयकार ने नागार्जुन को उत्तर देने का प्रयास किया है।

शून्यवादी प्रतीत्यसमुत्पाद के समर्थ व्याख्याता नागार्जुन हैं जिन्हें अपने दर्शन की सूत्रबद्धता परम्परा पर्याप्त नहीं मिली होगी। इसके विपरीत सत्तावादी विवर्तवाद के पक्षधर भर्तृहरि के समक्ष वेदों से लेकर यास्क, व्याडि, पंतजलि आदि का विपुल दार्शनिक वैभव विद्यमान था। इस अन्तर के रहते भी कारिकाकारों में नागार्जुन का महनीय स्थान है और वे भर्तृहरि के अग्रज तो हैं ही, भले ही वाक्यपदीय का चिन्तन अधिक परिनिष्ठित तथा मुग्धकारी लगता है।

सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र)

बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

संदर्भ

१. भावानां निस्वभावानां न सत्ता विद्यते यतः। म. शा. १।१२
२. यहाँ नागार्जुन कहते हैं : सर्वेषामपि भावानां पूर्वा कोटिर्न विद्यते ॥ म. शा. ११।८
३. प्रतीत्य मातापितरौ यथोक्तः पुत्रसंभवः। म. शा. ३।७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय दर्शनों में अनेकांतवाद

अनेकांतवाद जैन दर्शन का एक प्रमुख सिद्धांत है। वस्तु की अनंतधर्मता स्वीकार कर लेने पर सांतज्ञान संपन्न जीव द्वारा वस्तु का संपूर्ण ज्ञान संभव नहीं। फलतः तत्त्वमीमांसा की व्यवहारदशा में साम्यवाद में अभिव्यक्ति स्वाभाविक परिणति है। किंतु क्या अनेकांतवाद का यह सिद्धांत जैन-दर्शन की मौलिक उद्भावना है ? क्या अन्य भारतीय दर्शनों में इसके संकेत नहीं मिलते ? क्यों यह सिद्धांत अन्य दर्शनों द्वारा ग्राह्य नहीं हो सका, आदि प्रश्न ही यहाँ विवेचन का विषय हैं।

वस्तु को अनंतधर्मयुक्त मानना ही अनेकांतवाद है— न एकांतः अनेकांतः। जैन मत के अनुसार संसार के समस्त पदार्थ या द्रव्य दो प्रकार के धर्मों से युक्त हैं— नित्यधर्म या स्वरूप तथा आगंतुकधर्म या परिणामी धर्म। इनमें से प्रथम को 'गुण' तथा द्वितीय को 'पर्याय' कहा गया है। नित्यधर्म या गुण के कारण वस्तु का अस्तित्व बना रहता है। जब कि पर्यायों के कारण वस्तु में परिवर्तन संभव है। अतः जैन-दर्शन में द्रव्य वह है जो गुण और पर्याय से युक्त है।[1] दूसरे शब्दों में जो विनाशी और अविनाशी दोनों हो उसे ही सत् कहते हैं। सत् न एकमात्र परिवर्तनशील है यथा बौद्ध मानते है और न यह अपरिवर्तनशील कूटस्थ है यथा उपनिषद् में माना गया है। जैन मत के अनुसार सत् पदार्थ एक ही समय में परिणामी और अपरिणामी, नित्य और अनित्य दोनों है। उत्पत्ति और विनाश से युक्त यह ध्रुवरूप है।[2] इन्हीं गुण और पर्यायों के कारण ही वस्तु अनंत धर्मात्मक मानी गई है। वस्तु के इन अनंतधर्मों का अपरोक्ष ज्ञान करने में एकमात्र केवली ही समर्थ हैं। साधारण व्यक्ति तो काल विशेष में वस्तु को एक दृष्टि विशेष से ही देखने में समर्थ होता है। फलतः वस्तु से संबंधित कोई भी कथन निरपेक्ष दृष्टि से अपने में सत्य नहीं, अपितु विशेष परिस्थिति एवं परिधि में ही उस कथन की सत्यता निहित है। वस्तुओं के इस आंशिक ज्ञान को जैन-दर्शन में 'नय'[3]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहते हैं तथा इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श (Judgement) होता है उसे भी 'नय'[४] कहा जाता है।

वस्तुओं का आंशिक ज्ञान दो दृष्टियों से संभव है। एक वह दृष्टि जब वस्तु के विभिन्न धर्मों एवं विशेषताओं को वस्तुरूप में देखा जाता है। उदाहरण के लिए जब हम यह कहते हैं कि 'यह घट है' तब हम घट गत विशेषताओं को घट से भिन्न नहीं देखते, बल्कि धर्मों एवं विशेषताओं की वस्तु से पृथक् सत्ता नहीं समझते। दूसरी दृष्टि के अनुसार वस्तु के धर्मों का हम पृथक् दर्शन करते हैं तथा इन धर्मों के अतिरिक्त वस्तु की सत्ता नहीं समझते। उदाहरण के लिए घट के विभिन्न धर्मों का उल्लेख करते हुए यह कहा जा सकता है कि 'रंग, रूप और आकार के अतिरिक्त घट नाम की कोई वस्तु नहीं है।' इन दोनों दृष्टिकोणों को जैन-दर्शन में क्रमशः 'द्रव्यनय' और 'पर्यायनय'[५] कहा गया है। इनके भी अवांतर भेद हैं। नयों के इन अवांतर भेदों में अन्य भारतीय दर्शनों के वस्तुसंबंधी दृष्टिकोणों का अंतर्भाव हो जाता है। यथा सर्वसाधारण की दृष्टि से किसी वस्तु का उल्लेख करना 'नैगमनय' कहलाता है। इसमें वस्तु के विशेष धर्मों आदि का विभेद नहीं होता। यथा जब हम यह कहते हैं कि 'मेरे हाथ में पुस्तक है' तब हम उक्त पुस्तक पर उसके विशेष धर्मों आदि की दृष्टि से विचार नहीं कर रहे होते हैं। इसके विपरीत जिस सामान्य रूप में उस पुस्तक का प्रत्यक्ष हो रहा है उसी रूप में उसका कथन करते हैं। प्रत्यक्ष पर आधारित इस दृष्टिकोण के मूल में यह मान्यता निहित है कि वस्तु में सामान्य एवं विशेष धर्म होते हैं तथा उनमें से किसी एक धर्म का भी उल्लेख एक समय में किया जा सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार उक्त दृष्टिकोण के आधार पर न्याय-वैशेषिक अनुभूति की व्याख्या करते हैं।

सामान्यतम दृष्टिकोण से वस्तु का दर्शन 'संग्रहनय' कहलाता है। उदाहरण के लिए समस्त वस्तुओं का सत्तारूप में दर्शन संग्रहनय है। जैन-मत के अनुसार वेदांत वस्तुओं के संबंध में ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाता है।

जब वस्तु पर व्यावहारिक अनुभूति के आधार पर विचार किया जाता है तब उसे 'व्यवहारनय' कहते हैं। वस्तु को इस प्रकार देखना सांख्य का दृष्टिकोण है।

पर्यायनय का एक भेद ऋजुनय है। इसमें वस्तु पर उत्पत्ति एवं विनाशयुक्त कार्यों के समूह रूप में विचार किया जाता है जो कि बौद्धों का दृष्टिकोण है।

इस प्रकार 'नय' एक दृष्टिकोण है अथवा वस्तु को देखने का एक प्रकार है। ये दृष्टिकोण अनंत हैं। अनंत धर्मात्मक वस्तु से संबंधित ये अनंत दृष्टिकोण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने-अपने संदर्भ में सत्य भी हैं। दूसरे शब्दों में 'परामर्श' या 'नय' आंशिक रूप में अथवा सापेक्ष सत्य है। इस आंशिक सत्यता को सूचित करने के लिए परामर्श से पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह स्यात् शब्द संशय या अज्ञेयता का बोधक नहीं। यह तो परामर्श की सापेक्ष सत्यता का सूचक है।

वस्तु में अनंत धर्मों या गुणों को सिद्ध करना अनेकांतवाद का मुख्य प्रयोजन नहीं है। वस्तु की अनंत धर्मता तो प्रतिदिन के अनुभव से ही सिद्ध है। इस सिद्धांत का प्रमुख आयोजन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले उभय धर्मों—गुण और पर्याय—की वस्तु में युगपत अविरोध सिद्धि करना है।[६] प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक, सत् असदात्मक, नित्य-अनित्यात्मक, एक अनेकात्मक, गुण-पर्यायात्मक है। विशेष के अस्तित्व के अभाव में सामान्य की सत्ता संभव नहीं। विशेषरहित सामान्य तो शशश्रृंग के सदृश असत् है।[७] दूसरे शब्दों में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले किंतु वस्तुतः अविरोध रूप से रहनेवाले दो धर्मों का सापेक्षभाव सिद्ध करना ही अनेकांतवाद का प्रमुख प्रयोजन है। फलतः एक ही वस्तु सामान्य धर्म की दृष्टि से नित्य, अविनाशी एक तथा अखंड है, किंतु विशेषधर्म की दृष्टि से वही वस्तु अनित्य, विनाशी, अनेक और खंडरूप है। दो भिन्न दृष्टिकोणों से परस्पर विरोधी दो धर्मों की युगपत अवस्थिति एक ही आश्रय में उसी प्रकार संभव है यथा एक ही व्यक्ति में पितृत्व और पुत्रत्व आदि अनेक परस्पर विरुद्ध धर्म भिन्न-भिन्न विवक्षा से एक साथ रह सकते हैं।

जैन दर्शनाभिमत यह अनेकांत दृष्टि किसी न किसी रूप में अन्य भारतीय दर्शन अंगीकार किए हैं। सर्वप्रथम उपनिषद् दर्शन पर ही दृष्टिपात कीजिए। उपनिषदों में परम तत्त्व को निर्गुण और सगुण दोनों कहा गया है। एक ओर यह परमतत्त्व 'अदृश्यम–व्यवहार्यम्'[८], 'निष्कलं निष्क्रियं शांतम्'[९], 'नेति-नेति'[१०] आदि कहा गया है। दूसरी ओर यही परमतत्त्व जगत् की उत्पत्ति आदि करने-वाला[११], तथा 'सब कुछ ब्रह्म ही है'[१२] ऐसा बतलाया गया है। निर्गुणपरक और सगुणपरक इन श्रुतिवचनों में तब तक समन्वय नहीं हो सकता जब तक परम-सत्ता को अनंतधर्मात्मक न माना जाय। उक्त वचनों की सार्थकता भी इन्हें ऐकांतिक मानने में है। अनेकांत दृष्टि के अभाव में 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन' जैसे श्रुतिवचन विरोधग्रस्त ही रहेंगे। इसी प्रकार आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ अनेकांतवाद के 'पर्याय' में ठीक बैठ जाती हैं। आत्मा स्वरूपतः अपरिणामी ध्रुव है। जब कि इसकी विभिन्न अवस्थाए उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। अतः यह मानना होगा कि औपनिषदिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऋषि तत्त्व को अनंत धर्मात्मक स्वीकार करते हुए उसका अनेकांत दृष्टि से प्रतिपादन कर रहे हैं।

बौद्धमत में भी अनेकांत दृष्टि को अपनाया गया है। चित्त को एकमात्र तत्त्व माननेवाला विज्ञानवाद विशिष्ट क्रिया की प्रधानता से इसे 'चित्त' 'मन' तथा 'विज्ञान' कहता है[१३] एक ही चित्त चेतन क्रिया की दृष्टि से 'चित्त', मनन क्रिया की दृष्टि से 'मन' तथा विषयों को ग्रहण करने की दृष्टि से 'विज्ञान' पद से अभिहित होता है। एक ही तत्त्व चित्त को अनेक रूपों में अभिधान अनेकांत दृष्टि का परिचायक है।

न्याय–वैशेषिक मत पदार्थों के विवेचन में किसी ऐकांतिक दृष्टि का आश्रय नहीं लेते। उदाहरणस्वरूप द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थ-सत्ता सामान्य की दृष्टि से एक हैं; किंतु द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व आदि की दृष्टि से वे परस्पर भिन्न हैं। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज आदि भूतों के परमाणु परमाणुसामान्य की दृष्टि से तथा कारण की दृष्टि से समान हैं, नित्य हैं। किंतु पृथ्वी आदि विशेष द्रव्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। कार्य की दृष्टि से ये चारों भूत अनित्य भी हैं। इसी प्रकार आत्मा अपने विभिन्न गुणों यथा इच्छा, राग, द्वेष, कृतित्व आदि की दृष्टि से सामान्यरूप हैं, किंतु व्यक्तिविशेष की दृष्टि से विशेषरूप। फलतः एक ही वस्तु नित्य भी है, अनित्य भी। इस विरोध का कारण वस्तु को अनेक गुणसंपन्न मानने के साथ-साथ उस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना है। दो भिन्न दृष्टिकोणों के परिप्रेक्ष्य में एक ही पदार्थ सामान्यरूप भी है और विशेषरूप भी, नित्य भी है और अनित्य भी।

सांख्यदर्शन में मूलतत्त्वों–प्रकृति एवं पुरुष का प्रतिपादन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है। प्रकृति के तीनों गुण-सत्त्व, रजस् एवं तमस्–प्रकृतित्वेन समान है, परंतु गुणों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं।[१४] जो सतोगुण है वह रजोगुण नहीं और जो रजोगुण है वह सतोगुण नहीं। किंतु प्रकृति की दृष्टि से सभी गुण प्रकृति रूप ही हैं। इन तीनों गुणों की सिद्धि करते समय सांख्यदर्शन में विभिन्न दृष्टिकोण अपनाए गए हैं। उदाहरण के लिए एक ही वस्तु को सुख, दुःख और मोहात्मक से संपृक्त मानना उस पर पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से विचार करना है। इसी प्रकार सांख्याभिमत पुरुषतत्त्व स्वरूपतः चिन्रूप तथा असंग है; किंतु सांसारिक दृष्टि से वही पुरुष बद्ध है।

उपनिषद् दर्शन में तत्त्व को अनंत धर्मात्मक तथा तत्त्व के प्रतिपादन में अनेकांत दृष्टि दिखलाने के उपरांत, अद्वैतवेदान्त में इन्हें प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। चूंकि आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में[१५] अनेकांतवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का खंडन किया है तथा सप्तभंगीनय से जन्य ज्ञान को संशयज्ञान की कोटि में रखते हुए अप्रामाणिक बतलाया है, अतः यहाँ दो शब्द कहना अनुचित न होगा। आचार्य शंकर का कथन है कि एक ही धर्मी में एक साथ दो परस्पर विरुद्ध धर्म सत और असत् उसी प्रकार नहीं रह सकते जैसे एक ही वस्तु एक समय में शीत और उष्ण नहीं हो सकती। ... इस प्रकार का अनिर्धारित ज्ञान संशयज्ञान के समान अप्रामाणिक है। ऐसी अनिश्चितस्वरूपा वस्तु प्रवृत्ति की जननी नहीं हो सकती।'

शंकर के उक्त दृष्टिकोण को न समझने के कारण कतिपय विद्वानों ने शंकर पर स्याद्वाद को समझने में असमर्थता का दोष लगाया है।[६६] शंकर द्वारा अनेकांतवाद का खंडन एक ही वस्तु में एक ही समय में दो परस्पर विरोधी धर्मों की सहसत्ता से संबंधित है। जब कि अनेकांतवाद वस्तु का विवेचन अनेक दृष्टियों के आधार पर कर रहा है। जैन-दर्शन में स्वयं यह स्वीकार किया गया है कि एक वस्तु जिस रूप में तथा जिस दृष्टि से सत् है उसी रूप में या उसी दृष्टि से असत् नहीं। जैसे देवदत्त नामक व्यक्ति एक दृष्टि से पिता है तो एक अन्यदृष्टि से पुत्र भी। दो भिन्न दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में ही देवदत्त नामक व्यक्ति में पितृत्व एवं पुत्रत्व संभव है। स्वयं शंकर वस्तु के प्रतिपादन से एक से अधिक दृष्टिकोणों को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्ता है और पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता नहीं है। विभिन्न दृष्टियों से वस्तु के स्वरूप प्रतिपादन में जैन एवं शांकरमतों में कोई विरोध नहीं। आचार्य द्वारा सत्ता की विविध कोटियों का स्वीकार किया जाना सत्ता के प्रति अनेकांत दृष्टि का सूचक है। वेदांत की अध्यारोप-अपवाद की प्रक्रिया के मूल में भी अनेकांत दृष्टि निहित है। अनेकांत दृष्टि के आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है यह एक भिन्न प्रश्न है। शंकर एवं जैन-दर्शन में विरोध दृष्टिभेद के कारण है। जहाँ प्रथम ने वस्तु के स्वरूप-प्रतिपादन में लौकिक दृष्टि का परित्याग कर ,पारमार्थिक दृष्टि को अपनाया है वहाँ द्वितीय वस्तु के स्वरूप-प्रतिपादन में इस प्रकार का दृष्टिभेद स्वीकार नहीं करता। वह तो हमारी प्रतिदिन की लौकिक दृष्टि से ही वस्तु का स्वरूप निर्धारण करता है। लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से किसी भी वस्तु में विरोधी धर्मों की सत्ता का आचार्य निषेध नहीं करते।

जीव-ब्रह्म में भेदाभेद संबंध माननेवाले भास्कर, रामानुज तथा चैतन्य आदि वैष्णव आचार्य प्रकारांतर से अनेकांत दृष्टि को अंगीकार किए हैं।

कुछ पाश्चात्य विचारक यथा शिलर, व्हाइट्हेड आदि भी इस अनेकांत या सापेक्षदृष्टि को स्वीकार करने लगे हैं। इन विद्वानों की दृष्टि में 'प्रत्येक विचार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का अपना-अपना प्रसंग या प्रकरण होता हैं। इसी प्रकरण पर ही विचारों की सार्थकता निर्भर करती है। एकांतवाद या ऐकांतिक दृष्टि के ये लोग विरोधी हैं।[१७]

जैन-दर्शनाभित अनेकांतवाद अनुभव पर आधारित है। फलतः अनुभूति-मूलक अन्य भारतीय दर्शन इस अनेकांत दृष्टि को किसी-न-किसी रूप में अपनाये हुए हैं। यह ठीक है कि जैनदर्शन से पूर्व इस अनेकांत दृष्टि को किसी अन्य भारतीय दर्शन ने सुव्यवस्थित रूप नहीं दिया और न एक दार्शनिक सिद्धांत के रूप में ही इसे मान्यता मिली, फिर भी दार्शनिक चिंतनधारा के मूल में चेतन या अचेतन रूप से अनेकांत दृष्टि की स्वीकृति रही है यथा काव्य की प्राणभूत ध्वनि के सभी काव्यों के मूल में विराजमान होने पर भी, ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि का व्यावहारिक स्वरूप सामने नहीं आया था।

संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू.

उमा पाण्डेय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदर्भ

१. गुण पर्यायवद् द्रव्यम् । तत्वार्थ सूत्र ५।३७

२. उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् । वही ८।२९

३. एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयोमतः । न्यायावतार श्लोक २९

४. नयति प्रापयति संवेदनं; आरोहयतीति नयः।
प्रमाण प्रवृत्तेरुत्तरकाल भावी परामर्शः।। न्यायावतार विवरण श्लो. २९

५. स्याद्वाद मंजरी पृ. १७१–१७३

६. एक वस्तु वस्तुत्व निष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय प्रकाशनं अनेकांतः। 'अनेकांतवाद और स्याद्वाद'– (गुरुगोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ पृ. ४१३)

७. निर्विशेषं हि सामान्यं खर विषाणवत् ।

८. माण्डूक्य ३ व. ६।१९; बृह. ३ ब. २।५।१९; ३।८।८; मुण्डक १।१।६;

९. श्वेताश्वतर ३ व. ६।१९; मांडूक्य ७

१०. बृह. ३ व. ३।९।२६; ४।२।४; ४।४।२२; ४।५।१५

११. तैत्तिरीय उप. ३।१०; छांदोग्य ३।१४।१; कैवल्य १।१९; बृह. उप. २।१।१०; मुण्डक १।१।७

१२. माडूक्य २; छांदोग्य ३।१४।१

१३. चित्तमालय विज्ञानं मनो यन्मननात्मकम् ।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते ।। लंकावतार गाथा १०२

१४. सांख्यकारिका १३

१५. ब्र. सू. भा. २।२।३३

१६. 'जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धांत का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धांत में बहुत कुछ है, जिसे वेदांत के आचार्यों ने नहीं समझा। और जो कुछ मैं अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैन धर्म को उसके मूल ग्रंथ से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।'
कैलासचंद्र शास्त्री– 'जैन धर्म' पृ. ७७
(म. म. गंगानाथ झा स्मृति ग्रंथ)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धांत को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धांत को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं है।.. ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूल ग्रंथों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।' वही पृ. ७७–७८

17. 'The chief danger to philosophy is narrowness in the selection of evidence. This narrowness arises from the idiosyncrasies and timidities of particular author, of particular social groups, of particular school of thought, of particular epochs in the history of civilization The evidence relied upon is artifitially biased by the temperament of individnals, by the provincialities of scheme of thoughts.'

— A. N Whitehead, Process and Reality p. 196

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नीतिशास्त्र में सुख का प्रत्यय

इस शोध पत्र का उद्देश्य मात्र यह स्पष्ट करना है, कि यद्यपि नीतिदर्शन के क्षेत्र में सुख के प्रत्यय को सुखवादियों की विरासत मान लिया गया है, तथापि 'सुख' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रायः सभी नीतिशास्त्रीय सिद्धांतों में हुआ है। ये विभिन्न अर्थ सुख के विभिन्न प्रकारों के सूचक है अतः मैंने विभिन्न नीतिशास्त्रीय सिद्धांतों के संदर्भ में सुख के प्रत्यय की चर्चा करते हुए यह दर्शाने का प्रयास किया है कि अंततः नीतिमत्ता की कसौटी आत्मा से ही संबंधित होनी चाहिए तथा परिमाणात्मक दृष्टि से समस्त आत्माओं का कल्याण अथवा सर्वभूत हित या विश्व कल्याण ही हमारा जीवन लक्ष्य होना चाहिए।

सर्वप्रथम मेरे मतानुसार परिमाणात्मक दृष्टि से सुख के पांच वर्ग किए जा सकते हैं। वे हैं-- (१) व्यक्तिगत सुख (२) अन्य लोगों का सुख (३) अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख (४) समस्त मानवों का सुख एवं (५) समस्त प्राणियों का सुख। द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त भेद सुख की मात्रा के आधार पर न किए जाकर, सुख द्वारा व्याप्त क्षेत्र अथवा उसकी व्यापकता या व्याप्ति के आधार पर किए गए हैं।

सुख में परिमाणात्मक भेद

व्यक्तिगत सुख	अन्य लोगों का सुख	अधिकतम लोगों का सुख	समस्त मानवों का सुख	समस्त प्राणियों का सुख

'मात्रा' की दृष्टि से सुखों का विभाजन कम, औसतन, अधिक एवं अधिकतम में किया जा सकता है। सुखों का यह मात्रागत भेद स्पष्ट रूप से उपयोगितावाद के अधिकतम लोगों के 'अधिकतम सुख' के सिद्धांत में दृष्टिगोचर भी होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किंतु चूंकि प्रत्येक नीतिशास्त्रीय सिद्धांत में मात्रागत भेद की चर्चा नहीं है अतः मैंने व्यापकता को ही सुख भेद का आधार बनाया है।

कभी-कभी क्षणिकता व नित्यता अर्थात अवधि (Duration) के आधार पर भी सुखों का विभाजन किया जाता है। जैसे सामान्यतः यह माना जाता है कि शारीरिक सुख सर्वाधिक 'क्षणिक' होता है। उससे कम क्षणिक अर्थात अधिक अवधि वाला मानसिक सुख होता है। बौद्धिक सुख मानसिक सुख से भी अधिक अवधि वाला होता है तथा आध्यात्मिक सुख 'नित्य' सुख है। क्षणिकता व नित्यता को आधार मानने की अपेक्षा उन्हें विभिन्न सुखों की विशेषतायें मानना अधिक संगत है।

गुणात्मक दृष्टि से सुख के चार वर्ग संभव है। प्रथम – शारीरिक सुख। द्वितीय – बौद्धिक सुख। तृतीय – मानसिक सुख एवं चतुर्थ – आध्यात्मिक सुख। निम्न रेखाचित्र द्वारा इसे प्रदर्शित किया जा सकता है।

सुख के गुणात्मक भेद

शारीरिक सुख | बौद्धिक सुख | मानसिक सुख | आध्यात्मिक सुख

उपर्युक्त भेद इस आधार पर किए गए है कि मानव को सुख किस 'स्तर' पर प्राप्त हो रहा है। कुछ विद्वान यह कह सकते हैं कि उपयुक्त विभाजन सुख प्राप्ति के माध्यम के आधार पर किया गया है। उदाहरणार्थ जब सुख प्राप्ति इंद्रियों के माध्यम से होती है तो उसे ऐन्द्रिक सुख व जब बुद्धि के द्वारा सुख प्राप्ति होती है तो उसे बौद्धिक सुख कहा जाता है। यही बात मानसिक व आध्यात्मिक सुख पर भी लागू होती है। इस संदर्भ में वेदान्तकृत सुख भेद की आलोचना द्रष्टव्य है। सर्वविदित है कि वेदान्त में तीन प्रकारके सुख माने गए हैं– (१) आधिदैविक (२) आधिभौतिक एवं (३) आध्यात्मिक। "माध्यम" के आधार पर सुख भेद स्वीकार करनेवाले विद्वान इस वर्गीकरण की आलोचना यह कह कर करते हैं कि "आधिदैविक" सुख को पृथक मानने की क्या आवश्यकता? क्योंकि देवप्रदत्त सुख-दुख व्यक्ति शरीर या मन से ही भोगता है। उनसे एक पग आगे जाकर यह कहना अनुचित न होगा कि यदि उनके द्वारा स्वीकृत आधार को मानें तो शारीरिक सुख का भी पृथकवर्ग नहीं किया जा सकता क्योंकि शारीरिक सुख भी वस्तुतः मन द्वारा ही अनुभव किया जाता है। शरीर अपने आप सुख को अनुभव नहीं कर सकता। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि "माध्यम" का महत्व होते हुए भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"माध्यम[2]" (ग्राहक) के स्थान पर "स्तर" को आधार स्वीकार करना अधिक उपयुक्त है।

वेदान्तकृत वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए गीता के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार तिलक ने सुख के दो भेद किए हैं। वे "आधिदैविक" सुख को नहीं मानते।

तिलककृत सुख-भेद

बाह्य या शारीरिक सुख | आभ्यन्तर या मानसिक सुख

मेरी दृष्टि में तिलककृत वर्गीकरण सुखों के गुणात्मक भेद को पूर्णतः स्पष्ट करने में असमर्थ होने के कारण त्रुटिपूर्ण है। उदाहरणार्थ – आभ्यन्यर के अंतर्गत केवल मानसिक नहीं अपितु आध्यात्मिक सुख भी रखा जाना चाहिए। दूसरे आध्यात्मिक को मानसिक मानना भी भूल है।

गीता में गुणात्मक दृष्टि से सुखों का जो वर्गीकरण किया गया है वह निम्न रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है –

गीताकृत सुख-भेद

सात्विक सुख | राजस सुख | तामस सुख

इनका स्वरूप वर्णन भी उपलब्ध है। सात्विक सुख उस आध्यात्मिक सुख को कहा गया है जो आत्मनिष्ठ[1] बुद्धि की प्रसन्नता से मिलता है। इंद्रियों व विषयों से प्राप्त होने वाले सुख को राजस[2] तथा निद्रा व आलस से उत्पन्न सुख को तामस कहा गया है।[3] द्रष्टव्य है कि यहाँ आध्यात्मिक सुख का आधार आत्म ज्ञान से शुद्ध तथापि बुद्धि को ही माना गया है। दूसरे, गीताकृत ये भेद, मानव स्वरूप संबंधी उसकी मान्यता पर आधारित है जिसके अनुसार मानव प्रकृति में सत्व, रजस् व तमस् तीन गुण पाये जाते हैं।

स्मरणीय है कि परिमाणात्मक एवं गुणात्मक भेद परस्पर विरोधी नहीं हैं। अतः एक ही समय में उन्हें एक ही साथ स्वीकार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ सभी सुखवादी (यहाँ सुखवादी शब्द का प्रयोग मैंने केवल उन नीतिशास्त्रियों के लिए किया है जो सुख से शुभ को परिभाषित करते हैं। अथवा सुख को ही नीति-मत्ता की कसौटी मानते हैं।) सांसारिक अथवा भौतिक सुख को ही शुभ मानते हैं। सुख के आगे भौतिक विशेषण का होना सुख के गुणात्मक भेद का सूचक है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथापि सुख के परिमाण की दृष्टि से इनमें मतैक्य नहीं है जिसके कारण ही स्वार्थ सुखवाद व परार्थ सुखवाद जैसे पृथक-पृथक सिद्धांत सामने आये हैं।

कई बार तीव्रता के आधार पर भी सुख-भेद किया जाता है। सिरैनैक्स की यह मान्यता थी कि सब सुख जाति में समान होते है उनमें केवल तीव्रता का अन्तर होता है। तीव्रता के आधार पर ही एक सुख दूसरे सुख से अधिक वांछनीय व शुभ माना जाता है। चूंकि इंद्रिय-सुख क्षणिक होने पर भी अधिक तीव्र होते हैं अतः वे अधिक वाँछनीय है। एरिस्टिपस के तीव्र सुख के विपरीत एपिक्यूरस ने शान्त सुख को महत्त्व दिया, यद्यपि उसने सुख के दो प्रकार– ऐन्द्रियिक एवं बौद्धिक– अर्थात् गुणात्मक भेद को स्वीकार किया।

आगे बढ़ने के पूर्व भाषागत कुछ कठिनाइयों का उल्लेख अति आवश्यक है। सुखों के गुणात्मक भेद अथवा स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये हिन्दी एवं आंग्ल भाषा में अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं जैसे शारीरिक सुख के लिए बाह्य या ऐन्द्रियिक सुख अथवा Pleasure कहा जाता है पर इसके लिए Happiness शब्द का-भी प्रयोग आंग्ल भाषा में किया जाता है जब कि यही Happiness शब्द मानसिक सुख के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है। इसी तरह बौद्धिक सुख के संबोधनार्थ हमारी मातृभाषा तथा अंग्रेजी में कोई एक पर्यायवाची सटीक शब्द प्राप्त नहीं होता। अधिक-से-अधिक इसे वैचारिक संतुष्टि कहा जा सकता है जो स्वयं दो शब्दों के योग से बना है। आंग्ल भाषा में इसे केवल Satisfaction कहा जा सकता है पर Satisfaction शब्द का प्रयोग Mental व Physical Satisfaction के लिए भी होता रहा है। फिर, संतुष्टि या Satisfaction स्वयं सुख नहीं है, सुख संतुष्टि से या उसके उपरान्त प्राप्त होता है। मानसिक सुख को आंग्ल भाषा में Joy व Entertainment भी कहा जा सकता है, पर हमारी भाषा में कोई एक शब्द इस विशिष्ट सुख के पर्यायवाची के रूप में उपलब्ध नहीं हैं। आध्यात्मिक सुख के लिए अवश्य हिन्दी में एक पूर्णार्थक शब्द "आनन्द" उपलब्ध है। तथापि गीता में भी "आनंद" के लिए "सुख" शब्द ही प्रयुक्त हुआ है व उसका अन्य-सुखों से भेद प्रतिपादित करने के लिए उसके आगे आध्यात्मिक सुख की विशेषतायें दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ गीता के छठवें अध्याय के २८ वें श्लोक में इसे "अत्यंत सुखम्" कहा गया है। इसी प्रकार चौदहवें अध्याय के २७ वें श्लोक में आनंद के लिए "ऐकान्तिक सुख" शब्द का प्रयोग है। पाँचवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में इसे "अक्षय सुख" कहा गया है, तो छठवें अध्याय के २७ वें श्लोक में उत्तम सुख शब्द का प्रयोग इस सुख की श्रेष्ठता प्रतिपादन के लिए हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आंग्ल भाषा में इसके समांतर Bliss शब्द है, किंतु आंग्लभाषा में आत्मानंद के लिए Happiness शब्द का प्रयोग भी निसंकोच होता रहा है। भारतीय परंपरा में "प्रेम" या "श्रेय" शब्दों का प्रयोग सुखों में गुणात्मक भेद दर्शाने के लिए वैदिक काल से होता आया है। इंद्रियों को प्रिय लगने वाले सांसारिक सुख को "प्रेय" व आत्मा के सच्चे कल्याण को "श्रेय" कहा गया है। इसी प्रकार "हित व सुख" शब्दों का प्रयोग भी अति महत्त्वपूर्ण है, तथापि मेरा उद्देश्य उपर्युक्त चारों प्रकार के सुखों के लिए पृथक्-पृथक् एकशब्दीय पर्यायवाची खोजना एवं निर्मित करना है। इसमें मुझे आपके सहायोग की महती अपेक्षा है।

अब हम यह देखेंगे कि सुख का प्रत्यय विभिन्न नीतिशास्त्रीय सिद्धांतों में किस रूप में प्राप्त होता है। सर्वप्रथम सर्वाधिक प्रचलित सिद्धांत सुखवाद के विभिन्न प्रकारों पर दृष्टिपात करें, तो प्राचीन सुख वाद से दो रूप – 'स्थूलसुखवाद' जो शरीर सुख को सर्वोपरि मानता था, तथा 'सुसंस्कृत सुखवाद' – जिसने बौद्धिक सुख को महत्त्व दिया, पाते है। हम देखते है कि इन प्राचीन मतों में भी गुणात्मक भेद को क्रमशः सांकेतिक तथा स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। सुख का 'तीव्र' व 'शांति' में विभाजन गुणात्मक भेद की ओर ही इंगित करता है यद्यपि सुसंस्कृत सुखवादियों ने इंद्रियगम्य बाह्य सुखों की अपेक्षा बुद्धिगम्य सुख को अधिक मूल्यवान माना, तथापि एपिक्यूरियानिज्म स निष्कर्ष पर पहुँचा कि सुख केवल भावनात्मक नहीं होता, बौद्धिक एवं सामाजिक भी होता है। फिर भी इस सिद्धान्त में यह मूलदोष है कि यहाँ निरपेक्ष रूप से बौद्धिक सुख की गुणात्मक श्रेष्ठता को नहीं स्वीकार किया गया, उसे अपने आप में शुभ मानकर, सुखी जीवन के लिए आवश्यक होने के कारण शुभ माना गया।

अर्वाचीन सुखवाद के विभिन्न रूपों में सर्वप्रथम स्वार्थ सुखवाद को लें तो, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह परिमाणात्मक दृष्टि से अति सीमित सुख को महत्त्व देते हुए, व्यापक अर्थात सामाजिक सुख की अवहेलना करता है। भारतीय परंपरा इस प्रकार के सुख को अधिभौतिक सुख कहती है। भारत में इसके समर्थक चार्वाकों की कुख्याति सर्वविदित है। इस प्रसंग में महाभारत में वर्णित कणिक नीति व रामायण के अयोध्याकांड के अन्त में दिया गया जाबालि का कुटिल उपदेश भी अविस्मरणीय है। गीता में ऐसे स्वार्थान्ध की भर्त्सना सोलहवें अध्याय के ७ वे श्लोक से लेकर १६ वे श्लोक तक मिलती है। वेदान्त कृत सुख-भेद में भी अधिभौतिक को पृथक माना गया है। स्वार्थ-सुखवाद एवं स्थूल सुखवाद समर्थित सुख ही पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों जगतों में सदैव ही सर्वाधिक निंदा का केंद्र रहा है। इसे गर्हित, निकृष्ट व अवांछनीय घोषित किया गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। यह स्मरणीय है कि स्थूल सुखवाद के गुणात्मक भेद व स्वार्थ सुखवाद परिमाणात्मक भेद का परिचायक है।

अर्वाचीन सुखवाद के दूसरे रूप परार्थवादी सुखवाद को सार्वभौमिक सुखवाद Universalistic Hedonism भी कहा जाता है। मुझे इस पर आपत्ति है क्योकि जैसा कि मैंने आगे लिखा मेरे मतानुसार दूसरे का सुख, समस्त मानवों का सुख व समस्त प्राणियों के सुख में भेद है। सार्वभौमिक सुख का प्रयोग अधिक-से अधिक दो संदर्भों में किया जा सकता है एक तो समस्त प्राणियों के संदर्भ में, दूसरे समस्त मानवों के संदर्भ में। अतः दूसरे के सुख के लिए इसका प्रयोग भ्रामक व अनुचित। "दूसरा" शब्द "समस्त" का वाचक कदापि नहीं है।

परार्थसुखवाद को उदात्त सुखवाद भी कहा जाता है। जो तर्कसहित यही सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि वह अंततः परार्थबुद्धि अर्थात् सामाजिक सुख को ध्येय मानता है। इन्होंने मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर सामूहिक अथवा नैतिक सुखवाद की स्थापना करने की चेष्टा कर सुखवाद को मानव-कल्याण से संबंधित करने का प्रयास किया। मानवतावादी अपने इस रूप के कारण ही यह गौरवान्वित हुआ। फिर भी सांसारिक सुख को ही जीवन-ध्येय मानने के कारण यह आलोचना का विषय बना। इसकी प्रमुख आलोचना तो यही है कि इसने सुख के आध्यात्मिक पक्ष को समझने का प्रयास नहीं किया। दूसरी आपत्ति यह कि यह वैयक्तिक व सामाजिक सुख में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाया। इस जिज्ञासा का समुचित समाधान वे नहीं कर पाये कि यदि मानव स्वभावतः स्वार्थी है तो जनहित कैसे संभव होगा? विभिन्न प्रकार के आदेशों का उल्लेख कर व्यक्ति और समाज के मध्य संबंध स्थापन का प्रयास उन्होंने किया वह भी सफल नहीं हुआ। परार्थसुखवादियों ने बताया कि चार प्रकार के आदेश—भौतिक (प्राकृतिक) राजनैतिक, नैतिक व धार्मिक—व्यक्ति के सामाजिक आचरण एवं परोपकार के आधार स्तंभ है। बेंथम ने नैतिक आदेशों को अनिवार्य माना, तो मिलने उन्हें "बाह्य आदेश" कहा और उनके स्थान पर "अंतरात्मा" के अथवा आंतरिक आदेश की चर्चा की। इन आदेशों को वैयक्तिक सुख के लिए लाभदायी मानकर ही व्यक्ति सामाजिक व परोपकारी कर्म करता है। इनकी यह मान्यता है कि व्यक्तिगत सुख सार्वजनिक सुख पर निर्भर है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः इनके अनुसार भी अंततः स्वार्थ ही ध्येय है। हॉब्स के सिद्धांत को इसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए। दूसरी ओर यदि इन्हें परार्थवादी ही माना जाये, तब भी तिलककृत यह आलोचना लागू होती है कि परमार्थ या परोपकार तो अनेक सद्गुणों में से केवल एक सद्गुण है। सद्गुणों के समूह का नाम "मनुष्यत्व" है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः उसे ही नैतिकता का आधार माना जाना चाहिए। कांट ने भी निरपेक्ष आदेश के तीसरे सूत्र—अपने आप में साध्य होने के सूत्र-द्वारा इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। जब हम मनुष्य का यथार्थ-स्वरूप जानने की चेष्टा करते हैं तो आत्मा का स्वरूप जानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि मनुष्य की गरिमा आत्मा के कारण ही है।

उपयोगितावाद या परार्थवादी सुखवाद के दो प्रसिद्ध चिंतकों बेंथम व मिल में भी मतैक्य नहीं है। बेंथम सुखों के गुणात्मक भेद को नकारता है जबकि मिल की धारणा है कि परिमाणात्मक दृष्टि से समान होते हुए भी सुख निम्न व उच्च कोटि के हो सकते हैं। उसकी यह प्रसिद्ध उक्ति उसकी मान्यता का दर्पण है कि तृप्त शूकर से अच्छा अतृप्त मानव होना है। नैतिक ध्येय सुख सर्वसामान्य का है, व्यक्ति-विशेष का नहीं। अपनी इस मान्यता के समर्थन में जो तर्क परार्थवादी देते है वह अत्यधिक त्रुटिपूर्ण है। उनका कहना हैं कि चूंकि प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख चाहता है इससे सिद्ध होता है कि अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख सर्वश्रेष्ठ है। इस सामान्य सुख को उन्होंने वस्तुगत व सार्वभौम माना है। इसी तरह सभी प्रकार के सुखवादियों ने अंततः "सांसारिक सुख" को ही कसौटी माना, यद्यपि उनमें इस प्रश्न को लेकर मतभेद रहा कि यह सुख व्यक्ति का हो अथवा समाज का। इनमें सबसे बड़ा दोष सुख के सम्यक् विवेचन का अभाव है। सच्चा सुख क्या है वह किसमें निहित है ये इन प्रश्नों का कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सके। सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद में भी सुख का प्रत्यय महत्वपूर्ण है। हैनरी सिजविक आदर्शों के मूल्य को सापेक्ष मानते हैं। वे स्पष्ट कहते है कि आदर्श इसलिए शुभ है कि वे भावजीवी प्राणी (Sentient-Being) सुख का किसी-न-किसी रूप में उत्पादन करते हैं। इस तरह ज्ञान, सद्-गुण, स्वतंत्रता आदि सभी-सुख-प्राप्ति के लिए साधन मात्र है। स्वार्थ व परमार्थ, सहजज्ञानवाद व उपयोगितावाद में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करते हुए उन्होंने कहा कि जीवन का ध्येय तो "सुख" ही है किंतु उसे व्यष्टि व समष्टि दोनों की समान रूप से वृद्धि की आवश्यकता है। इतना होने पर भी सिजविक परमार्थ अर्थात् कर्तव्य की बौद्धिक धारणा व स्वार्थ (मानव के वास्तविक शुभ) में सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ रहे।

विकासवादी सुखवाद को यद्यपि मानना भ्रांतिपूर्ण है, तथापि सुख की पर्याप्त चर्चा इसमें है। इसका प्रवर्तक स्पेंसर सुखवादियों की तरह ही यह स्वीकार करता है कि नैतिक ध्येय सुख है पर जीवशास्त्री होने के कारण वह शारीरिक स्वास्थ्य व जातीय-जीवन को शारीरिक ध्येय मानता है व इन दो विरोधी प्रत्ययों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामंजस्य स्थापित करने के लिए सन्निकट ध्येय की धारणा को अपनाता है। सुखवादियों के ही समान वह शुभ कर्म को सुखप्रद परिणाम से जोड़ता है। उसने सुख को जीवन-वृद्धि व दुःख को ह्रास का सूचक माना। सुख को वह व्यक्ति और वातावरण में सामंजस्य का सूचक मानने के कारण शुभ कहता है। जीवन-संरक्षण के अनिवार्य नियमों को ही उसने नैतिक व सुखप्रद कहा है। वह विकास की चरमावस्था के रूप में एक ऐसी स्थिति की कल्पना करता है, जब दुःखरहित सुख होगा।

बुद्धिपरतावाद सुखवाद के कटु आलोचक के रूप में सामने आता है। सुखवाद का तिरस्कार वह इस कारण अधिक करता है कि सुखवाद नैतिकता को एन्द्रियात्मक प्रेरकों पर आधृत करता है यद्यपि अनुभव द्वारा समृद्धि व सत्कर्म में कोई घनिष्ट संबंध सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर भी कांट ने सच्चरित्रता व सुख में संबंध स्थापित करने का प्रयास "ईश्वर की सत्ता" के बौद्धिक प्रत्यय को स्वीकार कर किया। यह इस बात का प्रमाण है कि सुख के प्रत्यय से कोई भी दार्शनिक बच नही सकता, यद्यपि सबने सुख का पृथक-पृथक अर्थ लिया। जैसे कांट ने सुख का अर्थ आंतरिक संन्तोष लिया।

जैसा कि मैंने आगे कहा आनंद, सुख, Pleasure, Happiness इत्यादि शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में होता रहा है। मैं भारतीय मनीषियों व अरस्तु जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों के इस मत से सहमत हूँ कि सुख और आनंद एक नही है। सुख वह अनुभूति या भावना है जो इच्छाओं, मूल प्रवृत्तियों व आवेगों की संतुष्टि व तात्कालिक साध्यों की प्राप्ति का परिणाम है। सुख का संबंध विशिष्ट कर्म से रहता है एवं यह क्षणिक व सापेक्ष होता है।

आनंद वह अनुभूति या भाव है जो क्षणिक इंद्रिय-सुखों की पूर्ति के अतिरिक्त उनको संतुष्ट करने की अस्वीकृति यहाँ तक कि असफलता के होते हुए भी साधारणतः आत्मा की समग्रता की पूर्ति करता है। यह तो हमें मानना होगा कि प्रत्येक सत्तावान् का अपना मूल भाव या स्वभाव होता है। मानव का मूल स्वभाव इंद्रियाँ, बुद्धि या मन नहीं "आत्मन्" है। यह आत्मन् विषयों को ग्राहक समस्त इंद्रियों से संकल्प-विकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक व द्वन्द्वात्मक बुद्धि से तथा प्राणों से भिन्न है। आनंद इसी आत्मा के बोधि-प्राप्ति की स्थिति है और यही कारण है कि आत्म-ज्ञान और आत्मानंद में भेद करना असंभव है। आनंद अपने आप में कल्याण का सूचक है। आनंद के लिए सुख की अवहेलना की जा सकती है यही कारण है कि आनंद को "हित" कहा जाता है व "हितम्" और "सुखम्" में भेद किया जाता रहा है। चूंकि आनंद समग्र सक्रिय आत्मा का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कल्याणे है अतः निरपेक्ष, नित्य व सार्वभौम है। इसमें भावनात्मक व बौद्धिक दोनों सुख अंतर्निहित होते हैं।

आधिभौतिक सुख से इसका भेद दर्शाने के लिए ही इसे तात्विक, आध्यात्मिक श्रेय, कल्याण, हित, शांति आदि नाम से संबोधित किया जाता है जब कि सुख को केवल सुख या प्रेय कहते हैं। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि अधिभौतिक सुख ही एक भाग सुख व समस्त प्रकार के सूखों का भंडार नहीं है। यदि इसी सुख को मानपदंड माना जाये तो पशु व मानव में कोई भेद नहीं रह जायेगा। पर पशु की अपेक्षा मनुष्य कुछ अधिक है। उसकी इस विशिष्टता को समझने के लिए आत्मा के स्वरूप पर चिंतन करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि मानव मूलतः आत्मन् ही है। यह आत्मन् न तो इंद्रियों से निर्मित है, न भावना है और न ही बुद्धि अतः सुखवादियों द्वारा उसे ऐंद्रियिक मानना, भावजीवी मानना व कांट इत्यादि द्वारा उसे बौद्धिक मानना मानव-स्वरूप का अयथार्थ चित्रण है। यहीं इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत पर हमारा ध्यान जाता है कि अन्ततः समस्त नीतिशास्त्रीय सिद्धांत मानव स्वरूप के विश्लेषण पर ही अश्रित है व उचित विश्लेषण के अभाव में ही वे दोषग्रस्त हो गये हैं। मानव न केवल शरीर, न मन और न केवल बुद्धि है अपितु आत्मन् भी है यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक संगत है कि मानव वस्तुतः आत्मन् ही हैं। अतः आत्मा का कल्याण किसमें है यह जानने कि लिए उसके स्वरूप को जानना परमावश्यक है। जानने पर यह स्पष्ट होता है कि मन बुद्धि भी उसके पास है अतः इनको उदात्त व्यापार तथा शुद्धावस्था में जो सुख है वही श्रेष्ठ है। प्लेटो भी मानता हैं कि शारीरिक अर्थात् बाह्य या अधिभौतिक सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ और मन के सुख से भी श्रेष्ठ बुद्धिग्राह्य अर्थात् परम आध्यात्मिक सुख। पर यहाँ इन्होंने बौद्धिक व आध्यात्मिक को एक मान लिया जब कि तिलक ने, मन और बुद्धि के भी परे जाकर नित्य कल्याण को ही कर्मयोग शास्त्र का प्रधान माना। आत्मानंद निरपेक्ष इस अर्थ में है कि वह बाह्य--उपाधियों पर कभी भी निर्भर नहीं होता जब कि अन्य सभी सुख विषयों की अपेक्षा रखते हैं। आत्मानंद आत्मवश है अतः यह सभी प्रकार के सुखों से नित्य, स्वतंत्र व श्रेष्ठ है। गीता के छठवें अध्याय के २४ वें श्लोक में मन के द्वारा इंद्रियों को वश में करने का ,२५ वें श्लोक में बुद्धि द्वारा मन को नियंत्रित करने का उपदेश है। जब कि बारहवें अध्याय के ३ रे व ४ थे, श्लोक में स्पष्ट रूप से इंद्रियों, मन व बुद्धि से परे स्थित सर्वव्यापी नित्य आत्मा को जानना हितकर आनंदमयी बताया गया है।

यह ठीक है कि स्वार्थ सुखवादियों के व्यक्तिगत सुख से, उपयोगिता-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वादियों का अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख तथा इससे गीता का सर्वभूतहित का सिद्धांत अधिक अच्छा है किंतु नीतिमत्ता के संदर्भ में लोकसंख्या की न्यूनाधिकता को मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। ऐसी स्थिति में कांट द्वारा उद्घोषित बौद्धिक सार्वभौमिकता भी आधार नहीं हो सकती। इसे आत्म-स्वरूप के साथ संबद्ध करना परमावश्यक है। अन्यथा नैतिकता संबंधी अनेक प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। यही कारण है कि भारतीय नीतिशास्त्र लोकसंख्या को गौण कसौटी मानकर आत्मप्रसादरूपी आत्यन्तिक सुख तथा उसी के साथ रहनेवाली कर्ता के शुद्ध बुद्धि को ही आध्यात्मिक कसौटी मानता है। मोक्ष परम आदर्श है, व इसके साथ सह-अस्तित्ववान् सुख ही श्रेयस्कर है।

अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्तिगत दृष्टि से नीतिमत्ता की अंतिम कसौटी आत्मा व उससे ही संबंधित होना चाहिए तथा इसके आधार पर ही, परिमाणात्मकदृष्टि से समस्त आत्माओं का कल्याण अथवा सर्वभूतहित या विश्व-कल्याण हमारा जीवन-ध्येय होना चाहिए।

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
जबलपूर विश्वविद्यालय
जबलपूर (म. प्र.)

छाया राय

संदर्भ

१. सर्व भूतों में एक ही आत्मा को जानकर, आत्मा के उसी सच्चे स्वरूप में रत रहने वाली बुद्धि। – गीता १८।३७

२. वही १८।३८

३. गीता १८–३९

० ० ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धार्मिक विश्वासों की बुनावट

धर्म का विषय क्या है ? इस दुनिया में अनेक धर्म हैं और अपने अपने विशिष्ट धर्म को माननेवाले लोग भी हैं। अपने धर्म का गंभीरतापूर्वक पालन करनेवाले बहुत लोग ऐसा सोचते हैं कि धर्म उन को सत्य के बारे में ज्ञान एवं जानकारी दोनों देता है। और सचमुच ही धर्म में वर्णित बातों का आकार या तो " ...अस्तित्व में है" ऐसा रहता है या "......अस्तित्व में रहेगा" ऐसा रहता है। धर्मनिष्ठ लोगों के लिए जो अस्तित्व में होता है या जो अस्तित्व में रहेगा वह अर्थात् ही सामान्य मनुष्य को या किसी तार्किक या शास्त्रज्ञ को जैसा प्रत्यक्ष में दिखाई देता है उससे भिन्न होगा। धार्मिक व्यक्ति जिसे अस्तित्व में रहने योग्य समझता है वह असल में उसकी कामना होती है कि ऐसा अस्तित्व में होना चाहिए, और जिसे वह अस्तित्व में है ऐसा मानता है वह या तो कामनापूर्ति होती है या आशा। इस तरह की कामनापूर्ति या आशा जब दृढ हो जाती है तब वह इंद्रियातीत या आध्यात्मिक वस्तु के नाम से प्रसिद्ध होती है। मैं इसको यहाँ आध्यात्मिक या स्पिरिच्युअल कहकर संबोधित नहीं करना चाहता हूँ, क्योंकि आगे चलकर उचित संदर्भ में हमें स्पिरिच्युअल शब्द को समझना होगा। लेकिन जब कोई धार्मिक व्यक्ति किसी चीज को अस्तित्व में है ऐसे समझता है तब वह उसको विश्व के अंतर्गत वस्तु के रूप में प्रस्तुत करता है और तार्किक प्रकथन की तरह धार्मिक प्रकथन में भी इस संदर्भ में होना क्रिया के रूप का या तो प्रच्छन्न रूप में या प्रकट रूप में वर्तमान काल में प्रयोग होगा। बहरहाल, इस तरह जो विश्वरचनाशास्त्र प्रस्तुत किया जाता है वह केवल मिथकरूप होता है और उसका किसी भी तरह वैज्ञानिक परीक्षण संभव नहीं होता। इसलिए यद्यपि ऐसे विधान प्रकथनों के रूप में प्रस्तुत किये हों फिर भी धार्मिक प्रकथनों को तार्किक प्रकथनों जैसा समझना ठीक या उचित नहीं दिखाई देता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्या ये धार्मिक प्रकथन वैध हो सकते हैं ? वैध शब्द भी संदिग्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब हम कहते हैं कि प्रकथन वैध है तब हम ऐसा मानकर चलते हैं कि प्रकथन का विषय ऐसा है कि जो अस्तित्व में होता है, मतलब प्रकथन किसी विषय के बारे में है और प्रकथन की वस्तुनिष्ठता विषय के अस्तित्व पर निर्भर करती है।* अगर विषय ही अस्तित्व में नहीं रहता तो विधान सत्य न होगा और प्रकथन असत्य होगा। क्या धार्मिक विधान के उपलक्ष्य में वैधता का कोई मानदंड प्रस्थापित किया जा सकता है ? कम-से-कम कुछ बातों के लिए तो धार्मिक प्रकथनों का विषय लोगों के लिए प्रतीयमान नहीं होगा। फर्ज कीजिए कि दुनिया भर के सभी लोग धार्मिक प्रकथनों के बारे में सहमत हो जाएँ तो इसका मतलब क्या होगा ? इसका मतलब ये दो बातें हो सकता है :— (१) विधान के एक ही अर्थ से वे सहमत हैं, और (२) अर्थ समझने के पश्चात् वे उनको स्वीकृत करते हैं। लेकिन अर्थ से सहमत होना और अर्थ को स्वीकार करना यह विधान को सत्य नहीं साबित करता। वह सिर्फ विधान को सार्वजनिक मान्यता दिलाएगा। जब हम कहते हैं कि कोई विशिष्ट विधान सत्य है तो निश्चय ही उसमें सार्वत्रिकता निहित होती है। यह सार्वत्रिकता स्वीकार्यता पर निर्भर नहीं करती चाहे वह विषय के अस्तित्व की अनुगामी क्यों न हो। धार्मिक सार्वत्रिकता के संदर्भ में स्वीकार्यता होती है, बल्कि विषय के अस्तित्व से उसका कोई संबंध नहीं रहता। फिर, धार्मिक विधान भले ही प्रकथन जैसे दिखाई दें, हमें कोई जानकारी नहीं देते। वे ज्ञान की तरह प्रतीत होते हैं लेकिन ज्ञान नहीं होते। ज्ञान की आदिम अवस्था में वस्तु का अस्तित्व अवश्यंभावी होता है। वस्तु तथा विषय में किया भेद केवल गोणता से किया जाता है, और विषय जो कि विषयी का निर्माण है वह वस्तुनिष्ठता पर आरोपित कर उसे प्रक्षेपित किया जा सकता है। अस्तित्व का कोई केन्द्र होने के बिना भी विषय सार्वत्रिकरुप से स्वीकृत या संप्रेषित किया जा सकता है। विषय के बारे में होनेवाले विधानों के कुछ सदृश ही धार्मिक विधान होते हैं, लेकिन विषय अस्तित्व में हो या न हो इस त्रुटि का उनपर असर नहीं पडता है। धार्मिक विधान निश्चय ही विषय के बारे में होता है। लेकिन ज्ञान के परिवेश में होनेवाला विषय धार्मिक विधान में होनेवाले विषय से भिन्न प्रकार का भासमान होता है। कोई कह सकता है कि ज्ञानप्रक्रिया में होनेवाला विषय यह व्यक्तिनिष्ठता का सार्वत्रिक रूप है। लेकिन अब हमें व्यक्ति-निष्ठता के सार्वत्रीकरण की कठिनाई से मुकाबला करना पड़ेगा। विषय के अस्तित्व के न होते हुए भी जब व्यक्तिनिष्ठता रहती है अर्थात् ही उसका स्वरूप संज्ञान-सा रहता है। लेकिन वह किसी वस्तु का कल्पित संज्ञान है चाहे उसे अपनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कल्पना का संज्ञान हो न हो। यह कल्पना शायद किसी पूर्वी ज्ञान या जानकारी के कारण हो या किसी विछिन्न जानकारी पर कोई संरचना हो। लेकिन संज्ञान इस तरह की कल्पना का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग दिखाई देता है। लेकिन यह मात्र संज्ञान और कल्पना नहीं है। मुझे सिर्फ संज्ञान नहीं होता है, बल्कि निश्चय भी होता है, यद्यपि मेरे निश्चय की वैधता तथा वस्तुनिष्ठता नहीं होती। इस बात को विश्वास (आस्था या धारणा belief) कहा जाता है। कुछ विश्वास ऐसे होते हैं कि जिसकी निश्चितता पर कभी शक नहीं किया जाता। कुछ ऐसे विश्वास होते हैं कि वे किसी दूसरी धारणाओं के समूह के बदले में छोड़ दिये जाते हैं। लेकिन जिसका हम विश्वास या कल्पना करने लगते हैं उनको विश्वास कहते ही आभासी या मिथ्या वस्तुनिष्ठता में रूपांतरण हो जाता है, मतलब क्रिया या कर्म तव्यार्थिक या वस्तु में बदल जाते हैं। बहरहाल, विश्वास ज्ञान की तरह किसी प्रकार का प्रतिवर्त नहीं होता है। विश्वास यह संज्ञातता का एक फल भी होता है।

जब हम धर्म के बारे में बोलते हैं हम मूलतः इस तरह के विश्वासों की प्रणाली के बारे में बोलते हैं। अर्थात् ही हम आशा, पाप तथा प्रार्थना जैसी अन्य अन्य बातों के संबंध में भी अवश्य बोलते हैं। धर्म की मूलसंरचना विश्वास के प्रासाद पर खड़ी की जाती है। अतः यद्यपि धर्म का विचार करते हुए भी कोई ईश्वर, नैतिकता, प्रार्थना तथा पुजा का विचार कर पाता है। चूंकि धर्म मूलतः विश्वास से जुडा हुआ है, आगे चलकर हमने विश्वासों के तर्क-विज्ञान को समझने का एक यत्न किया है। क्या शुद्ध विश्वास की मीमांसा संभव है इस प्रश्न को उपस्थित करते हुए मैं यह यत्न करूंगा। उसके बाद, शुद्ध विश्वास से भिन्न अन्य कौन से अंशों का धर्म के उगम तथा विकास में उपयोग किया जाता है इस का परीक्षण करूंगा।

विज्ञान या तर्कशास्त्र में या वस्तुतः सारी तर्कसंगत ज्ञानशाखाओं में जिस पद्धतिशास्त्र का उपयोग किया जाता है वह तार्किक होता है, मतलब, हमारे पास कुछ आधारिकाएं होती हैं और आपादन (या लक्षितता) से हम निष्कर्ष तक पहुंचते हैं। ये आधारिकाएं या तो मूलाधार होते हैं या और अभिगृहीत या किसी विशिष्ट नियमों की सहायता से मूलाधारों से निष्पन्न प्रमेय होते हैं। मूलाधार और नियम माने जाते हैं या निर्विवाद्य प्रकथनों के रूप में या निर्विवाद्य सत्य के रूप में स्वीकृत किये जाते हैं। फिर भी, निर्विवाद्य प्रकथन या सत्य विश्वासों के बिना और कुछ नहीं होते हैं।

अगर हम प्रणाली तैयार करने की सोचते हैं (अगर कोई प्रणाली हो सके)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो इन विश्वासों का स्वरूप क्या होगा ? हमेशा ही तर्कसंगत प्रणाली में प्रकथन कोई अजीबसा होता है। कुछ तो प्रकथन ऐसे हैं कि जो अनुभव के आधार पर होते हैं। इस तरह के अन्वेषण का केवल आकारिक भाग ही प्रागनुभविक होता है। लेकिन प्रकथन हमेशा ही उस चीज के बारे में होगा जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तथ्य से संबंध होगा और उसका ज्ञान अनुभवजन्यता से होगा। जिन विश्वासों का मैं यहाँ विचार करने जा रहा हूँ उनसे तार्किक विश्वासों का स्वरूप भिन्न है। कम-से-कम मूलता से ही शुद्ध विश्वास अनुभव से ज्ञात होने वाले तथ्यों को कोई स्थान नहीं दिला देते। जब विश्वास के तौर पर किसी चीज की धारणा हो जाती है तब वह किसी तथ्य के आधार पर नहीं होती है। वह किसी तथ्य का तथा उसकी निवृत्ति या भाव्य का प्रवेश न होने दे। ऐसे विश्वास स्वाभाविक रूप में ही विशेषों के बारे में होते हैं और विशेष जिन आकारों को धारण करते हैं उनके बारे में नहीं होते हैं। इस का अर्थ है कि जब हमारा कोई विश्वास होता है वह, तथ्य के आशय तथा आकार इन में कोई भेद किये बिना माना गया ठोस विश्वास होता है। चूँकि ऐसे विश्वासों का अनुभव से कोई संबंध नहीं होता, वे प्रागनुभविक होते हैं। अर्थात् इस का मतलब ऐसा नहीं होता कि इस संदर्भ में स्मृति के रूप में कार्यरत ऐसी आनुभविक पृष्ठभूमि ही न हो। लेकिन जब ऐसे विश्वास होते हैं कोई ऐसा नहीं कह पाए कि कुछ पूर्वी प्रकथनों से उसने उन्हें निष्पन्न किया है (या पाया है) ऐसे विश्वास, जैसे कि पहले कहा है, प्रागनुभविक होंगे और साथ ही विश्लेषक नहीं होंगे; वे प्रागनुभविक होंगे और अगर कांट के शब्दों में कहा जाए तो प्रागनुभविक संश्लेषणात्मक नहीं होने चाहिए। ऐसे विश्वास तर्कतः समर्थनीय हैं या नहीं इस बात की हमें यहाँ चिंता न हो। इस बात का महत्त्व है कि क्या ये विश्वास सार्वत्रिकता से धारण किये जाते हैं या नहीं, याने, स्वीकृत किये जाते हैं या नहीं। स्वीकृति, सार्वत्रिक स्वीकृति और इन विश्वासों से अभिव्यक्त विषयों का न सत्य तथा न अस्तित्व उनकी वैधता की कसौटी होगी। यह संभव है कि ऐसे विश्वास या विश्वासों से कोई तर्कतः कुछ प्रकथन निष्पन्न कर सके और धर्म के ज्ञानशास्त्र में वस्तुतः ऐसे निष्कर्ष निकाले जाते हैं। लेकिन एक बार ऐसा माना जाए कि वस्तुस्थिति के बारे में हमें प्रागनुभविक विश्वास हो सकता है, तो उससे यह भी निष्पन्न होता है कि प्रथमस्तरीय विश्वासों से तर्कतः निष्पन्न किये बिना ही हम इस तरह के अनेकों विश्वास कर सकते हैं। ऐसे विश्वासों के लिए न किसी सबूत (प्रमाण) की जरूरत है, न विगमन की। किसी भी तरह का अंतर्संबंध न होते हुए भी ऐसे सारे विश्वास समानता से प्रागनुभविक हो सकते हैं। अगर कोई अंतर्संबंध हो भी तो वह मात्र मनोवैज्ञानिक होगा; उसका अर्थ है, विश्वास का संसूचन तथा स्वीकृति इन विश्वा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सों के स्वीकृत होने की पर्याप्त शर्त होनी चाहिए। अतएव, जिससे हमें कोई अधिमान (पसंद) या अनुक्रम मिले इस तरह की इन विश्वासों की कोई प्रणाली नहीं हो सकती है; हम इन विश्वासों की मात्र सूची बना सकते हैं। मिसलन्, अगर हम विश्वास करते हैं कि ईश्वर है तो ईश्वर है, हम ऐसा भी विश्वास कर पाते हैं कि दानव है, तो हम विश्वास कर पाते हैं कि देव हैं और दानव भी हैं। प्रायः ऐसे विश्वास हम खुद विचारों से तादात्म्य प्रस्थापित करने पर आधारित होते हैं और इस अंतराल में कोई ऐसा नहीं कह सकता कि दो व्याघाती विश्वास एक दूसरे का लोप कर देते हैं। दो व्याघाती विश्वास दो भिन्न स्तरों पर होंगे और व्याघात का लोप हो जाएगा (तादात्म्य नियम रहेगा व्याघात नियम नहीं रहेगा) अगर हम ऐसे विश्वासों को एक सूची के तौर पर समझें तो क्या विप्लव मचेगा?

किसी भी ज्ञान-प्रक्रिया में एक ज्ञाता होता है और जिसे ज्ञाता जानता है ऐसा ज्ञेय होता है, चाहे वह ज्ञेय स्वतंत्रा से अस्तित्व में रहे। फिर भी, जब हम ज्ञान की बात करते हैं तब ज्ञेय वस्तु ज्ञान से समवेत (inseparable) रहता है; याने ही कोई किस वस्तु को जानता है ऐसा कहे बिना आगे कुछ कह नहीं पाता है और कोई उसे जानता है तब वह ठीक ही उसी तरह जानता है जैसे कि बहुतेरे अन्य लोग भी उसे जानते हैं। जब कोई विश्वास करता है तब अर्थात् ही वहाँ विश्वास का विषय रहता है और जैसे कोई किस विशिष्ट बात में विश्वास करता है उसी तरह अन्य भी वही विश्वास कर सकते हैं, इतना ही नहीं, एक दूसरे से इन विश्वासों का संप्रेषण करता है, याने विश्वास के विषय में सार्वत्रिक होने की क्षमता होती है। फिर भी, जिसे हम ज्ञान कहते हैं और जिसे हम विश्वास कहते हैं उस में कुछ भेद दिखाई पड़ता है। विश्वास के विषय को किसी वस्तुपरक अस्तित्व की जरूरत नहीं है, चाहे विश्वास का विषय सार्वत्रिक संप्रेषण में समर्थ हो, याने ही, मेरे विश्वास का दूसरों से संप्रेषण हो सकता है। फिर भी, दूसरे लोग ईमानदारी से इस विश्वास को स्वीकारने से इन्कार कर सकते हैं। ज्ञान के परिवेश में ज्ञान केवल संप्रेषित ही नहीं किया जाता बल्कि दूसरे भी स्वतंत्रता से वही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और यदि कोई ज्ञान को स्वीकारने से इन्कार कर देता है तो वह जान बूझकर ही उसे इन्कार कर देता है; इस का मतलब है कि वह बेईमान है। किसी भी विश्वास-प्रक्रिया में बेईमानी का अंश पूर्णरूप से अनुपस्थित रहता है। अतः, जो आदमी किसी विश्वास का स्वीकार करता है वह उतना ही ईमानदार होता है जितना कि वह आदमी जो विश्वास को स्वीकारने से इन्कार कर देता है। इसलिए, एक अर्थ में विश्वास का विषय तथा विश्वास करना ये समवेत नहीं होते हैं। अर्थात् ही यह बात एक ही अर्थ में सच है, क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दूसरे अर्थ में विश्वास करना यह विश्वास के विषय का आश्रय होता है और यह ज्ञान विषय से बिल्कुल विरुद्ध (असमान) है जो ज्ञान से स्वतंत्रतया अस्तित्व में रह सकता है। लेकिन, जब कि ज्ञानविषय अपनी वस्तुपरकता एवं सार्वत्रिकता विषय से ही व्युत्पन्न करता है, विश्वास का विषय अपनी सार्वत्रिकता स्वीकृति से व्युत्पन्न करता है और स्वीकृति हमेशा ही सर्पी अनुमाप (विसर्पी परिमाण--Sliding-scale) से निश्चित होती है। वह स्वीकृति या तो एक व्यक्ति की हो सकती है या सभी व्यक्तियों की हो सकती है। अतः विश्वास यह करने से / किए जाने से निश्चित होता है चाहे पूर्ववर्ति अनुभव तथा पूर्ववर्ति अनुभव के विषय इस विश्वास करने (की प्रक्रिया) को निश्चित करते हों। विश्वास करना अपने में केवल व्यक्तिनिष्ठ ही है। अतः यह सैद्धांतिक तौर पर संभव है कि जितने व्यक्ति हों उतनी विश्वास-प्रणालियाँ हों। विश्वास में सहभाग हो सकता है लेकिन उसकी जरुरत नहीं है। ज्ञान का तो सहभाग होना ही है और उसकी प्रकृति ही उसका सहभाग होती है, न कि किसी उपकार या प्रणति से। अतः विश्वास करना यह ज्ञान होने जैसा नहीं बल्कि कुछ भाव या प्रत्यय (Feeling) जैसा है। लेकिन वह संवेदन जैसा भी नहीं हैं, जिस के लिए कभी-कभी हम भाव या प्रत्यय शब्द का प्रयोग करते हैं। विश्वास की सार्वत्रिकता परिवर्ती होती है। वह अधिपत्यकारी व्यक्तिनिष्ठता से उत्पन्न होती है। लेकिन जब व्यक्तिनिष्ठता प्रभुता जमा लेती है और दूसरों को विश्वास स्वीकार करने पर वाध्य करती हैं तब उस ज्ञान से उसकी भूल की जाती है। शुद्ध भाव के लिए किसी भाव-विषय की जरूरत नहीं होती है, लेकिन शुद्धभाव अपने तौर पर पूर्ववर्ति सारे अनुभव को स्वीकार करता है, उसे मैं आलोचनात्मक या आलोचनाविहीन नहीं कहूँगा, क्योंकि वह अवश्य ही किसी अनुभव को स्वीकार करता है तथा किसी और अनुभव को अस्वीकार कर देता हैं। मतलव, शुद्ध विश्वास शुद्ध विश्वास नहीं रहता चाहे शुद्ध विश्वास को व्यक्तिचिष्ठ मान लिया जाए। शुद्ध विश्वास जैसा कोई होता नहीं है। यद्यपि विश्वास (करना) यह ज्ञान (होने) जैसा नहीं है, विश्वास (करने) का बर्ताव ज्ञान (होने) जैसा होता है, विश्वास कभी भी शुद्ध नहीं रहता। लेकिन जिस तरह अधिकाधिक विस्तृत आकार धारण करने की ज्ञान की प्रवृत्ति रहती है, विश्वास-प्रणाली हमेशा अपने तक सीमित रहती है। इतना ही नहीं, कभी-कभी कोई विशिष्ट विश्वास किसी दूसरे प्रकथन से सम्मीलित हो जाता है और हमें संमिश्र विश्वासनुमा ज्ञान प्रणाली हासिल होती है। उदाहरणार्थ, हमारे समाजमें कतिपय सांस्कृतिक पप्रवंध इस तरह का विश्वास तथा ज्ञान का संमिश्रण होते हैं। उदाहरण के लिए यही विश्वास देखें कि ग्रहण में कोई विशिष्ट दैत्य चांद या सूरज को निगल जाता है। यहाँ निगलना यह तथ्य है (यद्यपि निगलना इस शब्द

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का प्रयोग आलंकारिक हैं)। निगलने के लिए किसी निगलनेवाले की जरूरत होती है। दैत्य निगलता है यह विश्वास है। दैत्य भी शुद्ध विश्वास नहीं है, वह मनुष्य के आकार के माफिक निर्माण किया हुआ है। ये सारे साथ ही दृग्गोचर किये जाते हैं और वैज्ञानिक संगति के नमूने के बल पर बनावटी संगति हासिल की जाती है या बनावटी संगति तक पहुँच जाते हैं। यह संभव होता है क्योंकि वैज्ञानिक अन्वेक्षण में भी आपको एक विश्वास की जरूरत होती है और अंतःप्रेरणा से निश्चित ज्ञान एवं विश्वास में भेद करना कठिन हो जाता है। जिसे हम एक मानते हैं वह आसानी से दूसरा भी हो सकता है। मानना या तादात्म्य प्रस्थापित करना यह भी एक तरह का विश्वास हो सकता है अतएव, जब कोई विश्वास-प्रणाली की बात करता है, वह शुद्ध विश्वास प्रणाली की बात नहीं कर सकता। शुद्ध विश्वास केवल आण्विक हैं। एक विश्वास का दूसरे विश्वास से संबंध होना जरूरी नहीं है। अगर तर्कशास्त्र अपनी टाँग बीच में न अडाए तो अनेक विरोधी विश्वास एक साथ माने जा सकते हैं और शुद्ध विश्वास ही असंभव हो सकता है क्योंकि, यद्यपि विश्वास व्यक्तिनिष्ठ है, अनुभव की मदद के बिना विश्वास करना निरर्थ हो जाएगा। इस तरह हमारे विश्वास कभी भी शुद्ध विश्वास नहीं होते। आनुभविक ज्ञान (पूर्व ग्रहादि) से विश्वास सम्मीलित रहता है। अगर केवल विश्वास ही तो वह निद्राभ्रमण जैसा होगा। हरेक विश्वास दूसरे से टूटा हुआ होगा और ऐसे सारे विश्वास सर्वसाधारण चेतना-प्रवाह से टूटे हुए होंगे। लेकिन विश्वास निरंकुश शासन करते हैं, क्योंकि कैसे भी हो उनको ज्ञान मानकर बर्ताव किया जाता है और हम तर्कशास्त्र के नियमों के मुताबिक उनसे पेश आते हैं।

धार्मिक विश्वास शुद्ध-विश्वास नहीं होते, वह ज्ञान, अनुभव, विश्वास एवं तर्कशास्त्र का सम्मिश्रण होता है। उनमें से हरेक अपनी वैध व्याप्ति के परे खींचा जाता है। यह संभव हो पाता है क्योंकि हर विश्वास प्रकथन का आकार लेता है और विश्वास के साथ जानेवाली सुस्पष्टता के कारण यह भी परिणामतः संभव होता है। अर्थात् धार्मिक-प्रणाली में मात्र विश्वास ही नहीं बल्कि आशा, प्रार्थना आदि को भी स्थान होता है।

विश्वास यह शब्द एक ही साथ दो विरूद्ध बातों को सूचित करता है। जब कोई विश्वास करता है तो उसकी वहाँ उस वस्तु के सत्य की कोई दृढ धारणा होती है। वह उस वस्तु को निश्चय और विश्वासकर्त्ता को आश्वासन दिला देती है, अर्थात् ही वह अपने तक ही सीमित रहता है। साथ ही हमने देखा है कि जब मैं किसी चीज या बात में विश्वास करता हूँ तब इस बात के निश्चय की कोई जरूरत नहीं होती कि मेरा विश्वास सच है। लेकिन, अब मेरी दृढ धारणा के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्त्रोत के बारे में सवाल उठता है। क्या कोई मेरी दृढ़ धारणा के बारे में कोई सबूत प्रस्तुत कर सकता है ? किस तरह का सबूत प्रस्तुत किया जा सकता है ? अगर सबूत का मतलब है किसी हालत के माफिक विश्वास होना, तो वह कैसे संभव है ? फिर भी हम प्रबल तथा शबल विश्वासों की बातें करते रहते हैं। मान लीजिए, मेरा विश्वास है कि क्ष है और वस्तुतः क्ष है भी, क्या यह मेरे विश्वास को प्रबल कर सकता है ? अर्थात्, अगर मेरे विश्वास से ठीक मिलती जुलती हालत हो तो निश्चय ही मेरे विश्वास का ज्ञान में रूपांतरण होगा। लेकिन उस आधार पर मेरा विश्वास प्रबलतर कैसे हो सकता है ? अतः जब कोई प्रबल या शबल विश्वास की बात करता है, तो मेरी दृढधारणा का सामर्थ्य इतना ही उसका मतलब होना चाहिए और इसके बिना उसका और कोई अर्थ नहीं होना चाहिए, अर्थात ही अगर विश्वास शब्द का अपभ्रष्ट उपयोग न किया हो, याने एक अर्थ में उसका मतलब ज्ञान होता है जिसका परीक्षण संभव है। लेकिन उसका मतलब होगा कि मैं किसी अवस्था को अंतःप्रेरणा से सोचता हूँ और वस्तुगत्या वह अवस्था मेरे विचार से मिलती-जुलती होती है। प्रबल या शबल विचार की बात होगी लेकिन प्रबल या शबल विश्वास की बात नहीं होगी। अर्थात् ही धर्म जैसी वस्तुस्थिति जो सम्मिश्र है वह मात्र विश्वास से अनुशासित नहीं होती-वह मात्र विश्वासतंत्र नहीं होती बल्कि साथ ही किसी तर्क से भी अनुशासित होती है। दृढ धारणा एवं विश्वास इन के मूलस्रोत क्या हैं। वस्तुतः किसी भी दृढ धारणा का मूलस्त्रोत बुद्धि (या तर्क) में ही होना चाहिए कि जो उसे निश्चितता प्रदान करती है। लेकिन अधिक ज्ञान प्राप्त होने के बाद भी जब पूर्वी निश्चितता लुप्त नहीं होती है, वह एक तरह का हठमत (या हठधर्म) बन जाता है। अगर इस हठमत को किसी भावना के साथ भी जोडा जाता है और अगर इस हठमत को अस्वीकृति के असंभव के रूप में स्वीकृत किया जाए तो हम मतोन्मत्त (कट्टर- Fanatic) बन जाते हैं। वैज्ञानिक गृहीतों की दृढ धारणा सांस्कृतिक हठधर्म तथा धार्मिक उन्मत्तता इन का उगम एक ही तरह के जीवाणु से है। विश्वास का उगम कौनसा है ? उसी तरह विश्वास भी किसी हालत या किसी बात की धारणा (विश्वास) होता है। वह संज्ञातता से उत्पन्न होता है लेकिन संवेगात्मक (emotional) भाव और ज्ञान की प्रारंभिक अवस्था में भेद करना कठिन है। प्रारंभिक ज्ञान संवेग से भरा होने की संभवना है, क्योंकि ज्ञान में भी स्वीकृति का अंग हमेशा रहता है और स्वीकृति कभी भी बुद्धि-प्रमाण या तर्कप्रमाण (Rational) नहीं होती है। मूल्य से निष्प्रभ ज्ञान होना तभी संभव है कि जब कोई संशयात्मक वृत्ति का पोषण करता है और ऐसी जरूरत उत्पन्न होते ही 'स्वीकृति'-को त्यागने को तैयार होता है। लेकिन यह एक दुष्ट-चक्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मालूम पड़ता है, क्योंकि हर पुरानी स्वीकृति के त्याग के साथ नयी स्वीकृति आ ही जाती है। ज्ञान-प्रक्रिया स्वीकृति एवं अस्वीकृति के परस्परभावी द्वन्द्व (dialectics) से या कम-से-कम पुरानी स्वीकृति के आशोधन या रूपांतरण से संबद्ध है। धर्म तथा विज्ञान में भेद बताते हुए बर्नार्ड शॉं कहते हैं, "धर्म उसी झूठ को पुनः पुन्हा प्रस्थापित करता है, हालाँकि विज्ञान हर समय के लिए नये झूठ को खोज निकलता है।", हमें यहाँ इस बात से कोई ताल्लुक नहीं है कि कोई बात झूठ है, बल्कि महत्त्व की तो बात इस चीज को मद्देनजर कराने की है कि जहाँ तक विश्वास करने की बात है, जो स्वीकृत है उसे त्याग देना बड़ा कठिन है, जहाँ कि स्वीकृति को नये आधार मिलते ही, ज्ञान के क्षेत्र में पहली स्वीकृतियाँ छोड़ने को आदमी तैयार हो जाता है। हालाँकि, इस भावनिक स्वीकृति को ऐसे विषय की जरूरत रहती है कि जो स्वीकृत किया जा सके। इस तरह, जैसे आसमान में बिखरे तारे रहते हैं उसी तरह यहाँ स्वीकृति के विषय एक दूसरे से असंबद्ध रह सकते हैं। इस तरह वहाँ विश्वासों की एक तरह की आण्विकता रह सकती है। अगर इन विश्वासों को एक दूसरे से जोड़ना है तो उन्हें तर्कशास्त्र से भ्रष्ट करना पड़ेगा, चाहे फिर वह तर्कशास्त्र संपूर्ण प्रणाली ही आक्रमित न करें और निद्राभ्रमण जैसा ही रहे। विश्वास के बारे में सबूत की प्रबलता या शबलता उस बात पर निर्भर करती है कि बुद्धि या तर्कसंगति के कारण विश्वास कितना भ्रष्ट, हुआ है। अतः शुद्ध विश्वास न तो प्रबल हो सकता है न शबल। अन्य तरीके से भी विश्वास का बुद्धि से भेद बताया जा सकता है। बुद्धि की रूपात्मक संरचना (या तार्किक बंध–formal structure) निर्माण की जा सकती है। उदाहरणार्थ, जिन विषयों के बारे में तर्क-प्रक्रिया होती है उनका निर्देश किये बिना ही तर्क-प्रक्रिया के बारे में बात की जा सकती है। लेकिन विश्वास के संदर्भ में यह कभी सच नहीं हो सकता। विश्वास हमेशा ही अनुभव में (रूप लेता है या) साकार होता है। वह किसी इंद्रियानुभविक हालत के बारे में होता है और वह किसी इंद्रियानुभविक अवस्था में ही उत्पन्न होता है। जब कोई श्रद्धा (faith) की बात करता है तो वहाँ किसी तार्किक भ्रष्टता के कारण विश्वास के विभिन्न अणु पहले ही इकठ्ठे जमा हुए होते हैं और कोई सावयव संरचना बनने की ओर झुका हुआ होता है। जब कोई श्रद्धा की बात करना है वह आण्विकता को पहले ही अतीत किये हुए होता है और व्यूहाण्विक स्वल्पतंत्र तक पहुँचा होता है।, लेकिन श्रद्धा की स्वलातंत्रता रहने की कोई जरूरत नहीं रहती हैं। श्रद्धामेरु में विश्वास किया जा सकता है और उससे वैध तथा अवैध तर्कप्रयोग से अनेकों अन्य श्रद्धाओं का विगमन किया जा सकता है। धर्म, कि जो धीमी रफ्तार से वृद्धिगत होते है, हिंदू धर्म तथा बौद्ध धर्म जैसे धर्मों में श्रद्धामेरु नहीं हो सकता बल्कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस्लाम या ईसाई जैसे धर्मों में श्रद्धामेरू उग्ररूप से उपस्थित रहता है। अर्थात्, श्रद्धामेरू से अन्य सभी श्रद्धा या विश्वास धार्मिक संगति से जुड़े हुए रहते हैं, लेकिन तार्किक संगति से नहीं। धार्मिक संगति का मतलब है किसी हद तक संगति का होना, वह उस हद के परे नहीं जाती बल्कि उस हद के पार एक नई संगति आ जाती है। धर्म में चेतना का एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जगह देता है। धार्मिक आदमी कह सकता है कि एक चेतना दूसरी चेतना के अतीत पहुँचती है। लेकिन सच तो यही रहता है कि एक चेतना दूसरी चेतना को जन्म देती है। जिसकी उद्याम-उत्तोलक के साथ तुलना की जा सके ऐसी किसी कृति के कारण वह एक निद्राभ्रमण से दूसरे निद्राभ्रमण को जगह करा देना है।

सारांश के रूप में हमारा अब तक किया विमर्श रखना हो तो कहा जा सकता है कि विश्वास करना और जानना या विश्वास तथा ज्ञान ये समरूप जुडवे बच्चों जैसे हैं, वे एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न नहीं हैं और आरंभ में वे एक-दूसरे से पूर्णरूप से विलग नहीं किये जा सकते। इस बात के साक्षात्कार को संशयातीत ज्ञान या संशयातीत विश्वास का स्पष्टीकरण भी देना चाहिए। ज्ञान को टाँगने के लिए किसी खूंटी की जरूरत होती है, मतलब सत्ता या ब्रह्म को जानने के लिए। यह खूंटी संशयातीत ज्ञान की संज्ञा है। यह खूंटी स्वीकृतता के सिवा और कुछ भी नहीं है। अगर यह स्वीकृति भावनिक या सांवेगिक बने तो वह संशयातीत विश्वास बन जाता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि जब किसी तरह की तर्क-प्रणाली विभिन्न विश्वासों को इकट्ठा जोड़ती है तब यही विश्वास श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है। हम ऐसा भी कह चुके हैं कि या तो वहाँ श्रद्धा का निरंकुश शासन रहेगा या श्रद्धा की स्वल्पतंत्रता रहेगी। लेकिन चाहे वह निरंकुश शासन हो या स्वल्पतंत्र, वह हमेशा ही एक संमिश्र संवृत्ति या घटना बननें की ओर झुकता है; और नैतिक विश्वास, सांस्कृतिक विश्वास, सामाजिक तथा राजनैतिक विश्वास और वैज्ञानिक तथा वृथा-वैज्ञानिक विश्वास भी एक ऐसे रासायनिक द्रव बनने की ओर झुकाव लेते है कि जो ऐसा आभास निर्माण करे कि ये सब संपूर्ण प्रणाली के अत्यावश्यक एवं पर्याप्त अंश हैं। और एक बार ऐसा होते ही सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक अंशों को धार्मिक अंशों से विभक्त नहीं किया जा सकता। इससे धर्म जन्म लेता है। चूंकि मानव-जीवन से विश्वासों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का पूरा निराकरण नहीं हो पाता, मानव हमेशा ही किसी तरह की विश्वास प्रणाली तथा धर्म से प्रभावित रहता है। अर्थात्, इस धार्मिक प्रणाली के अंश विश्वास एवं ज्ञान दोनों को समान हैं, अतः कभी-कभी विश्वास-प्रणाली ज्ञान-प्रणाली जैसी भी मानी जाती है। इस तरह धार्मिक ज्ञान की बात की जाती है।

—सुरेंद्र बार्लिंगे

सुप्रतिष्ठित प्राध्यापक,
दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय

संदर्भ

* हम यहां केवल अस्तिवाचक प्रकथनों पर ही विचार कर रहे हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रियाएँ

I

प्रत्यक्ष–परोक्ष उभयात्मक अनुभव

– १ –

परामर्श हिंदी (वर्ष १, अंक ३) में आचार्य श्रीराममूर्ति त्रिपाठी का एक लेख प्रकाशित है। उसका शीर्षक है– "साहित्य एवम् दर्शन–परस्परावलंबन।"

इस में प्रसंगानुसार आपने लिखा है–"उदाहरणार्थ नैयायिकों को ही लीजिये इन लोगों ने अनुभव की परिधि में ही प्रत्यक्ष के साथ परोक्ष को भी लिया है। ......इन के पक्ष में न तो लोकव्यवहार ही है और न उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक ही। .. निष्कर्ष यह कि नैयायिकों की दृष्टि से अनुभव को प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक उभयविध मानना संगत नहीं है। उसे प्रत्यक्ष का ही पर्याय मानना चाहिए।"

पर ऐसी वस्तुस्थिति है नहीं। नैयायिकों के समान उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक भी अनुभव को प्रत्यक्ष परोक्षात्मक उभयविध मानते हैं।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य चतुःसूत्री की भामती व्याख्या में वाचस्पति मिश्र की चौथी पांचवी पंक्ति है—

"‥ अहम्-इति असन्दिग्ध–अविपर्यस्त– अपरोक्षानुभव
सिद्ध इति न जिज्ञासास्पदम्।"

इस में अनुभव के साथ 'अपरोक्ष' विशेषण की सार्थकता तभी सम्भव है जब कि परोक्ष अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) भेद से दो प्रकार का अनुभव माना जाय।

परामर्श (हिन्दी) वर्ष २ : अंक १

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— २ —

उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक परोक्ष अनुभव मानते हैं और उस की कोटि में अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवम् अनुपलब्धिजन्य अनुभव का समावेश करते हैं — यह तथ्य वेदान्तपरिभाषा पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है। अनुपलब्धि परिच्छेद में वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र की सर्व-प्रथम पंक्ति है :—

"...ज्ञानकरणाजन्य-अभावानुभव-असाधारणकारणम्-अनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अनुमानजन्य-अतीन्द्रिय-अभावानुभवहेतौ अतिव्याप्तिवारणाय अजन्यान्तं पदम्...।"

इसमें अनुपलब्धिप्रमाण से होनेवाले अभाव के बोध को तथा अनुमानप्रमाण से होनेवाले अतीन्द्रिय अभाव के बोध को स्पष्ट रूप से 'अनुभव' माना गया है। यदि उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक को प्रत्यक्षात्मक ही अनुभव (अनुभव एवम् प्रत्यक्ष की पर्यायवाचिता) मान्य होता तो यहाँ वेदान्तपरिभाषाकार अनुपलब्धि एवम् अनुमानजन्य बोध के लिए 'अनुभव' पद का व्यवहार कैसे करते? इस लिए श्री त्रिपाठीजी का यह कथन शास्त्रीय आप्त मान्यताओं पर आधारित नहीं प्रतीत होता कि नैयायिकों के पक्ष में उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक नहीं हैं। वास्तविकता तो यही है कि नैयायिकों के ही पक्ष में उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक हैं।

— ३ —

नैयायिकों का पक्ष निम्न रूप में स्पष्ट है :—

ज्ञान दो प्रकार का है— स्मृति एवम् अनुभव। अनुभव चार प्रकार का है— प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्दबोध। यहाँ नैयायिकों ने स्मृतिभिन्न समस्त ज्ञान को अनुभव की संज्ञा दी है और इस अनुभव की परिधि में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार के स्मृतिभिन्न ज्ञान को ले लिया है। यहाँ यह विचारणीय है कि यदि अनुभव से प्रत्यक्ष मात्र लेना है तो स्मृतिभिन्न, समस्त ज्ञान की कोई एक क्या संज्ञा होगी? 'ज्ञान, बोध' आदि संज्ञा तो हो नहीं सकती, क्योंकि ज्ञान या बोध स्मृति की भी संज्ञा है। स्मृतिभिन्न समस्त ज्ञान को कोई एक ऐसी संज्ञा देनी आवश्यक है जिससे स्मृतिभिन्न समस्त ज्ञान का ही बोध हो। वह संज्ञा नैयायिक तथा उच्च परिनिष्ठित दार्शनिक दोनों के मत में 'अनुभव' ही है; इसीलिए वेदांत परिभाषाकार अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में 'अनुभव' पद के प्रवेश का प्रयोजन बताते हुए आगे लिखते हैं—

"...अभावस्मृति— असाधारण हेतुसंस्कारे— अतिव्याप्ति वारणाय अनुभवेति विशेषणम्।" (अनुपलब्धि परिच्छेद)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसका आशय यह है कि अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में यदि "अनुभव' पद का निवेश नहीं किया जाएगा तो अभावस्मरण का असाधारण हेतु संस्कार भी अनुपलब्धि प्रमाण माना जाएगा, क्योंकि वह अभावज्ञान (अभावस्मृति) का असाधारण हेतु है ही। अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में 'अनुभव' पद का निवेश करने पर तो अभावानुभव का असाधारण हेतु संस्कार नहीं है अपितु अभावस्मृति का असाधारण हेतु है, अतः वह अनुपलब्धि प्रमाण नहीं माना जा सकेगा। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि अनुपलब्धि लक्षण में 'अनुभव' पद स्मृति रूप ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए ही निविष्ट है। ऐसी स्थिति में जब उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक भी स्मृतिभिन्न ज्ञान को अनुभव मान रहे हैं तब 'अनुभव को प्रत्यक्ष का ही पर्याय मानना चाहिए' यह श्री त्रिपाठी की मान्यता कैसे प्रामाणिक मानी जा सकती है तथा आपकी इस मान्यता के आधार पर नैयायिकों के इस पक्ष की उपेक्षा कैसे की जा सकती है जिसमें अनुभव को परोक्षात्मक भी माना गया है।

— ४ —

'अनुभव प्रत्यक्ष का ही पर्याय है' इसे सिद्ध करने के लिए दो एक लौकिक वाक्य तथा श्री हर्ष को श्री त्रिपाठीजी ने प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है; पर इतने मात्र से अनुभव परोक्षात्मक होता ही नहीं— यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। नैयायिकों तथा उच्च एवम् परिनिष्ठित दार्शनिकों ने जब अनुभव की कोटि में प्रत्यक्ष को सर्वप्रथम माना है तब प्रत्यक्ष के अर्थ में 'अनुभव' पद का प्रयोग मिलने मात्र से नैयायिक और उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक का लोक-व्यवहार एवम् श्री हर्ष के साथ विरोध क्या है? साथ ही अनुभव शब्द से 'स्मृतिभिन्न परोक्ष ज्ञान का बोध होता है'— इस पक्ष में भी बहुत-से वाक्य प्रमाण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं— 'यह शब्दजन्य अनुभव है, अनुमान से ऐसा अनुभव हुआ' आदि आदि।

ऐसे वाक्य संभवतः श्री त्रिपाठीजी को प्रामाणिक न प्रतीत हों, पर जो लोग शास्त्रीय आप्त मान्यता के आधार पर स्मृतिभिन्न ज्ञान को अनुभव मान रहे हैं उन्हें ऐसे वाक्यों की प्रामाणिकता में कोई संशय नहीं होगा; क्योंकि लौकिक वाक्यों की प्रामाणिकता का निर्णय उसके प्रयोक्ता की प्रामाणिकता पर निर्भर होता है और प्रयोक्ता की प्रामाणिकता उसकी विज्ञता पर आधारित है तथा यह विज्ञता साक्षात या परंपरया शास्त्रीय पांडित्य पर ही आश्रित होती है। इसीलिए जगदीश तर्कालंकार शब्द-शक्तिप्रकाशिका के प्रारंभ में ही स्पष्ट लिखते हैं—

" अनुभव हेतुः सकले सद्यः समुपासिता मनुजे।
साकांक्षाऽऽसन्ना च स्वार्थे योग्या सरस्वती देवी ॥ "

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ इन्होंने 'सरस्वती' से शब्द को भी लिया है और लिखा है–

"सरस्वती तु देवी सकले मनुजे एव साकांक्षा
आसन्ना योग्या च उपासिता सती सद्य एव अनुभवं तनुते ... ।"

इसमें 'सरस्वती (शब्दः) सकले मनुजे सद्यः एव अनुभवं तनुते"– ऐसा लिखकर जगदीश 'यह शब्दजन्य अनुभव है' ऐसे वाक्यों को पूर्णरूप से प्रामाणिक मान रहे हैं। ऐसे ही वेदांतपरिभाषाकार भी–

"तथा च अनुभवः" पर्वतं पश्यामि, वह्निमनुमिनोमि इति।"

(प्रत्यक्ष परिच्छेद)

लिखकर अनुमान जन्य अनुमिति रूप बोध को अनुभव मानते हुए स्पष्ट ही 'अनुमान से ऐसा अनुभव हुआ' आदि वाक्यों की प्रामाणिकता सिद्ध कर रहे हैं। अतः इस प्रकार के प्रामाणिक वाक्यों के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि ग्रंथज तथा अनुमानादि जन्य परोक्ष ज्ञान भी अनुभव है।

– ५ –

पत्रिका के ५८ वें पृष्ठ पर अपने लेख की छठी पंक्ति में श्री त्रिपाठीजी– "... ग्रंथज (परोक्ष)..."– ऐसा लिखकर मान रहे हैं कि ग्रंथज ज्ञान परोक्षात्मक ही होता है; पर यह उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिकों को कथमपि मान्य नहीं है। उनकी तो यह स्पष्ट मान्यता है कि यदि अनुभव का विषय सन्निहित है एवम् प्रत्यक्षयोग्य है तो उसका वाक्य से भी प्रत्यक्षात्मक ही अनुभव होता है और अपनी इस मान्यता की पुष्टि में उनका 'दशमस्त्वमसि' का उदाहरण अति प्रसिद्ध है। 'दशमस्त्वमसि' यह वाक्य जिसके प्रति प्रयुक्त होता है वह इस वाक्य को सुनते ही "मैं दसवाँ हूँ" यह प्रत्यक्षात्मक ही अनुभव करता है। ऐसे ही 'त्वम् सुखी' इस वाक्य से होनेवाले 'अहम् सुखी' (मैं सुखी हूँ) इस अनुभव की प्रत्यक्षता भी उन्हें इष्ट है। इस संदर्भ में वेदांतपरिभाषा की निम्न पंक्तियाँ प्रमाण रूप में द्रष्टव्य हैं–

"न चैवमपि वर्तमानतादशायां 'त्वं सुखी' इत्यादि वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षता स्यादिति वाच्यम्, इष्टत्वात्। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ सन्निकृष्टविषये शब्दात् अपि अपरोक्षज्ञानाभ्युपगमात्।" (वेदांतपरिभाषा प्रत्यक्ष परिच्छेद)

इसी मान्यता के अनुसार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से ब्रह्म का निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक ही अनुभव होता है– यह उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिकों के संप्रदाय में बहुसम्मत है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— ६ —

प्रस्तुत प्रसंग में निष्कर्ष यह है कि यद्यपि अनुभव की कोटि में प्रत्यक्ष सर्वप्रमुख है और लोक में प्रायः प्रत्यक्ष के लिए अनुभव शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है तथापि इतने मात्र से शास्त्रीय एवम् शास्त्रानुसारी प्रामाणिक लोक-व्यवहार को असंगत मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता।

प्राध्यापक 'न्याय-वैशेषिक' सुधाकर दीक्षित
संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी २२१००२

II

श्री दीक्षितजी ने मेरे निबंध से दो आपत्तिजनक अंश उद्धृत किए हैं और उनपर अपनी आपत्ति व्यक्त की है। एक है प्रत्यक्ष ही अनुभव है, परोक्ष नहीं। नैयायिकों का जो पक्ष यहाँ-वहाँ के उद्धरण से दीक्षितजी ने रखा है उसका बोध मुझे है; तभी तो उनके विपक्ष में कई और प्रमाण के लक्ष्य एक अन्य पक्ष मैंने रखा है। मेरी बात इसी मान्यता से बनती है। इसलिए इस संदर्भ में अंतिम बात यह कहना चाहता हूँ कि पक्ष प्रबल नहीं होता, उपस्थापक की प्रतिभा प्रबल होती है। अपनी बात जैसे बनती है उपस्थापक उस तरह का तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करता है। मैंने भी तर्कशास्त्र की मान्यता का विरोध करते हुए अपनी बात के अनुरूप तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। मेरे तर्क और प्रमाण गलत हों या अंतर्विरोधग्रस्त हों तो मैं कुछ कहूँ। अन्यथा एक क्षुण्ण पद्धति से हटकर नई बात कहनी चिंतकों के जगत में स्वागतार्ह ही होता है। श्री दीक्षितजी ने लिखा है, 'अनुभव प्रत्यक्ष का ही पर्याय है' इसे सिद्ध करने के लिए जो एक लौकिक वाक्य तथा श्रीहर्ष को त्रिपाठीजी ने प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। पर इतने मात्र से अनुभव परोक्षात्मक होता ही नहीं यह सिद्ध नहीं किया जा सकता।" इस संबंध में मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे सिद्ध करने से क्या होता है? शंकराचार्य की बहुत-सी मान्यताओं के विपरीत वैष्णवाचार्यों ने मान्यताएँ रखीं तो क्या शंकराचार्य के अनुयायियों ने उन्हें असंगत मान लिया? यह तो एक नई उद्भावना है; लगे तो मानिए, अन्यथा न मानिए।

दूसरी आपत्ति ग्रंथज्ञान की है। वहाँ भी जो व्यवहारवाक्य मैंने प्रस्तुत किया है वह कुछ अर्थ दिखलाता है और उसी दृष्टी से अनुभवात्मक ज्ञान को ग्रंथजज्ञान से पृथक् रखा गया है।

राममूर्ति त्रिपाठी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ-समीक्षा

चतुर्वेदी, डॉ. रामस्वरूप; सर्जन और भाषिक संरचना; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठसंख्या ७२; मूल्य रु. १४

आज की आलोचना दृष्टि (और कविता-दृष्टि) में भाषा प्रमुख और केन्द्रीय महत्त्व की अधिकारिणी बनी है। भाषा केवल पशु और मनुष्य के बीच व्यतिरेक साधन बनकर उपस्थित नहीं है, या कि साहित्य और कलाओं के बीच उसी से महत्त्वपूर्ण भेद की सृष्टि नहीं होती, बल्कि स्वयं साधारण बोलचाल और साहित्य के बीच भी वह तात्त्विक अंतर के साथ उपस्थित होती है। निःसंदेह भाषा और भाषा के बीच अथवा लोक की व्यवहार-भाषा और साहित्यिक भाषा के बीच अंतर को पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने बहुत पहले से ही रेखांकित किया है, किंतु मनुष्य-जीवन की बढ़ती जटिलता ने उसकी भाषा और सर्जनशक्ति को भी जटिल बनाया या उसे नये आयाम दिये हैं। स्वाभाविक है कि सर्जनात्मक भाषा की इन नवीन दिशाओं के बहुत उर्वर संकेत प्राचीन धारणाओं में न भी मिलें या मिलें तो भी उन संकेतों को पकड़कर आज की रचना और रचनाकर्म दोनों को नये सिरे व्याख्यायित करना ज़रूरी समझा जाय। डॉ. चतुर्वेदी की चिंता सदा से उन नये पक्षों को उजागर करने की रही है। वर्तमान रचना में भी उन्होंने अपने तीन लेखों में (जिनमें से एक उनकी पूर्वकृतियों में भी समाविष्ट है) क्रमशः शब्द और सर्जन; काव्यशास्त्र और साहित्य-चिंतन में रचना की समस्या तथा बिंब प्रक्रिया: 'अर्थ का अद्वैत' को लेकर कुछ समस्याएं उपस्थित की हैं और अपनी ओर से उनके निर्भ्रांत उत्तर देने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः तीनों लेख अलग होकर भी एक ही मूलगामी समस्या पर आधारित होने के कारण परस्पर अन्वित हैं, अतः पूरी पुस्तक को एक प्रबंध का रूप देते हैं। आश्चर्य नहीं कि इस उपस्थित क्रम में उनकी कुछ बातें दूसरे लेखों में संक्रमित, और पुनरावर्तित होती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हुई भी दिखाई दें और अपने व्यवस्थापन में डॉ. चतुर्वेदी किसी लेख में जिस मूल चिंता से आरंभ करें, तर्क करते-करते, अन्यान्य सीमाओं में घूम-फिरकर, वे फिर अंत उसी मूल बिंदु से करें। बात की उठान और उसके समापन की यह एकता एक ओर तो उन्हें केंद्र-च्युत नहीं होने देती और दूसरी ओर उनके पाठक से सजगता और सावधानी की अपेक्षा भी करती है।

डॉ. चतुर्वेदी ने शब्द और सर्जन का विचार करते हुए उत्पादन, सृष्टि और सर्जन की तीन स्थितियों को ध्यान में रखकर उनके बीच बारीक रेखा खींचते हुए सर्जन का संबंध कलाओं से निश्चित किया है और सर्जन को अपने गुण-धर्म में अद्वितीय तथा 'धर्म-निरपेक्ष रूप में आध्यात्मिक' माना है। टालस्टाय ने अपने संक्रमण-सिद्धांत में सर्जन या कला से जिस बात की अपेक्षा की थी और रिचर्डस ने फिर जिसे कुछ अपने ढंग से सुधार कर 'भावना' के स्थान पर 'अनुभव' के सम्प्रेषण पर बल देते हुए कला को मानव-अनुभव का प्रेषण बताया था, और इस कार्य में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका से स्वीकार किया था, डॉ. चतुर्वेदी भी उसे ही सर्जन प्रक्रिया का आरंभिक चरण मानते हुए उससे यह अपेक्षा करते हैं कि उससे 'किसी विचार या अनुभव को किसी अन्य व्यक्तित्व में संक्रमित' किया जा सके 'जिससे उसका फिर नया विकास संभव हो'। और 'स्पष्ट ही यह संक्रमण किसी न किसी स्तर पर भाषा में ही होगा।' यानी साहित्य के संदर्भ में।

डॉ. चतुर्वेदी साहित्य और कलाओं के बीच भाषा के कारण साहित्य की बौद्धिकता, उसमें अनुभव प्रधान कलाओं की अपेक्षा विचार और अनुभव के अद्वैत, अपनी प्रक्रिया और निष्पत्ति में अन्य कलाओं की तुलना में जटिलतर और समृद्ध-तर होने का अंतर करते हुए भाषिक संरचना में अनुभूति और बुद्धि के दोनों पक्षों के एक-साथ होने, भाषा के सदैव गतिशील होने और मनुष्य के भाषा में ही जीने तथा अनुभव करने के सिद्धांतपर बल देते हैं। अन्य कलाओं की ओर मनुष्य का जाना मानो इस निरंतर के दबाव से कभी-कभी मुक्त होकर शान्ति पाने के लिए है, अन्यथा 'हर कला इतर उपादानों का परित्याग करके अधिकाधिक शुद्ध और सघन होती है' और साहित्य की नियति और निष्पत्ति भी उसके अपने अर्थात् भाषा के क्षेत्र में ही है, संगीत आदि के तत्त्व उसके लिए, उसकी शुद्धता के लिए, उप-कारक नहीं हैं। मात्र नाटक इस स्थिति में एक अपवाद है।

भाषा के इस महत्त्व को रेखांकित करते हुए चतुर्वेदी जी बोलचाल की और साहित्यिक भाषा के बीच जो अंतर करते हैं वह साहित्यिक भाषा के विशेष प्रयोग या शोधी हुई भाषा होने का ही है जिसकी ओर प्राचीनों ने भी 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यति-रेकि', 'प्रसिद्धावयुत्पातिरिक्त' और 'विशिष्ट पदरचना' के रूपमें इशारा किया था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दोनों के बीच काल का जितना अंतर है अभिव्यक्ति में भराव का भी लगभग वैसा ही है। डॉ. चतुर्वेदी अपने तर्क को नयी भाषा और कुछ नये अनुभवों के साथ प्रस्तुत करते हैं। उसी के आधार पर वे साहित्य और दर्शन, गणित और विज्ञान का अंतर स्थापित करते हुए साहित्य की भाषा को प्रस्तारपरक अर्थात् विविधार्थमयी और विज्ञानादी की भाषा को निष्कर्षात्मक भाषा की संज्ञा देते हैं।

साहित्य की प्रस्तारपरक भाषा का सहज गुण उसकी अंतहीन सर्जना के रूप में प्रकट होता है और उसमें न केवल अंतर्विरोधी कथन एक दूसरे को नहीं काटते बल्कि वह सर्जन को स्वायत्त सिद्ध करने में भी सहायक होता है। सर्जन की स्वायत्तता से डॉ. चतुर्वेदी का तात्पर्य न तो यह है कि अपने जन्म के पश्चात् कोई कृति अपनी जीवन सत्ता के लिए बाह्य तथ्यों की मुखापेक्षी नहीं रहती, और न यह है कि कृति को न तो रचनाकार के अभिप्राय के आधार पर जाँचा-परखा जा सकता है न पाठकों पर पड़े प्रभाव के संदर्भ में ही। उनका अभिप्राय यह है कि सर्जन की निष्पत्ति और प्रक्रिया को 'पूर्वोक्त नहीं किया जा सकता'। वस्तुतः सर्जन को 'अद्वितीय' बताकर और उसकी 'निष्पत्ति तथा प्रक्रियाकी पूर्वोक्तता का निषेध करके डॉ. चतुर्वेदी उसी बात को कह रहे होते हैं जिसकी चर्चा डॉ. अशोक केळकर ने 'परामर्श' (वर्ष १, अंक ४) में छपे अपने लेख में यह कहकर की है कि "कविता का होतापन ही उसकी निजता में एवं अद्वितीयता में निहित होता है। जो कभी किसी ने उसी रूप में नहीं कर दिखाया, वह कर दिखाने में कविता की इतिकर्तव्यता है। प्रत्येक महान कविता स्वायत्त होती है।"

रचना की इस स्वायत्तता में डॉ. चतुर्वेदी ने उसकी निरंतर संभावनापूर्णता और गतिशीलता के दर्शन किये हैं, किंतु बहुप्रचलित मुहाविरे 'रचना के बीच से गुजरकर रचना की पड़ताल' का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। साथ ही उन्होंने 'साहित्येतर प्रतिमानों' के निषेध या प्रतिषेध का खुले आम ऐलान भी नहीं किया है। वे साहित्य को 'जीवन की प्रतिरचना' कहते हैं और साहित्य को 'जीवन की सार्थकता' के रूप में देखते हैं, लेकिन मार्क्सवाद से उनकी शिकायत अवश्य है कि 'मार्क्सवाद, जो कि मूलतः इतिहास का दर्शन है, हिंदी साहित्य के इतिहास की कोई व्याख्या नहीं देता'। वे रचना को स्वायत्त मानकर भी उसमें 'आंतरिक अनुरोधों की चर्चा करनेवाले मुक्तिबोधीय मत की पड़ताल के फेर में नहीं पड़ते, प्रकारांतर से अपनी बात को प्रस्तुत करते हुए दूसरे पक्ष का प्रतिपादन करते हैं और इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि "सुनिश्चित प्रतिमानों या कि पैमानों के सहारे—चाहे वे पुराने हों या नये— कविता की निरन्तर विकसनशील प्रक्रिया को समझा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझाया नहीं जा सकता।' 'पुराने' के माध्यम से वे रसालंकार आदि का-विशेषतः रस का – निषेध करते हैं और 'नये' से उनका तात्पर्य मार्क्सवाद से भी है और इतर उन सिद्धांतों से भी जिन्हें साहित्येतर कहा जा सकता है। रस-सिद्धांत की उपयोगिता को वे नाटक तक तो अवश्य स्वीकार करते हैं, भले ही उसे वहाँ तक सीमित और समाप्त कहकर और उसे एक 'संपूर्ण व्यवस्था' मानते हुए भी वे मानते हैं कि रस-सिद्धांत 'कविता या कि किसी पाठ्य-श्रव्य रचना में अर्थ-प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर पाता।' पाठ्य और श्रव्य रचनाओं को लेकर बहस में पड़ने की आवश्यकता यहाँ नहीं, किंतु यह अवश्य पूछा जा सकता है कि क्या सचमुच डॉ. चतुर्वेदी आज की नव बौद्धिक-परीणतिवाली—नाट्य रचनाओं में भी रस-सिद्धांत की उपयोगिता के प्रति उतनी ही गहराई में आश्वस्त हैं जितने वे पुरानी रचनाओं के विषय में हो सकते हैं या रहे हों?

डॉ. चतुर्वेदी रस-सिद्धांत की उपयोगिता की समाप्ति का एक आधार यह भी बताते हैं कि 'लय और तन्मयता के घटने, साहित्य में वैचारिक बेचैनी का रूप बढ़ने, और गद्य-विधाओं के उदय के साथसाथ रस-सिद्धांत की उपयोगिता आप से आप समाप्त हो जाती है।' रस-सिद्धांत में कथित 'तन्मयीभवन' योग्यता को भाव-जगत् से न जोड़कर, जिस पर रस-सिद्धांत का पूरा प्रासाद निर्मित है, डॉ. चतुर्वेदी उसे लय और सामासिक पदावली तक घसीट लाते हैं और समझते हैं कि रस-परिपाक में संगीत का भारी योगदान रहा होगा। इस तरह वे ध्वनि के अन्तर्गत सर्वाधिक मान्य रस-ध्वनि का स्वरूप भी एकबारगी भूल जाते हैं और रस का अर्थ से पत्ता ही काट देते हैं। प्रतिपक्ष को उसके अपने क्षेत्र से बाहर घसीट कर मारने का यही तरीका है।

कविता की परिभाषा देते हुए डॉ. चतुर्वेदी ने जिस शब्दावली का व्यवहार किया है, वह यह कि 'अनुभव होने के अनुभव होने का अनुभव कविता है।' उन्होंने समझाया है कि 'अनुभव होने का अनुभव होना अनुभूति है, और भाषा भी'। 'जाड़ा लगना अनुभव है, और यह कि जाड़ा लग रहा है अनुभव का अनुभव है यानी कि अनुभूति या कि भाषा है। फिर इस अनुभव के अनुभव का अनुभव कवि के यहाँ संभव होता है' यानी कविता बनता है। कहा नहीं जा सकता कि डॉ. चतुर्वेदी की दृष्टि में हमारा यह कहना पर्याप्त होगा कि नहीं कि आरंभिक व्यवहार दशा में हम जो इन्द्रियानुभव करते हैं वही हमारे भाव और विचार के योग से हमारी अनुभूति बन जाता है और कवि हृदय उसे ही जब समान अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा का कौशलपूर्ण उपयोग करता है तो भाषा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामान्य भाषा नहीं रह जाती, कविता बन जाती है अर्थात् कविता भाषा का विलक्षण या असामान्य प्रयोग है ध्वनिकार ने इसे एक ही शब्द 'प्रतीयमान' से ध्वनित कर दिया था। उसमें अनुभव की वह स्थिति वर्तमान थी, जिसे चतुर्वेदी जी ने स्पष्टता के लिए जटिल भाषा में प्रस्तुत किया है।

चतुर्वेदी जी ने इस लेख में और भी कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे प्रस्तुत किये हैं। मुहाविरे के प्रयोग को लेकर हिन्दी और उर्दू कविता की प्रकृति का अन्तर, सर्जनात्मक आलोचना, शब्दों की रगड़ में अर्थ की सामर्थ्य आदि पर किया गया विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण है और भाषा तथा कविता की समझ पैदा करने या उसे बढ़ाने में सहायक होता है।

दूसरा लेख 'काव्यशास्त्र और साहित्य-चिन्तन में रचना की समस्या (पुराने उत्तरों के नये प्रश्न)' इस पहले लेख में उठाये गये कतिपय मुद्दों का ही विस्तारित रूप में प्रस्तुतीकरण है। यहाँ चतुर्वेदी जी प्राचीन काव्यशास्त्रीय मतों से सीधे टकराव में आते हैं। लेख छोटा है परन्तु उसमें कई मुद्दे एक साथ प्रस्तुत हैं। यथा (१) आस्वादन की प्रक्रिया अब रेचन की नहीं है, घुमड़न की है। (२) साहित्य में आनंद है, पर अब वह बेचैनी का आनंद है, अद्वैत और द्वन्द्व का सम्मिलन है। (३) आधुनिक आलोचना में अर्थ और अनुभव के अद्वैत के प्रतिपादन के कारण उसकी इस प्रक्रिया में न तो प्राचीन ध्वनि-सिद्धांत के मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ का द्वैत रह जाता और न एलियट के आधुनिक 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का। तथा (४) बिंब अपने में महज एक दृश्य उपकरण नहीं है, वरन् वह मूलतः कालक्रम में आगे पीछे उठनेवाली विविध अनुभूतियों के एक-साथ साक्षात्कार का उपक्रम है।

काव्य-रचना की बदली हुई आज की स्थिति में उसके आस्वाद ग्रहण और आलोचन की पद्धतियों में गुणात्मक और सूक्ष्म अन्तर हो, यह अस्वाभाविक नहीं है। भाव-परक कविता से हटकर बुद्धि परक रचना तक की यात्रा ही इस अन्तर के लिए उत्तरदायी नहीं है, बल्कि स्वयं रचनाकार के व्यक्तित्व और उसके परिवेश की जटिलता ने भी उसकी भाषा को पुरानी भावानुभूति की सरल या सहज स्थिति से हटाकर ऐसे धरातल पर ला रखा है कि उसकी पहचान और उसके अनुभव के लिए अनेक बार नई दिशाओं की खोज करनी पड़ती है या कि अधिक सूक्ष्म ब्यौरों में जाना पड़ता है। उक्त विवेचन में उठाये गये मुद्दे इसी चिन्तन और प्रयत्न का परिणाम हैं और गंभीरतापूर्वक विचार की अपेक्षा रखते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'बिम्ब-प्रक्रिया; अर्थ का अद्वैत' शीर्षक तीसरे लेख में उक्त विवेचन को ही, विशेषत: बिम्ब–विधान के संदर्भ में, विकसित किया गया है। बिम्ब को चतुर्वेदी जी 'सहज एक दृश्य उपकरण' की स्थिति से ऊपर उठाकर 'प्रधानतः और अनिवार्यतः एक अर्थ-संश्लेष' की ऊँचाई तक ले जाते हैं। बिंब को भाव-चित्र की संज्ञा देते हुए वे उसकी संश्लिष्ट प्रक्रिया और गतिशीलता का सोदाहरण खुलासा करते हैं और प्रतीक से उसकी भिन्नता के पहलुओं को रेखांकित करते हैं। इस क्रम में उन्होंने एक बार फिर प्राचीन चिन्तकों की तरह, किन्तु उनसे भिन्न ढंग पर, अलंकार को बाह्य या रचना-शिल्प या रचना-कौशल का अंग कहा है। उनका कथन है कि 'प्रतीक और बिंब अप्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं, अत: भाषा के अत्यंत संवेदनशील स्तर पर रूपांतरित हो जाते हैं, भाषा हो जाते हैं। जब कि अलंकार अपने नाम से भी अपनी स्थिति में अतिरिक्त सजावट के रूप में देखे जा सकते हैं, भाषा की रचना प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बन जाते।' ध्वनिकार के सामने भी अलंकार को लेकर यह चिंता उपस्थित थी और उन्होंने अलंकारों की बाह्यता का विवेचन भी खूब किया है, किन्तु साथ ही उन्होंने अन्यान्य उदाहरण देकर अलंकारों की 'अपृथग्यत्व-निर्वर्त्य' स्थिति का द्योतन भी कराया है और उनके 'अहम्पूर्विकया परापतन' को ही उचित बताया है। ऐसी स्थिति तभी आ सकती है जब भाषिक प्रक्रिया में वे अनुभूति की व्यंजना अलग से नहीं बल्कि स्वयं घुलमिलकर कराते हों।

डॉ. चतुर्वेदी ने अधिकतम सर्जनात्मक भाषा में बात और भाषा के अभेद की सिद्धि मानते हुए 'व्यंजना' शब्द-शक्ति में इनका सीधा संबंध न होने की शिकायत की है। उन्होंने व्यंजना की सारी पड़ताल शब्दश: अर्थ की दृष्टि से की गई मानी है, अनुभव संप्रेषण की दृष्टि से नहीं। हम समझते हैं कि ध्वनि के अविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि-भेदों में इन स्थितियों का समाहार संभव है और अर्थ के जिन गहरे स्तरों के खुलते जाने की बात पर बल दिया जा रहा है उसकी सिद्धि भी इन भेदों से हो जाती है।

हिन्दी कविता में बिंब प्रक्रिया के विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए डॉ. चतुर्वेदी ने गोचर दृश्य से बढ़कर अर्थ-संश्लेष की स्थिति तक पहुँचे और प्रस्तुत को विलोन करके उपस्थित होते बिंब का अच्छा विवेचन किया है, जिससे हिंदी काव्य के संदर्भ में काव्यशास्त्र की नयी संभावनाएँ सामने आतीं हैं।

डॉ. चतुर्वेदी के इन लेखों में किये गये विवेचन से और भी अनेक सूत्र उभरते हैं, जिनकी ओर यहाँ संकेत भी नहीं किया जा सका। वस्तुत: काव्यभा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की सर्जनात्मकता के अनेक नये आयामों की संभावना निरन्तर बनी रहेगी। परिणामतः विगत में लक्षित किये गये और शास्त्रोक्त तत्त्वों में भी परिवर्तन-परिवर्द्धन, ग्रहण और त्याग की कांक्षा बराबर बनी रहेगी। डॉ. चतुर्वेदी ने ऐसी संभावनाओं पर अँगुली रखकर काव्य-विषयक चिन्तन को जो गति देने का प्रयत्न किया है, और उनके विवेचन में लक्ष्यानुसंधान की जैसी सजगता तथा विवेचक की तटस्थ संतुलित मुद्रा दीख पड़ती है, वह उनके लेखन को विशेष गरिमा प्रदान करती है। उनका लेखन नये सिरे से काव्य और काव्यशास्त्र के सावधान अनुशीलन की जिज्ञासा पाठक में जगाता है, पुनर्विचार के लिए उसे विवश करता है और नये ब्यौरों में जाने पर चिन्तन को समृद्ध करता है; इसी में उनकी जीत है, इसी में उनकी सामर्थ्य का प्रमाण भी। उनकी यह पुस्तक एक मूल्यवान देय मानी जाएगी।

आनंदप्रकाश दीक्षित

आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय

• • •

Phone : 445956

THE POONA UNIVERSITY

CONVOCATION DAY

Dear Degreeholders,

Get your photograph

at new **kalpana photo studio**

Specially opened in the University premises

Studio at : 245, Budhwar Peth, near Dutta Mandir, Poona 2.

(FOR ATTRACTIVE PHOTOGRAPHS)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'परामर्श' (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण

फॉर्म 4 (नियम 8 देखिए)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७, भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता		डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७, भारतीय
५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११ ००७ भारतीय
६. उन व्यक्तियों। संस्थाओं के नाम व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों।	:	दर्शन और हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय पूना–४११ ००७; प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अंमलनेर, जि. जलगांव (महाराष्ट्र)

मैं सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिक-तम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

सुरेंद्र बारलिंगे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के तत्त्वज्ञान एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११३० : में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

परामर्श (हिन्दी)

	संपादकीय
कमलनयन	गोएथे का इतिहास-दर्शन
यशदेव शल्य	धर्म-दर्शन
नारायणशास्त्री द्रविड	आत्मतत्वविवेक का क्षणभंगवाद प्रकरण
छाया शर्मा	ज्ञानसंबंधी पाश्चात्य मत : एक तुलनात्मक दृष्टि
अर्चना श्रीवास्तव	भारतीय काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में काव्यमूल्य की पहचान : आधुनिक समीक्षादृष्टि
बच्चूलाल अवस्थी	दार्शनिक कारिकाकार : नागार्जुन और भर्तृहरि
उमा पाण्डेय	भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद
छाया राय	नीतिशास्त्र में सुख का प्रत्यय
सुरेन्द्र बारलिंगे	धार्मिक विश्वासों की बुनावट
	प्रतिक्रियाएँ
	ग्रंथ समीक्षा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection